काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

महाकवि मतिराम

और

मध्यकालीन हिन्दी कविता

में

अलंकरण-वृत्ति

★

डा० त्रिभुवन सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०

★

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

प्रकाशक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
मानमन्दिर
वाराणसी १.

मूल्य : १०'००
प्रथम संस्करण, दीपावली सं० २०१७

मुद्रक
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग, वाराणसी १.

समर्पण

पूज्य पिता

श्री ठा० राजाराम सिंह जी

के

चरणों में सादर

—त्रिभुवन सिंह

प्रस्तुत समीक्षाग्रन्थ 'महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति' प्रकाशित करते हुए मुझे प्रसन्नता और गौरव का अनुभव हो रहा है। डॉ० त्रिभुवन सिंह हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ एवं प्रख्यात समालोचक हैं जिनकी सशक्त समीक्षाशैली से हिन्दी जगत पूर्ण परिचित हो चुका है। 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' और 'दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक' डॉ० सिंह की समीक्षा पर लिखी ऐसी पुस्तकें हैं जो पाठकों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय रही हैं। डॉ० त्रिभुवन सिंह की यह कृति शोध के आधार पर लिखी ऐसी रचना है जो समीक्षा का नवीन मार्ग इंगित करती है। महाकवि मतिराम के जीवन और काव्य के व्यापक विवेचन की बड़ी आवश्यकता थी जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा सम्पन्न कर लेखक ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

लेखक की अन्य कृतियों को जो समादर सहृदय पाठकों ने दिया है, उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उन्हें जिस प्रकार पुरस्कृत कर गौरवान्वित किया है तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों ने उच्च कक्षाओं में जो सहायक ग्रन्थ के रूप में उन्हें स्वीकार कर लेखक की नवीन समीक्षात्मक शैली के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है, उससे हमें पूर्ण आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का भी हमारे पाठक यथायोग्य स्वागत करेंगे। लेखक और अपनी ओर से हम सबके प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं।

—प्रकाशक

लेखक की कृतियाँ

१. रोदन (काव्य)

२. नये स्वर (काव्य)

३. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (समीक्षा)

४. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा (समीक्षा)

५. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (समीक्षा)

६. ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा (समीक्षा)

७. महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति (समीक्षा)

ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।

—मतिराम

दो शब्द

बहुत दिन हुए किसी पुस्तक में एक विख्यात विदेशी लेखक का एक वाक्य पढ़ा था, 'इन क्लेवरनेस पर-स्क्वायर इंच, नो लिटरेचर कैन सरपास संस्कृत लिटरेचर।'[1] वाक्य की शब्दावली ठीक यही थी, यह भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता, परन्तु जिस वाक्यांश के कारण यह बात स्मृति में इतने दिनों से बनी रही और जिसका ठीक-ठीक स्मरण है वह है 'क्लेवरनेस पर-स्क्वायर इंच'। यह वाक्य संस्कृत साहित्य की प्रशंसा में भी लिखा जा सकता है, परन्तु मैंने इसे जिस अर्थ में समझा था वह प्रशंसा की अपेक्षा व्यंग विद्रूप ही अधिक था। इस व्यंग का डंक प्रति वर्गइंच के नाप-तोल में है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में अलंकरण और चमत्कार की जो बाढ़-सी आ गई थी, विदेशी आलोचक ने उसी पर यह व्यंग किया था। परन्तु यह व्यंग चाहे जितना कटु हो, उसमें सत्य का अंश बिल्कुल नहीं है, ऐसी बात नहीं। बाणभट्ट के समय से संस्कृत काव्य में अलंकरण और चमत्कार की जो एक बाढ़-सी आई, वह नैषधकार के महाकाव्य में अपने चरम पर पहुँच गई थी और आगे बढ़कर यद्यपि भक्ति आन्दोलन के कारण उसका वेग कुछ कम अवश्य हुआ परन्तु मण्डन-शिल्प और चमत्कार की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक पूर्णतः बनी रही। रीतिकाल में तो चमत्कार-प्रदर्शन की एक होड़-सी लगी दिखाई पड़ती है जिसमें फारसी साहित्य की वक्रता ने कुछ अपनी रंगत भी डाल दी है।

अलंकरण और चमत्कार की इस होड़ाहोड़ी में हमारी दृष्टि अचानक एक ऐसे कवि पर जाकर ठहर जाती है जिसकी अलंकृति और चमत्कार ने स्वाभाविकता का पल्ला शायद ही कहीं छोड़ा हो। ऊहात्मक अत्युक्तियों जैसे—

> सुनत पथिक मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
> बिनु बूझै बिनु ही कहैं जियति बिचारी बाम॥

अथवा—

> चिबुक कूप रसरी अलक तिल सुचरस दृग बैल।
> बारी बैस सिंगार की सींचत मनमथ छैल॥

आदि रचनाओं के बीच उस कवि की सरस उक्तियाँ—

> कोऊ नहीं बरजै मतिराम रहौ तितही जितही मन भायो;
> काहे को सौहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।

---

1. 'In cleverness per-square inch, no literature can surpass samskrita literature'. प्रति वर्गइंच के चमत्कार में दूसरा कोई भी साहित्य संस्कृत साहित्य से आगे नहीं बढ़ सकता।

सोवन दीजै न दीजै हमैं दुख यों ही कहा रसबाद बढ़ायो;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो।
केलि कै रात अघाने नहीं दिनही में लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयो, भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई;
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही, सुगेह की देहरी पै धरि आई॥

ऐसी जान पड़ती हैं जैसे सील और ऊमस भरी कोठरी छोड़ हम किसी सुन्दर उद्यान-कुञ्ज में आ गये हैं। मतिराम रीतिकाल के ऐसे ही विशिष्ट महाकवि थे, जिनकी कविता में प्रभातकालीन वायु जैसी ताज़गी है और जो अनजाने ही मन में आनन्द की हिलोरें उठा देती हैं। फ़ारसी प्रभाव की वक्रता से विमुक्त इनकी रचना में जो अभिजात सौन्दर्य और सहज सरलता है, वह किस सहृदय को मुग्ध न कर लेगी।

परन्तु इस महाकवि की ओर हमारे स्वनामधन्य आलोचकों की दृष्टि बहुत ही कम गई। मिश्रबन्धु इस कवि की निसर्ग-सिद्ध रचना से आकृष्ट अवश्य हुए परन्तु इटावे के महाकवि देव ने उन्हें इतना विमुग्ध और अभिभूत कर लिया था कि मतिराम का जादू उन पर अधिक नहीं चढ़ सका, फिर मतिराम के भाई भूषण की वीर रस की रचनाओं से भी वे कम अभिभूत नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मतिराम को वे नवरत्नों में ऊँचा स्थान न दे सके। 'हिन्दी नवरत्न' के द्वितीय संस्करण में जब कबीर (जिन्हें प्रथम संस्करण में नवरत्नों में स्थान नहीं मिला था) को भी नवरत्नों में स्थान देना अनिवार्य-सा जान पड़ा तब प्रथम संस्करण के नवरत्नों में किसे पदच्युत् किया जाय, यह एक समस्या बन गई। सम्भवतः मिश्रबन्धुओं ने मतिराम को ही इस गौरवपूर्ण स्थान से हटाने की बात सोची थी कि अचानक उन्हें एक अनोखी बात सूझ गई—क्यों न मिश्रबन्धुओं की भाँति भूषण और मतिराम को भी त्रिपाठी-बन्धु के रूप में एक कर दिया जाय—और उन्होंने भूषण और मतिराम को एक कर भी दिया। इस प्रकार मतिराम नवरत्नों के बीच अपनी पगड़ी सलामत रख सकने में समर्थ तो हुए परन्तु उनका व्यक्तित्व और भी छिप गया।

मतिराम के व्यक्तित्व को ओझल करने में देव और बिहारी का विवाद भी कुछ कम सहायक नहीं हुआ। मिश्रबन्धुओं ने जो देव को सूर और तुलसी से भी ऊँचा स्थान दे दिया, हिन्दी साहित्य में उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी को शृङ्गार का सर्वश्रेष्ठ कवि प्रमाणित किया और लाला भगवानदीन ने केशवदास को हिन्दी के श्रेष्ठ कवि के रूप में आगे किया। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिश्रबन्धुओं का प्रतिवाद करने के लिये ही बिहारी की अतिरिक्त प्रशंसा कर देव को नीचे गिराने का प्रयास किया। देव और बिहारी के इस झगड़े में मतिराम पर लोगों की दृष्टि ही नहीं गई। एक बात और भी है। व्यंजना और वक्रोक्ति की चकाचौंध के अभ्यस्त पारखी मतिराम के सरल और सहज काव्य का सौन्दर्य परखने में असमर्थ रहे। यह हिन्दी का कुछ कम दुर्भाग्य नहीं था कि बहुत दिनों तक उसके बहुत से लाल, गुदड़ी में ही छिपे रहे।

मतिराम की ओर सबसे पहले दृष्टि पड़ी स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र की। मिश्र जी देव के प्रशंसक थे और 'देव और बिहारी' ग्रन्थ लिखकर उन्होंने बिहारी के ऊपर देव की श्रेष्ठता प्रमाणित की थी। परन्तु इस झगड़े में पड़कर भी उन्होंने मतिराम की उपेक्षा नहीं की और 'मतिराम ग्रन्थावली' का सम्पादन कर कवि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। परन्तु मतिराम की ओर फिर भी पाठकों और आलोचकों की रुचि नहीं फिरी, कारण था युग का प्रभाव। साहित्य को समाज के अत्यन्त निकट लाने का आग्रह ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, रीतिकालीन कवियों के प्रति उपेक्षा भी, उसी मात्रा में बढ़ती गई; क्योंकि रीतिकालीन कविता में समाज का चित्र था ही नहीं और यदि किसी समाज का प्रतिबिम्ब उसमें था भी तो उस समाज के प्रति लोगों की रुचि ही नहीं रह गई थी। परन्तु जब से विश्वविद्यालयों में हिन्दी शोधकार्य की प्रगति होने लगी, अध्येताओं की दृष्टि एक बार फिर रीतिकाल और उसके उपेक्षित कवियों पर पड़ी। देव, केशव, घनानन्द, दास, बिहारी और मतिराम पर शोध-प्रबन्ध लिखे जाने लगे। प्रस्तुत प्रयास भी उसी शृंखला की एक कड़ी है, जिसमें लेखक डा० त्रिभुवन सिंह ने मध्यकालीन समाज और संस्कृति के परिवेश में मतिराम के काव्य को परखने का प्रयत्न किया है। रत्नाकर त्रिपाठी के इस यशस्वी पुत्ररत्न का कोष अमूल्य रत्नों से भरा है, उसके उद्घाटन करने का यह प्रयास पाठकों को रुचिकर होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

दुर्गाकुंड, वाराणसी
अक्षय नवमी, सं० २०१७।

श्रीकृष्ण लाल

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता को दृष्टि में रखते हुए महाकवि मतिराम के जीवन और काव्य का विशद एवं शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकालीन हिन्दी कविता को आधार मानकर हिन्दी में कुछ शोध प्रबन्ध और ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जैसे 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास', 'रीति काव्य की भूमिका', 'हिन्दी अलंकार साहित्य', 'रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन', 'आचार्य केशवदास', 'ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद', 'रीतिसाहित्य' तथा 'बिहारी' आदि; जिनमें अधिकांश केवल शास्त्रीय अध्ययन को आधार मानकर ही लिखे गये हैं। सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी काव्य-परम्परा पर विचार बहुत कम ही हुआ है और इस दृष्टि से जो ग्रन्थ लिखे भी गए हैं, उनमें कवि विशेष को ही सामने रखकर विवेचना प्रस्तुत की गई है। मैंने सम्पूर्ण मध्यकालीन अलंकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखते हुए मतिराम का विशेष रूप से इस ग्रन्थ में अध्ययन किया है। मध्यकालीन हिन्दी के अलंकृत काव्य-परम्परा के अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्यों, गीत और मुक्तकों में अलंकरण की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने तथा तत्कालीन दरबारी सभ्यता के पड़ने वाले प्रभावों को दिखलाने के लिये आवश्यक समझ कर मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के महाकाव्य, मुक्तक, नाटक तथा आख्यायिका आदि साहित्य-रूपों के माध्यम से प्रकट होनेवाली अलंकरण की प्रवृत्ति का भी सम्यक् विवेचन इस ग्रन्थ में कर दिया गया है। इस प्रकार आरम्भ के दो अध्यायों से स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार संस्कृत की अलंकृत कविताओं तथा काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी कविता पर पड़ा है।

ग्रन्थ के शेष अध्यायों में मतिराम के जीवन तथा उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उत्तर मध्यकालीन हिन्दी कवियों में मतिराम का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और उनकी जैसी सरस एवं स्वाभाविक अलंकृत कविता लिखने वालों में देव पद्माकर जैसे एक दो कवियों का ही नाम लिया जा सकता है। स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ उन्हें आचार्यत्व का भी वरदान मिला था, किन्तु इतना सब होते हुए भी हिन्दी के लेखकों की दृष्टि उनकी ओर बहुत कम गई है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने मतिराम और उनकी कविताओं का उल्लेख अपने इतिहास में किया है, पर इन्हें छोड़कर हिन्दी में एक भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसे मतिराम के सम्बन्ध में लिखी महत्त्व-पूर्ण पुस्तक मानी जा सके। इनकी कविताओं की विशिष्टताओं की ओर लोग आकृष्ट अवश्य रहे हैं जिससे समय-समय पर इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसराज' और 'ललितललाम' पर टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें प्रताप साहि कृत 'रसराज तिलक', कवि हरिदान जी कृत रसराज की

टीका 'मनोहर प्रकाश' तथा गुलाब कृत 'ललितललाम की ललित कौमुदी' टीकाएँ प्रमुख हैं। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण और प्रथम समीक्षात्मक कार्य पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने ही किया, इसे स्वीकार करना होगा। 'मतिराम ग्रन्थावली' का सम्पादन करके जो उन्होंने एक विस्तृत भूमिका लिखी उससे मतिराम के जीवन-परिचय तथा सम्पूर्ण काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश पड़ जाता है, जिसका अपना एक महत्व है। मतिराम के संबंध में जितनी ऐतिहासिक तथा काव्यगत सूचनाएँ पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र ने दी हैं, मुझे उससे अधिक कोई विशिष्ट सामग्री तो नहीं मिल सकी है, किन्तु उन्हें मैंने नये ढङ्ग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमें नवीनता आ गई है।

जितनी भी पुस्तकें मतिराम के सम्बन्ध में मिलती हैं, उन्हें देखने से लगता है कि कभी भी मतिराम का सम्पूर्ण अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो सका था। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के तत्वावधान में जो प्राचीन हिन्दी पुस्तकों के खोज का कार्य होता है, उसके द्वारा बहुत सी ऐसी नवीन सामग्री उपलब्ध हो गई हैं जिसके प्रकाश में मति-राम के विस्तृत अध्ययन की नितान्त आवश्यकता थी। मैंने प्राचीन और नवीन सभी सामग्रियों को सम्मुख रखते हुए तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। मतिराम के जीवन तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हिन्दी संसार में उत्पन्न हो गई थीं जिससे उनकी कविताओं का वास्तविक मूल्यांकन अत्यन्त कठिन हो गया था। मैंने प्रबन्ध के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों को सामने लाकर उन भ्रान्तियों का केवल निराकरण ही नहीं किया है, बल्कि उनके जीवन तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में तर्कपूर्ण निर्णय देने का भी प्रयत्न किया है। ऐसा करने में अनुमान का सहारा अधिक अवश्य लेना पड़ा है किन्तु मेरा अनुमान तथ्यों के आधार पर ही खड़ा हुआ है।

इस ग्रन्थ में यदि मैं कुछ नवीनता ला सका हूँ तो उसका सर्वाधिक श्रेय श्रद्धेय गुरुवर डा० श्रीकृष्ण लाल को ही है। डाक्टर साहब ने अपने अमूल्य निर्देशन द्वारा मेरे इस कार्य को आगे बढ़ाया ही, साथही उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्यन्त पढ़कर परिष्कृत भी किया है जिसके लिये आभार प्रकट करना उनके महत्व को घटाना ही है। महाकवि मतिराम पर कार्य करने की प्रेरणा मुझे गुरुवर डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी से मिली थी और उन्होंने ही मुझे प्रस्तुत विषय सुझाया था। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मुझे इतने लोगों से उपकृत होना पड़ा है कि जिनका उल्लेख मात्र एक स्वयं स्वतन्त्र विषय है। उन सभी लोगों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे सहायता पहुँचाई है। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के व्यवस्थापक भाई श्रीकृष्णचन्द्र जी बेरी के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनकी तत्परता के कारण ही प्रकाशित रूप में यह पुस्तक पाठकों के पास आ रही है। सदैव मेरे प्रति बेरीजी बन्धुवत् प्रेम रखते रहे हैं।

उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी रचनाओं से ज्ञात-अज्ञात रूप में मुझे सहायता मिली है।

पुस्तक का प्रकाशन इतने कम समय में हुआ है कि जिससे कहीं-कहीं छापेखाने की अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। प्रूफ देखना भी एक कला है, इसका अनुभव मुझे उस समय हुआ जब मेरी ही असावधानी के कारण पुस्तक में कुछ ऐसी गलतियाँ छूट गयीं जिन्हें नहीं छूटना चाहिये था।

सहृदय पाठकों से निवेदन है कि वे ऐसी त्रुटियों को सुधार लें। विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी सुझाव मुझे मिलेंगे उसका कृतज्ञतापूर्वक उपयोग तो अगले संस्करण में मैं करूँगा ही साथ ही साथ सुझाव के रूप में की गयी उनकी महती कृपा के लिये चिरऋणी भी रहूँगा।

खानजहाँपुर (आज़मगढ़)
दीपावली
सं० २०१७

त्रिभुवन सिंह
दि० १९–१०–६० ई०

अनुक्रम

महाकवि मतिराम

और

मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति

प्रथम अध्याय

अलंकृत काव्य के मूल तत्त्व और परिवेश

काव्य शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसके भीतर साहित्य के सभी प्रकार सिमिट कर आ जाते हैं। यहाँ काव्य से तात्पर्य मुख्यतः कविता से है, जो किसी भी साहित्य का प्रमुख अंग हुआ करती है। आधुनिक युग में मानव जीवन की समस्यायें इतनी विषम हो गई हैं, उनमें इतनी विविधता आ गई है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण साहित्य के आज विविध रूप दिखलाई पड़ने लग गये हैं। किसी भी देश के साहित्य का आरम्भ प्रायः कविता से ही मिलता है और आज भी अनेक साहित्य-रूपों के होते हुए भी साहित्य नाम से हम सहसा कविता का ही अर्थ लगा लेते हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ का जीवंत इतिहास होता है। मानव विचारों एवं अनुभूतियों की निधि साहित्य के माध्यम से ही संचित रह पाती है। साहित्य और समाज एक दूसरे का सहारा छोड़कर अधिक समय तक नहीं चल सकते। कविता साहित्य का प्रमुख अंग है और सामाजिक मनोवृत्तियों तथा प्रभावों की सशक्त अभिव्यक्ति करने की उसमें क्षमता भी है। साथ ही उसकी कुछ स्वाभाविक दुर्बलतायें भी हैं, जिसके कारण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानव समस्याओं को आज कविता व्यक्त करने में असफल प्रमाणित हो रही है। आधुनिक युग में समर्थ गद्य-साहित्य के होते हुए भी जो कविता का महत्व अक्षुण्ण है, उसके मूल में उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके रमाने और समस्त जीवन को अभिभूत कर देने की शक्ति है।

भारतीय काव्य का उदय उस युग में हुआ जिस समय त्याग और तपस्या को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। आधुनिक युग में जिसकी कल्पना भी कठिन है। "आधुनिक सभ्यता-लक्ष्मी जिस कमल पर विराज रही है, वह ईंट और लकड़ी से बना है, वह है नगर और शहर। उन्नति का सूर्य जैसे-जैसे मध्य आकाश में आ रहा है वैसे-वैसे शहररूपी कमल के दल खिल-खिलकर क्रमशः चारों तरफ व्याप्त हुए जा रहे हैं। बेचारी वसुंधरा इस बढ़ते हुए सुर्खी-चूने के गारे को रोकने में असमर्थ हो रही है[1]।" किन्तु वह प्राचीन सभ्यता इन आधुनिक उपकरणों से नितांत मुक्त प्रकृति की गोद में विराज रही थी। ऐसी स्थिति में लौकिक जीवन के आकर्षक तत्वों की अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य के द्वारा असंभव ही थी। त्याग और तपस्यामय जीवन पर बल देनेवाले भारतवर्ष के सिद्ध ब्राह्मण ही थे जिनका भारतीय समाज पर धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टियों से एक छत्र राज्य था, वे अपनी रुचि और संस्कार के अनुरूप उसका संचालन करते थे।

---

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'रवीन्द्र साहित्य', सातवाँ भाग, अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० १११।

त्याग-तपस्या-प्रधान अथवा ब्राह्मण-संस्कृति के अनन्य भक्त क्षत्रिय जिन्हें देश के शासक होने का सौभाग्य प्राप्त था, अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति के साथ ब्राह्मण-संस्कृति द्वारा प्रतिपादित नियमों का स्वयं पालन करते हुए राज्य की समस्त प्रजा का पालन करते थे। इन शासकों की स्थिति पूर्णतः नियंत्रित थी, वास्तविक शासन राजा का नहीं बल्कि तत्कालीन संस्कृति के कर्णधारों का था। "भारतवर्ष में जब ब्राह्मणों की प्रभुता थी, हमारे काव्यकार वाल्मीकि और व्यास हमारे शास्त्रकार और दार्शनिक गौतम, कपिल, कणादि, वैयाकरण पाणिनि और अलंकार शास्त्र के रचयिता भरत सभी ऋषि थे। स्वयं राजा जनक भी एक ऋषि थे।"[१] कोई भी व्यक्ति जाति से ब्राह्मण न होकर कर्म अथवा स्वभाव से ब्राह्मण हो सकता है। विश्वामित्र ऐसे ही ब्राह्मण थे। त्याग, तपस्या के संमुख लौकिक तत्वों को अत्यंत तुच्छ माना जाता था और लोगों को सत्काव्य अथवा साहित्य के माध्यम से उनसे छुटकारा पाने का उपदेश दिया जाता था। उस समय का समाज असत् की अपेक्षा सत् तथा आसक्ति की अपेक्षा विरक्ति की ओर अधिक देखता था। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि मानव के प्राकृतिक गुण-धर्म समाप्त हो गये थे अथवा उनके विकास के लिये अवसर ही नहीं मिलता था। किन्तु इतना अवश्य था कि बाह्य सांसारिक आकर्षणों को अत्यन्त तुच्छ दृष्टि से देखा जाता था।

इस निवृत्ति मूलक संस्कृति में पले समाज की अभिव्यक्ति जिस साहित्य में हुई, उसमें त्याग-तपस्या तथा धर्म को महत्वपूर्ण स्थान मिलना आवश्यक था। ब्राह्मण-संस्कृति को यदि तपोवन की संस्कृति कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि इस काल में प्रकृति के अत्यन्त निकट लाकर जीवन को देखने पर बल दिया जा रहा था। "इस तरह वनवासियों की साधना से भारतवर्ष ने सभ्यता की जो 'प्रेति' (एनर्जी) संचालन शक्ति प्राप्त की थी, शायद वह बाहर के संघात से नहीं हुई, नाना प्रयोजनों के होड़ से नहीं जगी। इसलिये वह शक्ति प्रधानतः बहिर्मुखी नहीं हुई। उसने ध्यान के द्वारा विश्व की गम्भीरता में प्रवेश किया है। निखिल के साथ आत्मा का संबंध स्थापित किया है। यही कारण है कि भारतवर्ष ने मुख्यतः ऐश्वर्य के उपकरणों के द्वारा ही अपनी सभ्यता का परिचय नहीं दिया। इस सभ्यता के जो कर्णधार थे वे निर्जनवासी थे, और कम से कम आवश्यकतायें रखने वाले तपस्वी थे।"[२] और इन तपोवन-वासी तपस्वियों को अपना आदर्श पुरुष मानकर राजाओं और महाराजाओं ने भी गौरव अनुभव किया है। भारतवर्ष के पुराण कथाओं में जो कुछ महत्, आश्चर्यकारी और पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ एवं पूज्य है, वह सबका सब इसी तपोवन अथवा ब्राह्मण संस्कृति की देन है। इसमें निवृत्ति मार्गी भावनाओं की प्रधानता तो रही किन्तु प्रवृत्तिमार्गी भावनाओं की नितान्त उपेक्षा नहीं थी बल्कि सत् ज्ञान को प्राप्त करने के रहस्य को प्रकृति में ही ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाता था। पर बौद्ध धर्म तो पूर्णतः निवृत्तिमूलक था यद्यपि उसका जन्म ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ था। जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण

---

१. डा० श्री कृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', द्वि० सं०, पृ० ७।

२. रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'रवीन्द्र साहित्य' सातवाँ भाग, अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० ११२।

संस्कृति के द्वितीय उत्थान में प्रवृत्तिमूलक भावनाओं को भी स्थान पहले की अपेक्षा अधिक मिलने लगा और राजन्य संस्कृति अथवा क्षत्रिय संस्कृति प्रस्तुत हो गई जो पूर्णतः प्रवृत्ति-मूलक थी।

ब्राह्मण संस्कृति की निवृत्तिमूलक भावनायें क्षत्रिय संस्कृति में उतनी ही गौण हो गई जितनी कि उसमें प्रवृत्तिमूलक भावनायें थीं। ब्राह्मणकालीन संस्कृति में लिखे गये आदि-काव्य रामायण तथा महाभारत में जिन प्रवृत्तिमूलक वृत्तियों का सूत्र भर ही मिलता है उनका क्षत्रिय संस्कृति में पूर्ण विकास हुआ। अपनी ही कतिपय दुर्बलताओं के कारण ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव भारतीय समाज पर से क्षीण होने लगा और उसका स्थान पूर्णतः क्षत्रिय संस्कृति ने ले लिया।

क्षत्रिय संस्कृति के उदय से मानव के दैनिक जीवन में भौतिक सुखों को महत्वपूर्ण स्थान मिलना आरम्भ हुआ। भोग-विलास तथा आनन्द के बढ़ते हुये महत्व ने स्वभावतः राजाओं और सामन्तों के सुखमय जीवन को साधारण समाज के लिए ईर्ष्या की वस्तु बना दिया। ये राजे और सामन्त जो मुख्यतः क्षत्रिय होते थे अब आश्रमों में रहने वाले ऋषियों के शासन से बहुत कुछ स्वतंत्र हो चुके थे और अपने वैभवपूर्ण जीवन का प्रकाश कुटियों पर डालकर आध्यात्मिक तत्वों की खोज में लीन निवृत्तिमार्गी साधु-सन्तों को भी आकर्षित करने लग गये थे। इस समय का नागरिक इतना बदल गया था कि उसका सारा का सारा जीवन भोग-विलास की वस्तुओं को जुटाने में तथा उसके उपभोग में ही बीतने लगा। भोजन करने के पूर्व से लेकर सोने के बाद तक राजाओं तथा सामन्तों के सभी कार्यक्रम निश्चित रहते थे जिसके अनुसार वे विलासी जीवन का सुख लूटते थे। **"नागरिक सोकर उठने के बाद गोष्ठी विहार के लिये प्रसाधन करता था। अंगराग, उपलेपन, माल्यगंध, उत्तरीय संभाल कर वह गोष्ठियों में जाता था। गोष्ठियों से लौटने के बाद वह सांध्य कृत्यों से निवृत्त होता था और सायंकाल से गीतानुष्ठानों का आयो-जन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीत का रस लेने जाता था। इन संगीतकों में नाच, गान, अभिनय आदि हुआ करते थे।"**[1] इन समाजों से लौटकर भी नागरिक कुछ न कुछ मनोविनोदों में लगा रहता था। इस प्रकार प्रातःकाल से संध्या तक एक कलापूर्ण विलासिता का वातावरण उपस्थित रहता था जिसमें तत्कालीन समाज अपने **"धन का सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धनराशि के उपयोग में अपने साथ एक बड़े भारी जन-समुदाय की जीविका की भी व्यवस्था करता था। वह काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि की रचनाओं को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और वाटिका का तो वह आश्रयदाता ही था। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थों के भोगने में सुरुचि का परिचय देता था और विलासिता में आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्म से एकदम उदासीन नहीं रहता था।"**[2] किन्तु अध्यात्म तथा धर्म की अपेक्षा भोग-विलास को वह जीवन में महत्वपूर्ण

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'प्राचीन भारत का कला-विलास', प्र० सं०, पृ० १४।
२. वही, पृ० १४।

समझता था। वात्स्यायन का कामसूत्र इसका प्रमाण है कि सामाजिक मर्यादाओं ने इस विलासी जीवन को अपने में पूर्णतः अन्तर्भुक्त कर लिया था क्योंकि आनन्द तथा विलास-क्रिया की सारी गतिविधि का संचालन कामसूत्र में उद्धृत नियमों के अनुसार ही होता था।

नगर और राजदरबार धीरे-धीरे विद्या और कला के केन्द्र बन गये जहाँ विद्वानों और कलाकारों का जमघट-सा लग गया। आगे चलकर "मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने पर क्षत्रियों की प्रभुता बढ़ने लगी और साथ ही साथ भोग-विलास और विभव-अभिमान की भी लिप्सा बढ़ चली और इसकी पूर्ति के लिए अनेक कलाओं और विज्ञानों का आविर्भाव और विकास हुआ। सम्राट के वैभव और अभिमान निर्धन की कुटिया में कैसे समा सकते थे? उनके लिये प्रासादों का निर्माण हुआ। कलाकारों ने सम्राट के लिए आभूषण बनाये, कवियों ने उनके वैभव का गान गाया, गवैयों और नर्तकों ने उनका मन बहलाया। काव्य-कला में एक महान् परिवर्तन हुआ। ऋषियों के स्थान पर राज सभासदों ने कवि और दार्शनिक का उच्च आसन ग्रहण किया। वाल्मीकि और व्यास का स्थान कालिदास और बाण, चंद और नरपतिनाल्ह, बिहारी और पद्माकर ने लिया। काव्य की नैसर्गिक अनुष्टुप् धारा के स्थान पर कलापूर्ण महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक इत्यादि की रचनायें होने लगीं। जिसमें आर्य सभ्यता के स्थान पर आर्य सम्राटों के वैभव गाये गये।[१]" महाकवि कालिदास की रचनाओं के पूर्व ही संस्कृत काव्यों पर क्षत्रिय संस्कृति से ओतप्रोत विलासी एवं वैभवपूर्ण राजदरबारी समाज का प्रभाव लक्षित होने लग जाता है किन्तु कालिदास और उनके बाद की रचनाओं में तो वे अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ ही साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ इसमें सन्देह नहीं। "संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महिपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्ष-वर्धन के बिना बाणभट्ट का।"[२] राजाओं की कलाप्रियता के कारण कवियों का दरबारों में अपूर्व संमान था और राजागण उनकी अभ्यर्थना करने में कुछ भी उठा नहीं रखते थे। सम्मानित कविगण अधिक से अधिक आदर एवं धन प्राप्ति की कामना से जी खोलकर राजाओं एवं उनके द्वारा अर्जित विलास सामग्रियों की भरपूर प्रशंसा करते थे। राजाश्रय में ही कविजनों की अलंकृत वाणी को फूटने का अवसर मिल सकता था, क्योंकि उनकी रंगशाला में ही कविजनों की नाट्य-कला एवं वाणी विदग्धता अपना रमणीय प्रदर्शन कर सकती थी। राजाओं के दरबार कला, कौशल, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे जहाँ कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा को पनपने का पूर्ण अवसर दरबारों में पाये जाने वाले कला के समस्त उपकरणों के

---

१. डा० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', तृ० सं०, पृ० ७-८।

२. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' चतुर्थ संस्करण, पृ० ११५।

माध्यम से सुलभ थे। लक्ष्मी एवं सरस्वती का जो अभूतपूर्व सम्मिलन क्षत्रिय संस्कृति के माध्यम से हुआ उसने काव्यों में प्रवृत्तिमूलक भावना को उकसा कर अत्यन्त मनोरम अलंकृत काव्यों की परम्परा की नींव देकर उसे आगे बढ़ाया। जिसके नायक भी प्रायः महीपाल आदि ही होते थे। इस प्रकार राजसी वातावरण में अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त अलंकृत, सुश्लिष्ट तथा प्रभावशाली बनकर हमारे सामने आया।

इस क्षत्रिय संस्कृति की प्रवृत्तिमार्गी प्रेरणा से मंडन और अलंकरण की वृत्ति फूट निकली। इस वृत्ति का उद्गम राजन्य वर्ग की अन्तश्चेतना से था जिसने उसके सम्पूर्ण जीवन और परिवेश को अभिभूत कर दिया। बड़े-बड़े प्रभावशाली राज्यों के स्थापित हो जाने के कारण ही कलाओं को प्रत्येक दिशा में विकसित होने का अवसर मिला है। 'वात्स्यायन' ने अपने 'कामसूत्र' में जिन चौसठ कलाओं का वर्णन किया है वे सभी क्षत्रिय संस्कृति की मंडन-प्रवृत्ति की देन हैं। संगीत, चित्र, नृत्य, मूर्ति तथा काव्य आदि सभी कलाओं में इन मंडन-प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा क्योंकि राजदरबारों के ये शोभाकारक प्रधान तत्व थे जिनकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था भी राजाओं की ओर से की जाती थी। गाना-बजाना, सुन्दर चित्र बनाना, पत्र आदि पर अक्षर आदि बनाना, फूलों के गजरे बनाना, फूलों के गुलदस्ते बनाना, असली-नकली रत्नों की परख करना, उत्तम सीना, रंगों का बनाना और रंगना, तीतर तथा मेढ़ें आदि लड़ाना आदि कलाओं का तत्कालीन राजसी वातावरण में अत्यधिक सम्मान बढ़ गया था। लोग घर में पाले हुए पक्षियों के पंख तक कलात्मक ढंग से रंगते थे, घोड़ों के केश और पूँछ के बाल तथा हाथियों के मस्तक बड़ी ही कलात्मकता के साथ रंगे जाते थे। स्त्रियाँ अपनी हथेलियाँ अनेक टेढ़ी-मेढ़ी रंगीन रेखाओं से सजातीं और पुरुष अपने मस्तक चन्दनादि पवित्र रंगों से सुरुचिपूर्ण ढंग से रंगते थे। मांगलिक अवसरों पर चौक आदि पूरने (बनाने) की जोरदार तैयारी की जाती थी जिसका भार कुशल कलाविद पर ही छोड़ा जाता था। दीवारों तथा दरवाजों पर नाना प्रकार के चित्र जो आज भी विवाहादि अवसरों पर बनाये जाते हैं वे भी उसी काल की मनोरम स्मृतियाँ हैं।

भुवनेश्वरम् की कलात्मक मूर्तियाँ, नृत्य तथा संगीत की दिशा में हुई अपूर्व कलात्मक वृद्धि, चित्रकारिता तथा काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति आदि सभी उसी सामाजिक मनोवृत्ति एवं वातावरण की देन हैं, जिसे क्षत्रिय संस्कृति ने उत्पन्न किया था। कलाओं का प्रधान कार्य सामाजिक प्रवृत्ति को प्रकट करके उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को आनन्दित करना है चाहे वे संगीत तथा नृत्य कलायें हों; चित्र तथा मूर्ति कलायें हों अथवा काव्य-कला हो और हम देखते हैं कि इन सभी कलाओं पर तत्कालीन वातावरण का प्रभाव पड़ा है।

राजसी वातावरण नागरिक-जीवन और क्षत्रिय-संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त कर लिखा हुआ "संस्कृत का काव्य साहित्य एक ऐसी रमणीक और मन लुभाने वाली वाटिका है जिसमें काव्य रस लोलुप भ्रमर हर तरह के रस का स्वाद लेता हुआ विहार कर सकता है। कालिदास, भवभूति, भारवि, बाण, दण्डी, श्री हर्ष इत्यादि कवियों के काव्य इस वाटिका की अनेक सुन्दर-सुन्दर क्यारियाँ हैं। इन क्यारियों में श्री हर्ष कृत नैषध-चरित्र एक ऐसी क्यारी है जिसके फूलों की मीठी और तीखी सुवास

काव्य-रस वासना-विदग्ध पाठकों को अपनी ओर अनायास आकर्षित कर लेती है।[१]" काव्य की इस परम्परा का अजस्र स्रोत उस काल तक प्रवाहित होता रहा जिस काल तक देश की राजसत्ता क्षत्रियों अथवा हिन्दू राजाओं के हाथ में थी। भारतीय राज्यों के नष्ट हो जाने तथा विदेशियों के आगमन के कारण देश की समस्याओं में परिवर्तन आया जिससे कुछ काल के लिये अलंकृत काव्य की धारा मंद पड़ गयी क्योंकि साहित्य तथा समाज के सामने अनेक नये प्रश्न सुलझाने के लिये उपस्थित थे।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास की माँग ने जिस क्षत्रिय-संस्कृति और दरबारी सभ्यता को जन्म दिया उसने अपनी कलाप्रियता तथा अलंकारप्रियता के कारण भारतीय समाज को सभी दृष्टियों से प्रभावित किया। कला एवं मनोरंजन के क्षेत्र में मुख्यतः स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, और काव्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है और इन महत्वपूर्ण कलात्मक तत्वों की अभूतपूर्व उन्नति इन राजदरबारों के कारण हुई। काव्यकला अपना प्रभाव सभी श्रेष्ठ कलाओं से ग्रहण करती है जिससे काव्यकला पर अनजाने ही चित्र, मूर्ति एवं संगीतकला का प्रभाव पड़ता रहता है, क्योंकि सभी अपने ढंग से अपनी सीमाओं एवं शक्ति के बीच तत्कालीन संस्कृति, सभ्यता एवं सामाजिक मनोवृत्तियों को ही व्यक्त करती हैं। भारतीय समाज के अन्दर जैसे-जैसे मंडन कला के प्रति आकर्षण बढ़ता गया तथा जैसे-जैसे उसमें निखार एवं कलात्मकता आती गई वैसे-वैसे उसका प्रभाव चित्रकला, मूर्तिकला एवं संगीतकला पर पड़ता गया और सबका सम्यक् प्रभाव काव्यकला पर भी पड़ा।

कला का उद्देश्य और जो कुछ भी हो उसका प्रधान उद्देश्य आनन्द अवश्य है। आनन्द का कोई स्वरूप नहीं होता और न तो उसके विकास को हम अपनी आँखों से देख सकते हैं। इसका सम्बन्ध मानव-मन की अन्तर्वृत्तियों से अधिक है। अलंकरण एवं मंडन एक अंतःप्रवृत्ति भी है न कि केवल बाह्य चमत्कार। क्षत्रिय संस्कृति के माध्यम से सामाजिक आचार-विचार, एवं रहन-सहन में जिस प्रकार अलंकरण की प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला उसी प्रकार विभिन्न कलारूपों पर भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा।

चित्रकला में अलंकरण की प्रवृत्ति

सामंती जीवन तथा विलासप्रिय समुदाय में चित्रकला भी मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के साधनों में से एक है। राज-दरबारों में इस कला को और भी महत्व दिया गया। राजा स्वयं अपने अनेक दैनिक कार्यक्रमों से समय निकाल कर चित्रकला का अभ्यास करते थे। धार्मिक चित्रों को चित्रित करते समय भी उन्हें यथोचित सजाने का प्रयत्न किया जाता था। तरह-तरह के रंगों को प्रयोग में लाकर चित्रों के अंग-प्रत्यंग को भलीभाँति अलंकृत किया जाने लगा। पूर्व में जो भावचित्र अथवा रेखाचित्र अधिकता के साथ चित्रित किये जाते थे उन्हें भी बाहरी साज-सज्जा प्रदान की गई। नायक-नायिकाओं का एक दूसरे का विभिन्न भाव-भंगिमाओं अथवा मुद्राओं में रंगीन चित्र उतारना तो उनका दैनिक जीवन ही था।

---

१. सरस्वती पत्रिका, अक्टूबर १९१५, भाग १६, खंड २।

प्रेम-पत्रों में चित्रों का चित्रित करना तथा उसके अक्षरों को कलात्मकता के साथ छोटा-बड़ा लिखना तो साधारण सी बात थी, साधारण से साधारण पत्रों के भी किनारे रंग जाते थे। शासन-कार्य में प्रयुक्त होने वाले आदेश-पत्रों तक के किनारों को अनेक प्रकार की डिजाइनों अथवा छोटे-छोटे चित्रों से सजाया जाता था।

दैनिक जीवन में प्रयोग की वस्तुओं को भी सुन्दर चित्रों से सजाया जाता था। मंगल कलश को पूर्ण रूपेण रंगीन एवं चित्रित करने की आज भी प्रथा देश के अनेक भागों में वर्तमान है, जो इसी क्षत्रिय-संस्कृति के अलंकरण प्रवृत्ति की देन है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि नागरिक घरों की दीवालों, दरवाजों तथा प्रयोग में आनेवाली सभी वस्तुओं को पूर्णतः सजाकर रखते थे, जिनके शृंगार के साधन मुख्यतः रंगीन चित्रकारिता ही होती थी। यहाँ तक कि लोग हथेलियों और भुजाओं को भी सुन्दर चित्रों से सजाकर रखते थे। मस्तक पर लगाने वाला चन्दन और तिलक भी चित्रकारिता का सुन्दर नमूना ही होता था। गुप्तकाल में क्षत्रिय-संस्कृति का पूर्ण विकास हो रहा था जिससे हमें उस काल के चित्रों में उपरोक्त अलंकरण प्रवृत्ति के पूर्णतः दर्शन होते हैं। उस काल के अधिकांश सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रण जानते थे, उनके शयनागार चित्रित होते थे। उस काल के सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनपर उनकी मूर्तियों का तथा उनकी जीवन की घटनाओं और उनके आराध्य देवताओं का बड़ा जीवन्त तथा कला-पूर्ण अंकन मिलता है। इनसे बढ़कर भारतीय सिक्के यदि किसी काल के मिलते हैं तो थोड़े बहुत अकबर और जहाँगीर के अलंकृत सिक्के ही।

मूर्तिकला में अलंकरण की प्रवृत्ति

अलंकरण की जिस प्रवृत्ति ने चित्रकला की स्वाभाविकता को अलंकारों के बोझ से लाद दिया, उसीने भारतीय मूर्तिकला को भी अत्यन्त अलंकृत स्वरूप दिया है। जिसके परिणाम स्वरूप गुफाओं, पर्वत की शिलाओं, स्मारकों तथा धर्म-स्तूपों को लोगों ने काट-छाँट कर जड़ से चेतन बना दिया है। आज भी विश्व के समक्ष जो हमारी सभ्यता को प्राचीनतम होने का गर्व है उसकी साक्षी अजंता और एलोरा में मिली मूर्तियाँ अपनी मूक भाषा में दे रही हैं। प्राचीन मूर्तियों तथा शिलापट्टों पर खुदी कलाकृतियों को भारत के प्राचीन गौरवमय इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय प्राप्त है। जिनके कागज जीर्ण होकर न तो फट पाये हैं और न तो इनकी स्याही की चमक ही मन्द पड़ी है। ऊँची-नीची और ऊबड़-खाबड़ रेखाओं में भारतीय इतिहास अक्षुण्ण है।

राजसी वातावरण की प्रवृत्तिमूलक भावना के कारण जो बाह्याकर्षण के तत्वों पर अधिक बल दिया जाने लगा उसका समुचित प्रभाव मूर्तिकला पर भी पड़ा है। शारीरिक शृंगार के क्षेत्र में वस्त्राभूषणों के बढ़ते हुए महत्व का प्रतिबिम्ब तत्कालीन मूर्तियों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। आरम्भिक युग की सीधी-सपाट एवं भद्दी मूर्तियों में पूर्ण निखार लाने का लोगों ने प्रयत्न किया। पत्थरों को काटकर जो केवल मानव आकृति का संकेत भर करा दिया जाता था उनमें उसके बाह्य अलंकारों को भी लाने का प्रयत्न किया जाने लगा। कानों तथा भुजाओं आदि में पतली-मोटी रेखाओं के माध्यम से पहने जाने वाले आभूषणों को भी दिखलाने का प्रयत्न किया जाने लगा। जिस प्रकार पत्रों आदि को डिजाइनों तथा चित्रों

से सजाते थे उसी प्रकार शिलालेखों के पत्थरों को भी छोटी-छोटी मूर्तियों की कतारों से सजाते थे। पत्थर की दीवालों तथा स्तूपों आदि को अनेक प्रकार से सजाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

संगीत कला में अलंकरण की प्रवृत्ति

संगीत के माध्यम से मानव मन की स्वच्छन्द वृत्तियों को सदैव अभिव्यक्ति मिलती रही है। खेत-खलिहानों से लेकर राज-प्रसादों तक जन-जन के कण्ठों की शोभा बढ़ाने का गौरव इसे प्राप्त है। किन्तु राजन्य-संस्कृति में आकर जब संगीत को ललितकलाओं में प्रमुख स्थान दे दिया गया तो उसकी स्वच्छन्द गति एवं स्वाभाविकता में महान परिवर्तन उपस्थित हुआ। स्वर-साधकों ने उसे अनेक रागिनियों में उतारा तथा वादकों ने उसके लिये अनेक 'तालों' की व्यवस्था की। परिणामस्वरूप गीतों की भाव-प्रवणता से अधिक उसके गायक की कलात्मकता को महत्व दिया जाने लगा। एक गीत अथवा उसकी एक पंक्ति को विभिन्न स्वर एवं सरगमों पर तो साधा ही गया उसमें कलात्मकता लाने तथा उसके चढ़ाव-उतार को प्रकट करने के लिये अधिकाधिक समय तक गाते रहने की कला को भी अत्यन्त महत्व दिया जाने लगा।

राजदरबारों में संगीतज्ञ तथा नर्तकी शोभा के प्रधान अङ्ग बन गये। सम्राट तथा राजकुमारियों के वे शिक्षक तक के आसन पर आसीन थे। महाराज उदयन तथा सम्राट समुद्रगुप्त के वीणा-वादन की प्रशस्ति आज भी भारतीय इतिहास में अक्षुण्ण है। जब-जब देश में अन्य कलाओं का अकाल पड़ा, तब-तब उनकी रक्षा गीतों के माध्यम से हुई है। इस प्रकार राजन्य-संस्कृति के अलंकरण-प्रवृत्ति से प्रभावित होने के कारण सभी ललित-कलाओं में चमत्कार तथा सौंदर्य-वर्धन को अधिकाधिक महत्व मिला। जिससे एक ही वस्तु को अनेक रूपों में प्रस्तुत तो किया गया किन्तु कलात्मकता के कारण उनमें आकर्षण का कभी भी अभाव नहीं होने पाया।

काव्यकला में अलंकरण की प्रवृत्ति

सम्पूर्ण कलाओं का समन्वित प्रभाव यदि कहीं एक स्थान पर सम्भव हो सकता है तो वह है काव्यकला, जो मानव-सभ्यता, रुचि, तथा आचार-विचारों के साथ विकसित होती रही है। सर्वप्रथम कवि के मन में भाव उसी प्रकार आते हैं जैसे चित्रकार के मन में चित्र, मूर्तिकार के मन में मूर्ति तथा संगीतज्ञ के मन में हाव। मनुष्य ने आनन्द प्राप्त करने और ज्ञान अनुशीलन के लिये जितने प्रकार के उपायों को ढूँढ निकाला है उनमें भाषा का प्रथम स्थान है।

साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि की चर्चा भाषा को वाहन बनाकर ही चलती है। काव्य से मनुष्य को आनन्द मिलता है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमाबद्ध है। उसके उस अभाव की पूर्ति रूप-शिल्प, संगीत, नृत्य तथा अन्य कलाओं ने की है। 'जैसे साहित्य की एक निजस्व प्रकाश भंगिमा है उसी प्रकार रूप-शिल्प, संगीत, नृत्य का भी मनुष्य इन्द्रियों से, मन से बाहरी संसार की वस्तुओं का तत्व-बोध एवं रस-बोध का उत्कर्ष साधित

होता है और शिल्प की प्रकाश-भंगिमा भी आयत्त होती है। आँख का काम जिस प्रकार कानों से नहीं होता उसी प्रकार चित्र, संगीत और नृत्य की शिक्षा लिखाई-पढ़ाई से सम्भव नहीं। सारी की सारी कलायें मानव मन में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होती हैं जिन्हें कलाकार का अभ्यास स्वरूप प्रदान करता है। एक मूल स्रोत के होते हुए भी जो उनमें अनेकरूपता है उसके मूल में प्रस्तुत करने का ढंग तथा समाजिक प्रवृत्तियाँ हैं। भारतवर्ष में लम्बे काले केश तथा काली पुतलियाँ अच्छी कहीं जा सकती हैं किन्तु यूरोप के लोग तो नीली आँखों एवं सुनहले केशों में ही मुग्ध होते हैं। भारतीय नायिका की लम्बी-पतली अंगुलियाँ चीनो स्त्री के लिये शोभावर्द्धक नहीं कही जा सकतीं। कलाकार की ये ही सीमायें हैं जो उसके कला में परिवर्तन लाती हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के देखने का दृष्टिकोण भी बदलता है जिससे कला-रूपों का बदलना अनिवार्य हो जाता है किन्तु इस बदलते हुए मानदंड का प्रभाव मानव जीवन से संबंधित सभी कलाओं पर समान रूप से पड़ता है। जिससे समस्त भारतीय इतिहास को सामने रखकर हम स्पष्टतः यह निर्णय कर सकते हैं कि जिस प्रकार एक के बाद दूसरी कला का जन्म तथा विकास हुआ है उसी प्रकार एवं उसी क्रम से सामाजिक प्रवृत्तियों का भी एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। समाज में दरबारी सभ्यता एवं राजसी वातावरण के महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने पर कलात्मकता, आलंकारिकता तथा मंडल की प्रवृत्ति का जो विकास हुआ उसने समान रूप से भारत की सभी कलाओं एवं कलाकृतियों को प्रभावित किया है।

अलंकृत काव्य की विविध परम्परा

मंडन एवं अलंकरण की प्रवृत्ति ने कला के क्षेत्र में केवल कविता एवं काव्य-रूपों को ही नहीं प्रभावित किया बल्कि उसका प्रभाव भारतीय साहित्य के समस्त अंगों पर पड़ा है। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि काव्य में कलात्मक तत्वों के अधिक पाये जाने तथा अन्य साहित्य अंगों में प्राचीनतम होने के कारण इस पर अपेक्षा कृत प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है किन्तु नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं और मुक्तक काव्यों पर भी अलंकरण-प्रवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

संस्कृत महाकाव्यों में अलंकृत काव्य का विकास

लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना का आरम्भ वाल्मीकि से ही हुआ है और उनके द्वारा रचित 'रामायण' ही आदि महाकाव्य है। प्रथम महाकाव्य होते हुए भी आदि-कवि ने इसे प्रत्येक साहित्यकला गरिमा से विभूषित किया है। प्रत्येक दृष्टि से कवि द्वारा इसे अलंकृत करने का सफल प्रयत्न किया गया है किन्तु इसमें प्रयुक्त किये गये अलंकार एवं काव्य-गुणों से इसकी शोभा में वृद्धि हुई है न कि वे अलग अपना स्वयं आकर्षण उत्पन्न कर महाकाव्य के आकर्षणों को कम करते हैं जैसी कि आगे के महाकाव्यकारों में प्रवृत्ति पाई जाती है। संस्कृत-महाकाव्यों के क्रमिक विकास को देखने से जान पड़ता है कि उनमें अलंकरण की प्रवृत्ति के मुख्यतः तीन स्तर हैं और इन्हें आधार मानकर समस्त संस्कृत महाकाव्यों की अलंकृत काव्य-परम्परा को हम नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक, विच्छित्ति अथवा अलंकरण बहुला तथा अतिअलंकृत अथवा बलात् प्रयुक्त किये जाने वाले अलंकारों, जिसमें

काव्य से अधिक अलंकार प्रयोग लक्ष्य बन गया था, तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। महाकवि कालिदास, भारवि और माघ तथा हर्ष की रचनायें अलंकृत काव्य-परम्परा के विकास को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।

विभिन्न रसों का मंजुल समन्वय, वर्णन में अत्यन्त स्वाभाविकता, छोटे-छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण सरस, मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति वाल्मीकि रामायण की विशेषता है। "**स्थान-स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से विभूषित करने का भी उद्योग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता से फूटता और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वाल्मीकि के काव्यों में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है**[1]।" उन्होंने गरुड़ की अत्यन्त सुन्दर उपमा दी है जो रामचन्द्र की उदात्तता के अनुकूल ही है तथा समासोक्ति का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है इसके अतिरिक्त रामायण में आये प्रकृति वर्णनों में बिम्बग्रहण अतुलनीय है[2]। इनकी इस रसमयी पद्धति को हम सुकुमार मार्ग कह सकते हैं, स्वाभाविकता जिसका भूषण है तथा रसमयता जिसका जीवन। वाल्मीकि की इस रसमयी स्वाभाविक अलंकृत शैली का चरम विकास कालीदास के महाकाव्य 'रघुवंश' में हुआ है जो महाकवि की प्रसिद्धि का मूल रहस्य है।

प्रसादगुण, सरलता, मनुष्य हृदय सम्बन्धी गूढ़ भावों का ज्ञान गठीले पदविन्यास में एक अनोखी चतुरता तथा स्वाभाविक अलंकार वर्णन की अद्भुत छटा जितनी कालीदास की कविताओं में मिलती है उतनी संस्कृत के अन्य किसी महाकवि में नहीं। उपमा के लिये कालीदास सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। रघुवंश महाकाव्य में स्वयम्वर के समय दी गयी इन्दुमती की उपमा समस्त भारतीय काव्य में बेजोड़ है। शृंगार किये सखियों के साथ हाथ में वरमाला लिये इन्दुमती स्वयम्वर सभा में बैठे राजाओं को छोड़ती हुई उनके बीच से आगे बढ़ रही है। महाकवि को उसी स्थल पर दीपशिखा की सर्वोत्तम उपमा सूझी है। जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गयी उन राजाओं का मुख उसी प्रकार उदास होकर उसके पीछे पड़ता गया जिस प्रकार यदि हम रात को दीपक लेकर चलें तो राजमार्ग के भवन अन्धेरे में पड़ते हुए पीछे छूटते जाते हैं। यहाँ इन्दुमती को दीपशिखा, सखियों को ले' जाने वाला तथा उदास राजाओं को राजमार्ग पर पीछे छूटने वाले भवन कहा गया है।[3] आकाश मार्ग से वीणा लिये जाते हुए महर्षि नारद की

---

१. बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' चतुर्थ, सं० पृ० २७८।
२. 'राक्षसेन्द्र महासर्पान् स रामगरुडो महान्।
 उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्॥ (वा० रा० ५।२१।२७)।
 'चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्श हर्षोन्मीलिततारका।
 अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥ (वा० रा० ४।३०।४५)।
३. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
 नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः। —रघुवंशम् षष्ठः सर्गः ६७।

वीणा के सिरे पर लटकी हुई स्वर्गीय पुष्पों की माला वायु का झोंका खाकर तो नीचे गिर गई किन्तु पुष्पों के साथ लगे हुए भौंरे वीणा पर मँडराते ही रहे जिस पर महाकवि ने उत्प्रेक्षा करते हुए कहा है कि उन मँडराते हुए भौंरों को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वायु से अपमानित होकर वीणा काजल मिले हुए आँसू बहा रही है।[1] किन्तु कालीदास के अलंकृत काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग हठात् नहीं किया है बल्कि वे अपने आप अवसर समझकर आ गये हैं, उन्होंने रचना अलंकार वर्णन के लिये नहीं की है बल्कि अलंकारों का वर्णन अपने काव्य को रमणीय बनाने तथा सजाने के लिये किया है। कालीदास मूलतः मानवीय सुकुमार भावों के कवि हैं, जिससे मानव मन की निसर्ग-भावना के समान ही कालीदास की कविता की कमनीयता है। अलंकारों की झंकार का वह युग न था। रसीली शैली पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कालीदास की कविता में अलंकारों का भव्य विन्यास है—परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य-वस्तु को छोड़कर अलंकार की छठा की ओर ही आकृष्ट हो जाय।[2] इनके वर्णनों में अलंकार से वस्तु का सौंदर्य निखरता है, उसकी मोहकता बढ़ती है तथा वह सहृदयों के हृदय में बरबस घर कर लेने की शक्ति प्राप्त करती है। रघुवंश महाकाव्य उपमा चमत्कार का अनुपम कोष है।

इसके अतिरिक्त 'कुमारसंभव' महाकाव्य के ललित अलंकृत पद भी कवि की महती कल्पना एवं प्रतिभा के अनुकूल ही है। यद्यपि 'कुमारसंभव' के सम्पूर्ण सत्रह सर्गों में कालिदास की लेखनी का चमत्कार दिखलाई पड़ता है किन्तु इसके अष्टम सर्ग में अलंकृत काव्य की अनुपम छटा के दिग्दर्शन होते हैं।

महाकाव्य लिखने की परम्परा कालिदास के बाद भी अच्छे ढंग से चलती रही। अनेक महाकवियों ने प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है जिनमें कुछ बौद्ध धर्मावलम्बी महाकवि भी हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य बुद्ध-धर्म के उपदेशों को जनता के हृदय तक पहुँचाना रहा है। इन कवियों में अश्वघोष, मातृचेट और आर्यशूर मुख्य हैं। 'बुद्धचरित' अश्वघोष की सर्वोत्कृष्ट रचना है जो दुर्भाग्यवश मूल रूप में केवल आधी ही मिलती है। इस महाकाव्य की शैली पर कालिदास की रचनाओं का अक्षुण्ण प्रभाव है। 'अश्वघोष' का 'अलंकार विधान रस का पोषक, भावों का उत्तेजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्घातक है। वज्र की आवाज सुनकर काँपने वाले हाथी से शोकाहत शुद्धोदन की तुलना (बु० च० ८।७२) जितनी औचित्यपूर्ण है, उतना ही स्वाभाविक है।[3] 'सौन्दरनन्दन' अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है जिसमें महात्मा बुद्ध के सौतेले भाई की कथा का वर्णन है। यौवन-सुलभ उद्दाम काम, इस महाकाव्य का मुख्य विषय है जिसमें इसमें 'बुद्धचरित' की अपेक्षा कोमलभावनाओं की अभिव्यक्ति का अधिक अवसर मिला है।

---

१. कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः। रघु० अष्टम सर्गः ३४।

२. "संस्कृत साहित्य का इतिहास"— बलदेव उपाध्याय, च० सं०, पृ० २७९।

३. बलदेव उपाध्याय—"संस्कृत साहित्य का इतिहास", च० सं०, पृ० १७७।

इसकी सरसता तथा सकल काव्यात्मकता इसे कालिदास की निसर्ग जात अलंकृत काव्य-परम्परा में रखने के लिये पर्याप्त है। 'मातृचेट' तथा 'आर्यशूर' की रचनायें भी इसी श्रेणी में आती हैं।

महाकवि भारवि कृत 'किरातार्जुनीय' की सृष्टि संस्कृत अलंकृत काव्यों के क्षेत्र में एक घटना है जहाँ से महाकाव्यों की रचना परम्परा में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित हुआ। आदिकवि वाल्मीकि से उत्पन्न हो महाकवि कालिदास से होती हुई नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक अलंकरण की प्रवृत्ति का जो विकास महाकाव्यों के माध्यम से होता रहा है उसका एक प्रकार से अन्त हुआ और उसके ही गर्भ से विचित्र मार्गी अथवा अलंकरण बहुला प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ। 'किरातार्जुनीय' ने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया है। 'भारवि' से पूर्व महाकाव्य का वर्ण्य विषय अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल होता था। रघुवंश के केवल १९ सर्गों में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं की अनेक पीढ़ियों की गाथा समेट ली है परन्तु 'किरातार्जुनीय' के १८ सर्गों में 'भारवि ने' केवल अर्जुन के किरात के पास जाने, युद्ध करने तथा शास्त्रास्त्र प्राप्त करने की छोटी कथा को ही विस्तार दिया है। इस अलंकृत शैली की विषय और भाषा संबंधी दो मुख्य विशेषताएँ हैं। 'भारवि' ने कथा वस्तु की अपेक्षा प्रकृति-वर्णन को अत्यधिक महत्व दिया है, यही कारण है कि पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में काव्य के बहुत से सर्गों को व्यय कर एक छोटे कथानक को इतना विस्तार प्रदान किया है। वाल्मीकि और कालिदास की सीधी-सादी भाषा भी भारवि के पास आकर अलंकारों से बोझिल होने लगी। इन्होंने कविताओं में चित्र-काव्य लिखकर 'गोमूत्र' और 'कमल' बंधों का प्रदर्शन तो किया ही है, सर्वत्र अलंकारों को बलपूर्वक लाने का प्रयत्न भी किया है। अलंकरण की यह प्रवृत्ति इसके विकास के तृतीय चरण में आकर और भी बढ़ गयी जिससे विषय वस्तु का स्थान अत्यन्त गौण हो गया। भारवि ने जिस अलंकृत शैली को जन्म दिया, उसने रीतिकाव्य की एक ऐसी परम्परा का निर्माण किया जो अलंकार के भार से दबता गया। 'किरातार्जुनीय' की शैली 'श्लेष के प्रयोग से बोध गम्य नहीं रह गई तथा चित्र-काव्य के प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान दुरूह हो गयी है। अलंकारों की प्रधानता के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है।'[1] इतना होने पर भी विषय प्रतिपादन तथा कथा-सौष्ठव को अक्षुण्ण बनाये रखना 'भारवि' की अपनी विशेषता है जो उन्हें 'श्री हर्ष' से अलग करती है।

अर्जुन के बाणों से पराजित होकर 'शंकर' की सेना जब भाग निकली तो उनके मन में दयाभाव का संचार हुआ और उन्होंने युद्ध-विरत हो प्रस्थान करना चाहा जिसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन पन्द्रहवें सर्ग में हुआ है। इस श्लोक के प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के अक्षरों का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपनी रचना

---

१. बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास', च० सं०, पृ० २८०।

के माध्यम से 'एकाक्षरपाद अलंकार' की सृष्टि करना चाहता है।[1] इसी प्रकार पन्द्रहवें सर्ग में क्रम से श्लोक संख्या १२, २५ और २७ में गोमूत्रिका बन्ध, सर्वतोभद्र तथा अर्ध-भ्रमक जैसे क्लिष्ट अलंकारों की योजना की गयी है।[2] प्राकृतिक दृश्यों तथा युद्धादि प्रसंगों में अलंकारों की छटा का तो कुछ पूछना ही नहीं है। इस प्रकार 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के कवित्वपूर्ण प्रसंगों में उपमा, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, परिवृत्ति, काव्यलिंग, एकावली, दृष्टान्त, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, गोमूत्रिका बन्ध, सर्वतोभद्र तथा अर्धभ्रमक आदि अलंकार भरे पड़े हैं। जिससे भारवि का यह अलंकृत काव्य विविध अलंकारों की रमणीय स्थली हो गया है। किन्तु इतना अवश्य है कि इसमें कथा की सरिता सर्वत्र सुरक्षित है। अलंकारिता को ही भारवि ने उस प्रकार काव्य का लक्ष्य नहीं मान लिया जैसा कि श्रीहर्ष आदि ने तृतीय चरण में माना है। कालिदास की प्रसिद्धि यदि उपमा वर्णन के क्षेत्र में सुरक्षित है तो 'अर्थ गौरव' के क्षेत्र में निश्चित ही भारवि की कीर्ति अक्षुण्ण है। काव्य का वास्तविक सौन्दर्य जिसे कालिदास ने जंगल तथा आश्रम में उसके प्रकृत रूप में देखा था उसके प्रति भी भारवि की पूर्ण आस्था थी ऐसा उनके छन्द अथवा श्लोक से प्रकट होता है। सद्यःस्नाता युवतियों का वर्णन उन्होंने अष्टम सर्ग के ४०वें श्लोक में किया है। कवि सुरांगनाओं के आभूषण तथा शृंगारहीन स्वस्थ, निखरे एवं स्वाभाविक यौवन सौंदर्य पर रीझ गया है। 'गन्धर्वों ने देखा—युवतियों का तिलक धुल गया है। उनके पद पर से महावर छूट गई है। उनकी आँखों में कज्जल भी नहीं रह गया है, तथापि उनकी शोभा उनमें वर्तमान है। इससे गन्धर्वों को मालूम हो गया कि भूषण युवतियों को नहीं विभूषित करते प्रत्युत वे ही भूषणों को भूषित करती हैं।'[3]

'भट्टिकाव्य' अथवा 'रावण वध' महाकाव्य के रचयिता 'भट्टिस्वामी' का रचनाकाल 'भारवि' के बाद का है। इस महाकाव्य के माध्यम से व्याकरण को सरलतम रूप प्रदान करने का भी सफल प्रयोग किया गया है तथा दसवें से लेकर तेरहवें तक चार सर्गों की रचना अलंकृत काव्य की विशेषताओं को प्रकट करने के लिए ही की गई जान पड़ती है। दसवाँ सर्ग शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की सुन्दर छटा से सुशोभित है। यमकालंकार के जितने भिन्न-भिन्न उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य काव्यों में बहुत कम

---

१. स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ ५॥ (किरा० पन्द्रहवाँ सर्ग)

२. नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः।
ना सुरोऽयं न वा भोगो धरणिस्थो हि राक्षसः॥ १२॥
देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा। (किरा० पन्द्रहवाँ सर्ग)
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि॥ २५॥ (किरा० पन्द्रहवाँ सर्ग)
ससत्वरतिदे नित्यं सदारामर्षनाशिनि।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति॥ २७॥ (किरा० पन्द्रहवाँ सर्ग)

३. विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा निरंजनाक्षी रपि 'बिभ्रतीः श्रियम्।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलंकृतं तद्वपुषैव मण्डनम्॥४०॥ (किरा० अष्टमः सर्गः)

पाये जाते हैं ।[१] इसके अतिरिक्त 'एकावली' अलंकार का सर्वोत्तम उदाहरण 'भट्टिस्वामी' की रचना में पाया जाता है जिसे अनेक विद्वानों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है ।[२] इनका सूर्योदय का एक रमणीय वर्णन उत्प्रेक्षा की दृष्टि से माघ के प्रभात वर्णन की स्मृति दिलाता है । सिंहल नरेश कुमारदास कृत 'जानकी हरण' महाकाव्य महाकवि कालिदास की काव्य-शैली के अधिक निकट है न कि 'भारवि' के ।

महाकवि 'भारवि' की अलंकृत काव्य-शैली का चरम विकास महाकवि 'माघ' कृत 'शिशुपाल वध' महाकाव्य में हुआ है । कथा, दृश्य तथा सर्ग संख्या आदि सभी क्षेत्रों में 'माघ' ने अपनी रचना को सौष्ठव की अपेक्षा बीस (श्रेष्ठ) ही रखना चाहा है । जान पड़ता है कि किरातार्जुनीय को सामने रखकर ही माघ ने शिशुपाल वध की रचना की है और काव्य के प्रत्येक प्रसंग में वे अपनी प्रतिभा की श्रेष्ठता स्थापित करते जान पड़ते हैं । मंगलाचरण से लेकर युद्धान्त तक सभी विभाजन एवं वर्णन क्रम उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' के तौल पर ही रखा है । 'भारवि' ने पंचदश सर्ग में युद्ध-वर्णन के प्रसंग में गोमूत्रिका बन्ध, सर्वतोभद्र, अर्द्धभ्रमक, प्रतिलोमानुपाद, पादयमक आदि विकट बन्धमय छन्दों की रचना की है तो माघ ने भी उन्नीसवें सर्ग में कृष्ण भगवान् तथा शिशुपाल के युद्ध वर्णन प्रसंग में किरात से भी संख्या में अधिक विकट बन्धमय छन्दों की रचना की है ।

उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य इन तीनों गुणों के दर्शन हमें 'माघ' की अलंकृत कविता में मिल जाते हैं । शिशुपाल वध के पाँचवें श्लोक में आकाश मार्ग से नीचे उतरते हुए नारद को देखकर भगवान् कृष्ण ने अपने मन में उनके स्वरूप की जो कल्पना की उसका वर्णन करते हुए कवि 'माघ' लिखते हैं कि 'कमल केसर के समान कान्ति वाली जटाओं को धारण करते हुए तथा स्वयं शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरण के समान कांतिवाले पक जाने से पिंगल वर्ण वाले, वर्फीली भूमि में उत्पन्न लता-समूहों को धारण करते हुए पर्वतराज हिमालय के समान स्थित नारदजी को श्रीकृष्ण ने देखा' ।[३] कवि ने इस वर्णन में उपमा की अपूर्व छटा दिखलाई है । ऐसा ही वर्णन चतुर्थ सर्ग के सैतीसवें श्लोक में भी किया है जिसमें रैवतक पर्वत की समानता श्रेष्ठ द्विज के साथ की गई है । रैवतक पर्वत से निकलकर समुद्र की ओर जाने वाली नदियों के वर्णन में कवि ने 'अर्थ गौरव' की पराकाष्ठा दिखला दी है । 'जिस प्रकार गोद में खेलने वाली कन्या जब पति के पास (ससुराल) जाने लगती है, तब पिता वत्सलता से करुण रोदन करता है, उसी प्रकार रैवतक पर्वत के मध्य में बहने वाली, इसी से उत्पन्न नदियाँ समुद्र में मिलने के लिये समतल भूमि पर बहती हैं, और पक्षी करुण

---

१. बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास', च० सं०, पृ० १९६ ।

२. न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदो सौ न जुगुंज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ॥ (भट्टि स्वामी) ।

३. दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिंगास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ (१।५)
विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथंचिच्छ्रुत्वापि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः ।
श्रेयान् द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥ (४।३७)

कलरव कर रहे हैं जो ऐसा ज्ञात होता है कि यह रैवतक पर्वत ही बिछुड़ती हुई उन नदी रूपिणी पुत्रियों के लिये अनुरोदन कर रहा हो।[1] माघ कवि की अलंकृत शैली की सबसे बड़ी विशेषता है कि अभिप्रेत अलंकार के अतिरिक्त अन्य कई अलंकार वर्णन-प्रवाह में अपने आप चिपके चले आते हैं। वर्षाकालीन रैवतक पर्वत की छटा-वर्णन में 'पदलालित्य' के साथ अलंकारों के मोहक स्वरूप कम आकर्षक नहीं हैं। रैवतक पर्वत पर 'लटकते हुए मेघों ने जल बरसा कर सर्पवेष्टित वृक्षों के वन को अत्यन्त आर्द्र कर दिया था अतएव उस वन को सर्पों के विष से उत्पन्न अग्नि नहीं जला सकी। इस श्लोक में 'समुन्नतमद्भिः' का 'नसमुन्नमद्भिः' के साथ तथा 'विपन्नगानाम्' का 'अविपन्नगानाम्' पद के साथ विरोध प्रतीत होता है और उसका परिहार उस अर्थ द्वारा हो जाने से यहाँ 'विरोधालंकार' होता है।[2]

नायिका ने रात्रिकाल में नायक के साथ रति-क्रीड़ा की है इसका संकेत सखियों को उसके शरीर पर पड़े नायक के सफेद दुपट्टे से लग जाता है जिसे उसने रात्रि में पलंग पर छोड़ दिया था किन्तु प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के संसर्ग से वह कुसुम्भ रंग में रंगे गये दुपट्टे के समान दिखलाई देने के कारण नायिका ने उसे अपना समझकर ओढ़ लिया था। रति संकेत के सुन्दर वर्णन के साथ ही साथ कवि ने सफेद चादर में कुसुम्भी रंग की भ्रान्ति कराके सुन्दर भ्रान्तिमान अलंकार की योजना की है।[3]

शिशुपाल वध में वर्णित उत्प्रेक्षा अलंकारों से 'प्रभात वर्णन' तो भरा पड़ा है जिसने अलंकृत शैली के क्षेत्र में कवि की अचल कीर्ति स्थापित की है। उदाहरण के लिये सूर्योदय के एक दृश्य का वर्णन ले सकते हैं। सूर्य की किरणों में प्रकाश आ रहा है जिसे देखकर ऐसा लगता है कि 'कोई पदभ्रष्ट व्यक्ति पुनः अपने स्थान को प्राप्त कर विषय-लोलुपता से जेल में चिरकाल तक पड़े हुए स्वजनों को जेल का फाटक खोलकर जिस प्रकार छुड़ा लेता है उसी प्रकार पहले तेजहीन यह सूर्य पुनः अपने तेज को प्राप्त करके कमल-पराग में लोलुपता होने से उसमें बँधे हुए भ्रमरों को, कमलों को विकसित करने से उनकी पँखुड़ियों को खोलकर स्वजन रूप उन भ्रमरों को मानों बन्धन मुक्त कर रहा है[4]।' 'अलंकार शास्त्र में माघ की

1. अपशंकमंकपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः ।
   अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ (४।४७)
2. यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः ।
   वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥ (४।१५)
3. सितरुचिशयनीये नक्तमेकान्तमुक्तं
   दिनकरकरसंगव्यक्तकौसुम्भकान्ति ।
   निजमिति रतिबन्धोर्जानतीमुत्तरीयं
   परिहसति सखी स्त्रीमाददानां दिनादौ ॥ (११।५२)
4. चिरमतिरसलौल्याद्बन्धनं लम्भितानां
   पुनरयमुदयाय प्राप्य धाम स्वमेव ।
   दलितदलकपाटः षट्पदानां सरोजे
   सरभस इव गुप्तिस्फोटमर्कः करोति ॥ ११।६०

प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्वों को सम्यक् समझाने के लिये अलंकार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। माघ ने एक सच्चे कवि-अलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य माना है[१]।' इस प्रकार से अलंकार शास्त्र के प्रमुखतम अलंकारों द्वारा कवि माघ ने शिशुपाल वध महाकाव्य की शैली को अलंकृत किया है।

संस्कृत के अन्य कवि रत्नाकर, शिवस्वामी तथा मंखक ने जिनकी रचना भूमि काश्मीर प्रदेश रहा है क्रम से हरविजय, अवदान अथवा शिवांक तथा श्रीकण्ठ चरित नामक महाकाव्यों की सृष्टि की है जिसमें माघ कृत अलंकृत शैली की ही छाया है किन्तु उतनी प्रतिभा न होने के कारण वह प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। अलंकृत काव्य-परम्परा के इस दूसरे चरण के समाप्त हो जाने पर एक ऐसे महाकवि का संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में आगमन होता है जिसने इस शैली को साधन के स्थान पर साध्य बना कर इसे वर्णन की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। ये महाकवि थे नैषध महाकाव्यकार श्रीहर्ष।

आचार्यों ने कालिदास के रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत को लघुत्रयी तथा किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध तथा नैषध चरित को बृहत्त्रयी का नाम दिया है। किम्वदन्ती के अनुसार कालिदास उपमा, भारवि अर्थ-गौरव, दंडी पद-लालित्य तथा माघ इन तीनों गुणों के लिये संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं किन्तु नैषधकार श्रीहर्ष के उदित हो जाने पर कैसा 'माघ' और कैसा 'भारवि'[२] अर्थात् इन लोगों का कोई स्थान नहीं रह जाता। इस कथन के मूल में काव्य प्रतिभा नहीं बल्कि अलंकार योजना ही है क्योंकि जहाँ तक बृहत्त्रयी के कवियों की काव्य प्रतिभा का प्रश्न है भारवि सबसे आगे हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहर्ष की अलंकार योजना सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अकेली है। पदलालित्य, ओज और अतिशयोक्ति में श्रीहर्ष बहुत बढ़े-चढ़े हैं, इनकी वर्णन शैली के विस्तार का ओर-छोर नहीं। इन्होंने 'नैषध' की कविता को जानबूझकर ऐसा क्लिष्ट कर डाला है कि वह पत्थर की एक अलग-अलग टुकड़ी सी लगती है और सम्पूर्ण महाकाव्य एक शिला-खण्ड। इस पर अच्छे-अच्छे विद्वानों की बुद्धि वैसी ही टकराती है जैसे कि संगतराश का हथौड़ा पत्थरों के टुकड़ों पर टकराता है।

अतिशयोक्ति, क्लिष्ट कल्पना, नहीं अस्वाभाविक और दीर्घ वर्णन नैषध में अधिक पाये जाते हैं। इसी से इसकी कविता हृदय में चुभ पाती बल्कि चित्त को प्रसन्न करके दूर हो जाती है, विशेषता इसमें इतनी ही है कि उन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। अतिशयोक्ति करने में श्रीहर्ष की बराबरी संस्कृत का कोई भी कवि नहीं कर सकता। इनकी कविताओं में स्वभावोक्ति बहुत कम पायी जाती है। चन्द्रमा में दिखलाई पड़ने वाली श्यामता को कवि ने कलंक नहीं बल्कि कीचड़ कहा है जिसके लिये उसने अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना तो की ही है,

---

१. बलदेव उपाध्याय, 'संकृत साहित्य का इतिहास' च० सं०, पृ० २०९।

२. 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥' इति ॥
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ? ॥ इति ॥

नल के प्रताप और सेना का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन भी किया है। नल की यात्रा में उसके प्रकाशमान प्रताप रूपी अग्नि के धूएँ के समान सेना के चलने से रास्ते से जो धूलि उड़ी वही सुधा-समुद्र में गिरकर कीचड़ हो गयी और आज तक चन्द्रमा में कलंक के रूप में विद्यमान है। अर्थात् सुधा-समुद्र से जब चन्द्रमा निकला था तब समुद्र सम्बन्धी कीचड़ उसमें लगी हुई थी। अतएव वह कलंक नहीं वही कीचड़ है जो नल की सेना के पैरों से उड़ी धूलि से समुद्र में गिरने से बनी थी।[1] ऐसी एक नहीं अनेक क्लिष्ट कल्पनायें नैषध महाकाव्य में भरी पड़ी हैं।

दमयन्ती की काम-पीड़ा का वर्णन करते समय श्रीहर्ष ने विष्णु को राहु का सिर काटने वाला न मानकर विरहिणियों का सिर काटने वाला कहा है और दमयन्ती से कहलवाया है कि 'सरल दृष्टि वाले लोग मधुसूदन (विष्णु) को राहु का सिर काटने वाला कहते हैं, विरहिणियों का सिर काटने वाला नहीं कहते क्योंकि यदि राहु का जठरानल (पूर्ण धड़ के साथ शरीर होने से जठराग्नि, होता तो चन्द्रमा कहाँ होता ? अर्थात् न होता, किन्तु राहु के जठराग्नि में जीर्ण हो जाता। विष्णु द्वारा राहु का सिर काटने के कारण ही राहु के मुख में गया हुआ भी चन्द्रमा गर्दन के रास्ते बार-बार बाहर निकल आता है और विरही स्त्री-पुरुषों को सताया करता है) अतः विष्णु को राहु का सिर काटने वाला न कहकर विरहिणियों का सिर काटने वाला कहना उचित है।[2] इसी प्रकार तेरहवें सर्ग में पंचनली का वर्णन है। नल के रूप में इन्द्रादि चार देवताओं और पाचवें नल का वर्णन है तथा दसवें सर्ग में कवि ने सरस्वती के अंग-प्रत्यंग के वर्णन आदि प्रसंगों में लिखे श्लोकों के श्लेष पूर्ण शब्दों में अपने पाण्डित्य और अलंकारिकता का अन्त कर डाला है[3]। इस कवि का भाषा पर तो ऐसा प्रभाव जान पड़ता है कि भाषा इसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। नैषध महाकाव्य में ऐसा श्लोक ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकता जिसमें दो से कम अलंकार आये हों। अलंकारों में श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के विशेष शौकीन हैं वैसे तो कोई भी ऐसा अलंकार नहीं बचा है जिसे कवि ने न समेटा हो। श्रीहर्ष अलंकृत शैली के सर्वश्रेष्ठ काव्य रचयिता हैं। श्रीहर्ष शृंगार कला के कवि हैं परन्तु उनका शृंगार वर्णन कवि हृदय का स्वाभाविक उद्गम न होकर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर आधारित शास्त्रीय विवेचना की अपेक्षा रखता है। शृंगार के संयोग तथा वियोग उभय पक्षों का चित्रण यहाँ बड़े घटाटोप के साथ किया गया है, परन्तु इनमें हृदय पक्ष का अभाव और कला पक्ष का प्राधान्य है। संस्कृत महाकाव्य परम्परा में अलंकृत-काव्य-शैली के चरम परिपाक का नैषध महाकाव्य सर्वोत्तम उदाहरण है।

भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में अलंकार की छटा प्रदर्शित करने के लिए ही वर्णनों का बाहुल्य मिलता है और बाद के लक्षणकारों ने तो महाकाव्य के लिए

---

१. यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममंजिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पंकीभवदंकतां विधौ ॥ (१।८)

२. ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः ॥ (४।६९)

३. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', च० सं०, पृ० २२९।

विविध वर्णनों को उनका विशेष लक्षण ही मान लिया। विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के लक्षण निर्माण में उपरोक्त महाकाव्यों में वर्णित विरही वर्णनों का ही आधार लिया है।

संस्कृत नाटकों में अलंकरण की प्रवृत्ति

नाटकों का उद्देश्य रस-निष्पत्ति अथवा रस-परिपाक माना गया है, इसलिये इसमें अलंकारों के लिये अवकाश नहीं। आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों में 'रस' की ही प्रधानता मानी है यद्यपि उन्होंने भी उसमें चार अलंकारों को गिनाया है। संस्कृत साहित्य में नाट्यकला का परम्परा के रूप में विकास 'भास' के नाटकों से ही होता है। 'भास' का रचनाकाल 'कालिदास' के रचनाकाल से पूर्व का माना जाता है क्योंकि उन्होंने अपने 'मालविकाग्नि मित्र' की प्रस्तावना में 'भास' का नाम लिया है। 'भास' के नाटकों में अलंकारों की योजना करने का कोई प्रयत्न नहीं दिखलाई पड़ता। ,कालिदास के महाकाव्यों में जिस प्रकार से महाकवि वाल्मीकि के स्वाभाविक अलंकृत शैली का विकास दिखलाई पड़ने लगता है उसी प्रकार उनके नाटकों में भी उसके संकेत स्पष्टतः दिखलाई पड़ने लग जाते हैं। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में अप्सरियों की पुकार सुनकर राजा 'पुरूरवा' सारथी से अपना रथ तेजी के साथ उसी ओर बढ़ाने को कहता है और सारथी वैसा ही करता है। राजा रथ की चाल देखकर कहने लग जाता है कि 'वाह! वाह! जब चलते ही रथ इतने वेग से दौड़ रहा है तब तो मैं गरुड़ को भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इन्द्र के शत्रु राक्षस तो हैं किस गिनती में! मेरा रथ इतने तीव्र वेग से दौड़ रहा है कि उसकी रगड़ से घने बादल पीस-पीसकर धूल जैसे बन गये हैं। इसके पहिये भी इतने वेग से घूम रहे हैं कि ऐसा लगता है मानों पहियों के आरों के बीच में और बहुत से आरे बनते चले जा रहे हैं। घोड़ों के सिर पर चौरियाँ ऐसी खड़ी हो गई हैं कि जान पड़ता है मानों ये चित्र में खिची हुई हों और वेग से चलने के कारण जो पवन उठता है उसकी झोंक से झंडी का कपड़ा ध्वजा के डंडे की ओर अपने बाहरी छोर के बीच में सीधा फैल गया है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं'। ऐसे अनेक वर्णन अतिशयोक्ति रूपक एवं उत्प्रेक्षाओं से कालिदास के नाटक भरे पड़े हैं किन्तु उन्हें लाने का नाटककार की ओर से कोई प्रयास नहीं जान पड़ता बल्कि वे उसकी प्रतिभा के एक अंग बनकर आ गये हैं।

अलंकृत शैली की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा ने केवल कवियों को ही नहीं बल्कि गद्य लेखकों को भी आकर्षित किया है जिसका प्रमाण संस्कृत के 'कादम्बरी' ऐसे आख्यानक काव्यों में मिल जाता है। नाटकों की भाषा पर भी अलंकृत शैली का थोड़ा बहुत प्रभाव है किन्तु मूलतः अलंकृत शैली का आकर्षण नाटक में लिखे गये गीतों तथा श्लोकों में ही है। नाटकों के अन्दर पद्यमयता को जो स्थान मिला है उसका मुख्य कारण है संस्कृत काव्य में अलंकृत

---

१. 'साधु-साधु। अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्। किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः। मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यष्ट्यग्रे समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥ (१।५)

शैली का बढ़ता हुआ प्रभाव। नाटककारों ने अलंकारों की योजना करने तथा चमत्कार दिखलाने के लिये ही नाटकों में बीच-बीच में गीतों अथवा श्लोकों की व्यवस्था की है। महाराज हर्षवर्धन के नाटकों में अलंकृत शैली का सुन्दर नमूना दिखलाई पड़ता है। मुख्यतः 'रत्नावली' में तो अलंकृत काव्य के एक से एक नमूने भरे पड़े हैं। राजा उदयन और सागरिका चन्द्रोदय देख रहे हैं उसी समय राजा उदयन कह बैठता है कि इस चन्द्र के उदित होने की क्या आवश्यकता थी जब कि तुम्हारा चन्द्रमा के समान मुख उपस्थित ही है। उदय से क्या अपनी जड़ता नहीं प्रदर्शित कर रहा है, इसके निकलने की जरूरत ही क्या थी? तुम्हारे मुख की शोभा के सम्मुख उसकी शोभा नष्ट होती जा रही है। चन्द्रमा के सारे के सारे गुण तुम्हारे मुख में विद्यमान हैं, जिसे देखने से काम-वासना में वृद्धि होती है। यदि चन्द्रमा अमृत धारण करने वाला है तो तुम्हारे बिम्बाधर में भी अमृत का निवास है। ऐसी स्थिति में चन्द्रमा के उदय होने की आवश्यकता ही क्या थी?[1] इस पद्य को काव्य-प्रकाशकार ने भी उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया है। स्पष्ट है कि नाटककार ऐसे स्थलों की सृष्टि के समय अलंकृत काव्य की भूमिका में बैठ गया है।

भट्टनारायण कृत 'वेणी संहार' नाटक की दृष्टि से नितान्त निर्दोष रचना होते हुए भी काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर, मोहक तथा हृदयाकर्षक प्रभावशाली कृति है। भीमसेन की प्रतिज्ञा में विरोध तथा उन्माद का सुन्दर चमत्कार देखा जा सकता है। नाटककार ने भीमसेन से यह कहवाया है कि 'यह भीमसेन शीघ्र ही फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी गई गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघों को चूर्ण कर देगा। अधिक मात्रा में गिरे हुए चपके गाढ़े-गाढ़े रुधिर से जिसके हाथ लाल हो गये हैं ऐसा भीमसेन तुम्हारे इन खुले हुए बालों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा। अतः तुम (द्रौपदी) विश्वस्त रहो। तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होकर रहेगा।' इसे नाटककार गद्यों में कह सकता था किन्तु यह लालित्य लाना सम्भव न होता। सम्पूर्ण नाटक में ऐसे ललित पद यथास्थान भरे पड़े हैं। 'भवभूति' के 'उत्तर रामचरित' में चित्रोपमता तथा प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। इसका आरम्भ ही चित्रदर्शन से होता है और रामचरित की समस्त घटनायें एक-एक कर सामने आती हैं और उन पर राम अपनी प्रतिक्रिया का निर्देश करते हैं। भवभूति की कवि प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है जिसे अलंकृत बनाने के लिये नाटककार ने वाल्मिकीय रामायण उत्तरकाण्ड से ली गई इसकी कथा में अनेक मौलिक परिवर्तन किये हैं।

भवभूति के 'मालती-माधव' में आये पद्यबद्ध प्रकृति वर्णन अत्यन्त अलंकृत हैं। नाटककार ने इसमें श्मशान का अत्यन्त विस्तृत तथा वास्तविक वर्णन किया है। इनके महावीर चरित में आये पद्यमय वर्णनों में आलंकारिकता की छटा दर्शनीय है। नाटककार का हृदय जब भावुकता से भर जाता है तो वह अपनी भाव प्रवणता की अभिव्यक्ति

---

१. 'किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे।' (रत्नावली २।१३)

अलंकृत पद्यों में ही करता है। युद्धोन्मत्त बाली सवेग आकाश मार्ग से रणभूमि की ओर आ रहा है जिसकी ओर संकेत करती हुई श्रमण (सबरी) राम से कहती है कि 'देव ! देखिये देखिये पिंगल देह में इन्द्र द्वारा दत्त सोने की माला पहने, संध्या रागयुक्त विद्युत्संगत मेघ के समान, उत्पातयुक्त गैरिक धातुपूर्ण पर्वत की उपमा धारण करने वाला आकाश में सीमन्त रेखा सदृश लकीर-सी खींचता हुआ बाली वेग से चला आ रहा है''[1]। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर राम की सारी सभा तथा देवगण जब शोक सागर में डूब रहे थे उसी समय धौलागिरि पर्वत को लिये आकाश मार्ग से आते हुए हनुमानजी को देखकर प्रसन्नता के कारण चित्ररथ देवराज इन्द्र से कहने लगता है कि प्रभो ! देखिये—'चन्द्रमा किरणों से कुमुद समूह की तरह, चुम्बन को पाकर लोह की तरह अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त कर संसार भाराकुल जन की तरह हनुमान द्वारा लाये गये पर्वत की हवा को पाकर प्रफुल्लित हो रहे हैं, वस्तुतः किसी-किसी पदार्थ की महिमा विचित्र होती है [2]।' हृदय के गहन अनुभूत भावों की जितनी अलंकृत एवं सुन्दर काव्यमयी योजना काव्यों के माध्यम से हो सकती है, नाटककार ने वैसी ही मर्मस्पर्शी योजना उपरोक्त पद्यों में की है।

अनङ्गहर्ष कृत 'तापस वत्सराज' नाटक के अलंकृत पद्यों की संस्कृत साहित्य में बड़ी ख्याति हुई है जिन्हें मम्मट, कुन्तक, भोजराज, राजशेखर, अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र तथा आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने अपनी कृतियों में उद्धृत करके सम्मानित किया है। इसके 'उत्कम्पिनीभय परिस्खलितांशुकान्ता' (२।१६) पद्य को आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में अत्यन्त मार्मिक व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। इस पद्य में वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता के आग में जलकर मर जाने का समाचार सुनकर विलाप कर रहे हैं जिसका वर्णन नाटककार ने किया है। वह कहता है कि (आग के डर से) काँपती हुई, भय से विगलित वासना, उन (कातर) नेत्रों की (रक्षा की आशा में) सब दिशाओं में फेंकती हुई, तुझको, अत्यन्त निष्ठुर एवं धूमान्ध अग्नि ने (एक बार) देखा भी नहीं और निर्दयता पूर्वक एकदम जला ही डाला।[3] यहाँ 'उत्कम्पिनी' पद से वासवदत्ता के भयानुभावों का मार्मिक उत्प्रेक्षण है।

---

१. श्रमण—देव ! पश्य पश्य !

बिभ्राण चारुचाभि करकमलमयं दाम दत्तं मघोना
पिंगे नांगेन सन्ध्याच्छुरित इव महानम्बुवा अस्तडिस्वान्।
उत्पाताविद्धमूर्तेर्दधदुपरि गिरेर्गैरिकांगस्यलक्ष्मी-
मन्तः सीमन्तरेखामिव वियति जवादिन्द्र सूनुस्तनोति (महावीर चरित ५।१४)

२. यथाचन्द्रालोकं कुमुदनिवहश्चुम्बकमणिं
  दृषत्सारस्तत्त्वामृतमपि भवाम्भोनिधिगतः।
तथा सैभाऽयैतौ हनुमदुपनीताद्रिमरुतं
  प्रटित्युज्जम्भेते किमपि गहनो वस्तुमहिमा॥ (महावीर चरितम् ६।५२)।

३. 'उत्कम्पिनीभयपरिस्खलितांशुकान्ता, ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा, धूमान्धितेन दहनेन नवीक्षितासि॥
तापस वत्सराज २।१६

अनर्घराघव के रचयिता 'मुरारि' ने नाट्यकला के क्षेत्र में अपना एक तीसरा मार्ग ही चलाया है किन्तु आलोचकों ने केवल उसे प्रयत्न मात्र ही स्वीकार किया है। नाटक की दृष्टि से तो अनर्घराघव सफल कृति नहीं मानी जाती किन्तु कविता पर्याप्त रूप में अच्छी है। 'सप्तम अंक में राम के लंका से अयोध्या आते समय 'मुरारि' ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है, परन्तु उस सुकुमारता का दर्शन नहीं मिलता जो कालिदास की कविता में मिलती है।'[1] अलंकरण प्रवृत्ति की ओर ध्यान अधिक रहने के कारण नाटककार कविताओं में मानव हृदय के भावों की परख नहीं कर पाया है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर मूलतः आचार्य हैं किन्तु उन्होंने बालरामायण, बाल भारत, विद्धशालभंजिका और कर्पूरमंजरी चार रूपक तथा नाटिका लिखी है जिनमें आये पदों में पूर्ण लालित्य एवं अलंकरण प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।[2] नाटकों के अलंकृत शैली का सबसे अधिक सफल प्रयोग जयदेव कृत 'प्रसन्न राघव तथा हनुमन्नाटक' में हुआ है। मनोरम स्थलों में जब नाटककार काव्य की भूमिका में उतर आता है तो रूपक और उपमा की शृंखला सी लग जाती है। सीता-स्वयंवर के अवसर पर देश-देशान्तर के राजे-महाराजे सभा-मंडप में विराजमान हैं जिसका वर्णन नाटककार जब 'प्रसन्न राघव' में करने लगता है तो उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखते ही बनता है। 'मतवाले हाथियों के दाँत से बनी मंचरूप कठपुतलियाँ राजभृत्यों के हाथों से लगे सूत्रों के सहारे इधर-उधर घुमाई जा रही हैं, ऐसा ज्ञात होता है, मानों हर धनुष उठाने के लिये उत्कण्ठित राजागण की चित्तवृत्ति ही नाच रही हो।[3] इसी प्रकार की कवितायें, श्री दामोदर मिश्र द्वारा संग्रहीत हनुमन्नाटक में भी पाई जाती हैं। युद्ध भूमि में जिस समय आकाश में बहते हुए आँसुओं से युक्त मृगतृष्णा वाले पर्वत सहित नील वानर लंकेश्वर सुभट रावण के धनुष के शिखर पर स्थित हुआ उस समय दिशाओं के मण्डल में स्थित देवताओं की यह बुद्धि हुई कि—धनुष के शृङ्ग पर तो भौंरा है और भौंरा के ऊपर

---

१. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' बलदेव उपाध्याय, तृ० सं०, पृ० ५२१।

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान्।
एकाग्रां यद्वहति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनोपम्यमम्भोरुहाणि॥ (अनर्घराघवम् ७।८२)

२. इन्दुर्लिप्त इवांजनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधू कण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥ (बालरामायण १।४२)

३. नटति नरकराग्रन्यस्तसूत्राप्रकम्प्र—
द्विपदशनशलाकामञ्च पाञ्चालिकेयम्।
त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठितानाम्—
अचिरमवनिपानां क्षमाभृतां चित्तवृत्तिः॥ (प्रसन्नराघव १।२८)

पर्वत है और उस पर्वत के ऊपर समुद्र है ।[1] इसमें सन्देह नहीं कि नाटकों के अन्दर ऐसी ही ललित कलाओं तथा अलंकृत वर्णनों को लाने के लिये ही कविताओं को महत्वपूर्ण स्थान मिला है जिसके मूल में है तत्कालीन काव्यों में अलंकृत शैली का बढ़ता हुआ महत्वपूर्ण प्रभाव। गद्य साहित्य और मुख्यतः नाटकों के माध्यम से अलंकारों की योजना करना तथा अलंकृत शैली का निर्वाह करना कठिन है किन्तु उपरोक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जिस अलंकरण की प्रवृत्ति ने भारतीय समाज एवं काव्य साहित्य को प्रभावित किया उसके प्रभाव से नाटक भी अछूते नहीं रह पाये क्योंकि उनके रचयिता भी उसी समाज के प्राणी थे जिसमें अलंकरण की प्रवृत्ति विद्यमान थी और उन लोगों ने अपनी रचनाओं में कविता को महत्वपूर्ण स्थान देकर अपनी अलंकरण प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है।

कथा, आख्यायिका में अलंकार

संस्कृत साहित्य में गद्यात्मक कलाओं का आरम्भ विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हो चुका था किन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता ।[2] प्राप्त सामग्री के आधार पर साहित्यिक गद्यात्मक कथाओं का इतिहास लगभग छठी शताब्दी के आस-पास 'सुबन्धु' के 'वासवदत्ता' नामक ग्रन्थ से आरम्भ होता है। संस्कृत साहित्य में प्रौढ़ गद्य साहित्य की सृष्टि कथाओं तथा आख्यायिकाओं के माध्यम से हुई है। अलंकार-प्रयोग के लिये गद्य यद्यपि उपयुक्त क्षेत्र नहीं है किन्तु संस्कृत साहित्य में ऐसी गद्य रचनाओं का नितान्त अभाव नहीं है जिनमें अलंकृत शैली के-उत्कृष्टतम रूप देखे जा सकते हैं। सुबन्धु, बाण तथा दण्डी की गद्यात्मक कृतियाँ गद्य काव्यत्रयी के भीतर रखी जाती हैं जिनमें तत्कालीन अलंकृत काव्यशैली के उत्तमोत्तम नमूने भरे पड़े हैं। अलंकृत-ललित काव्यों की ही भाँति उनमें कल्पना की उड़ान, अलंकारों की योजना तथा मोहक प्राकृतिक छटाओं और दृश्यों का विशद चित्रण अंकित है।

'वासवदत्ता' सुबन्धु के कल्पना की ही उपज है जिसका भारत की प्रसिद्ध आख्यायिका वत्सराज तथा उदयन की प्रेम कहानी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सुबन्धु के अनुसार सत्काव्य के लिये अलंकारों का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य और वक्रोक्ति का सन्निवेश अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि उन्होंने श्लेष और उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत तथा हरिवंश को अनेक प्रसिद्ध तथा अल्प प्रसिद्ध घटनाओं तथा पात्रों का प्रचुर

---

१. यदा नीलो लंकाधिपसुभटकोदण्डशिखरे ।
स्थितश्च चद्वाप्याकलितमृगतृष्णान्वितगिरिः ।
तदैवं देवानां मतिरजनि दिग्मण्डलजुषाम् ।
धनुःशृंगे शृंगस्तदुपरि गिरिस्तत्र जलधिः ॥ (हनुमन्नाटक १४।१४)

२. 'संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने ४।२।६० सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च) में, आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है......परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।'

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' बलदेव उपाध्याय, द्वि० सं०, पृ० ३२६।

निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। 'वासवदत्ता' में श्लेष शैली का अत्यन्त प्रौढ़ स्वरूप दिखलाई पड़ता है। सुबन्धु वस्तुतः श्लेष के कवि हैं। इन्होंने सभंग और अभंग उभय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने आख्यान को विचित्र मार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया है परन्तु उनके श्लेष कहीं-कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गये हैं कि उन्हें समझने के लिए विद्वानों का भी दिमाग चक्कर काटने लगता है।'[1] ग्रन्थ के एक प्रसंग में सुबन्धु एक राजा के यश-गुण का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'वह राजा यशोदा अन्वित, नन्द गोप के समान यश और दया से अन्वित था, जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ, आकाश में गमन करने वाले (सदा + नभो + गः) शुक्र के सदृश्य वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था।[2] प्रसन्न श्लेष का इतना रोचक एवं कमनीय उदाहरण काव्यों में भी मिलना कठिन है। चमत्कार-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक होने के कारण कथाकार ने श्लेष अलंकार को तो महत्वपूर्ण स्थान दिया ही है, इसके अतिरिक्त विरोध, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि नाना अलंकारों से भी उसने 'वासवदत्ता' का शृंगार किया है। इनकी अनेक उपमायें केवल शब्द-साम्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। 'रक्त-पाद' होने के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरण शास्त्र से दी है। अष्टाध्यायी का एक पद (४।२) 'तेन रक्तं रागात्' सूत्र से समन्वित है। उधर नायिका के भी पैर रक्तवर्ण के हैं। इस शब्द-साम्य के कारण ही यहाँ उपमा का चमत्कार है।'[3] गद्य काव्य के माध्यम से अलंकृत शैली के सफल निर्वाह की परम्परा सुबन्धु के इसी ग्रन्थ 'वासवदत्ता' से आरम्भ हुई जो 'बाणभट्ट' की कादम्बरी में पहुँचकर अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। 'हर्षचरित' गद्य शैली में लिखी बाण की एक और कथात्मक कृति है जिसका ललित वर्णन कम मोहक नहीं है किन्तु अलंकारों की अद्भुत छटा के दर्शन तो हमें उनके 'कादम्बरी' में ही होते हैं।

बाण में अनेक ऐसे गुण हैं जो अनेक कवियों में नहीं मिल सकते। रामायण, महाभारत आदि किसी भी काव्य को लीजिये उनमें सत्-असत् का कुछ न कुछ पचड़ा है ही किन्तु कादम्बरी में यह बात नहीं मिल सकती। अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग तथा अलंकृत लम्बे वाक्यों की सृष्टि बाण की अपनी विशेषता है जिसने उनकी कृति को अमरत्व प्रदान किया है। 'कादम्बरी' शब्द को ही यदि हम लें तो लेखक ने उसका प्रयोग नायिका के लिये, जो गन्धर्व राज चित्ररथ की कन्या थी, तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उससे प्रसंगानुकूल कदम्ब वृक्ष अथवा उसके पुष्प-रस, मदिरा, हाथी के मस्तक से झरने वाले मद-नीर, एक प्रकार की मादा पक्षी, विशेष प्रकार की मादा कोयल तथा गड्ढे में संग्रहीत बरसाती जल

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० २२९।

२. 'नन्दगोप इव यशोदयान्वितः जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः भार्गव इव सदा न भोगः दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितः रक्षितगुश्च।'
(संस्कृत साहित्य के इतिहास से उद्धृत)

३. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० २४०।

का भी अर्थ लिया जा सकता है। शब्द-चयन में ऐसी ही कारीगरी कादम्बरी के सम्पूर्ण कथा भाग में विद्यमान है ।

संस्कृत साहित्य में प्रकृति-वर्णन को महत्वपूर्ण स्थान तो मिला है किन्तु उसके कोमल एवं मंजुल स्वरूप के चित्रण में ही महाकवियों ने विशेष रुचि लिया है जिसका सबसे अधिक श्रेय कालिदास की रचनाओं को है। जिन कवि-कृतियों में प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन मिलते हैं उनमें उसके कोमल स्वरूप के दर्शन बहुत कम होते हैं किन्तु बाण की कादम्बरी इसका अपवाद है। इनकी लेखनी से प्रकृति के उभय पक्षों का चित्रण समान रूप से सफलता के साथ सम्पन्न हुआ है। प्रकृति के अनेक दृश्यों के वर्णन को सफल बनाने के लिये उन्होंने नाना अलंकारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या अलंकारों का तो उन्होंने स्तूप सा ही खड़ा कर दिया है। विन्ध्याटवी के भयंकर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरि तनया पार्वती के समान कुशलव (कुशलव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुन्दर अगरू और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस काम-परायणा उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो।[1] इसी प्रकार महर्षि जाबालि के आश्रम का अत्यन्त जीवन्त एवं अलंकृत वर्णन बाण ने कादम्बरी में किया है। विन्ध्याटवी वर्णन में प्रयुक्त शब्दों की निराली छटा कथाकार के अलंकार वर्णन की क्षमता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है। जहाँ लेखक को पुष्पों से सजे जंगल अथवा वृक्षों का वर्णन करना इष्ट रहा है उसने केवल उसके बाह्य छटा का ही चित्र नहीं किया है बल्कि उसकी रमणीयता एवं पवित्रता में भी उसका मन रमा है और यह कहकर कि विन्ध्याटवी पुष्पवती होकर भी पवित्र है, उसने श्लेष और विरोधाभास की अपूर्व सृष्टि की है।

कादम्बरी में प्रकृति के सम्यक् प्रभाव एवं सौन्दर्य का चित्रण तो हुआ ही है, उसके अतिरिक्त प्रकृति के नाना वस्तुओं के भी सुन्दर वर्णन मिलते हैं। 'वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये, भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, परन्तु 'परिसंख्या' अलंकार के तो वे सम्राट प्रतीत होते हैं।

---

१. अस्ति पूर्वापरजलनिधि वेलावनलग्ना मध्यदेशालंकारभूता मेखलेव भुवो वनकरिकुलमदजलसेकसंवर्धितैरतिविकचधवलकुसुमनिकरमत्युच्चतया तारागणमिव शिखरदेशलग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता मदकलकुररकुलदश्यमानमरिचपल्लवा············
············व्याधानुगम्यमानतरलतारकमृगा क्वचिद्गृहीतव्रतेव दर्भचीरजटावल्कलधारिण्यपरिमितबहुलपत्रसंचयापि सप्तपर्णभूषिता क्रूरसत्वापि मुनिजनसेविता पुष्पवत्यपि पवित्रा विंध्याटवी नाम ।

(कादम्बरी विन्ध्याटवीवर्णन)

बाण के समान किसी अन्य कवि ने श्लिष्ट परिसंख्या का इतना चमत्कारी प्रयोग शायद ही किया है। इन अलंकारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवन-शक्ति डाल दी है।[1] 'रसनोपमा' तथा 'परिसंख्या' के उदाहरण सटीक तो हैं ही, मनोरम भी हैं—

रसनोपमा का उदाहरण—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि, वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवयौवनेन......॥

'परिसंख्या' का उदाहरण—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः पुराणे वायुप्रलपितं, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवन-चन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजंगमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ॥[2]

'प्रभात' का जितना ललित एवं अलंकृत वर्णन बाणभट्ट ने किया है उतना महाकवि 'माघ' भी नहीं कर पाये हैं। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों को केशरि के लम्बे बालों (केसर) की उपमा देना तथा अरुणिम आकाश को कमल कहना बाण की ही प्रतिभा की सूझ थी।[3]

---

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० ३५८।

२. 'महाभारत में शकुनि नामक योद्धा का वध तो था किन्तु शकुनि यानी चिड़ियों का वध कहीं नहीं होता था। वायुजन्य प्रलाप केवल 'वायुपुराण' में ही था अन्यत्र कोई वायवी बातें नहीं करता था। बुढ़ापे में ब्राह्मणों के दाँत गिरते थे, वे जातिच्युत कभी नहीं होते थे क्योंकि सदाचार की अपूर्व महिमा विराजमान थी। जड़ता (कठोरता, मूर्खता) केवल उपवन के चन्दनों में ही, अन्यत्र नहीं। अग्नि ही केवल भस्म धारण करती थी, अन्य नहीं। गीत सुनने का बुरा व्यसन मृगों को छोड़कर और किसी में नहीं था। नृत्य मोर को छोड़कर और किसी को प्रियकर नहीं था। भोग (फण)के लिये स्थान सर्पों में ही था, मनुष्यों में नहीं। वानरगण ही श्रीफल (बिल्व) के अभिलाषी थे, अन्य लोग लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) की इच्छा नहीं रखते थे। अधोगति वृक्षों की जड़ों में ही था, मनुष्यों में नहीं।'

३. 'एकदा तु प्रभातसंध्यारागलोहिते गगनतलकमलिनीमधुरक्तपक्षसंपुटे वृद्धहंस इव मन्दाकिनीपुलिनादपरजलनिधितटमवतरति चन्द्रमसि परिणतरंकुरोमपाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले गजरुधिररक्तहरिसटालोमलोहिनीभिरातप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिरायामिनीभिरशिशिरकिरणदीधितिभिः पद्मरागशलाकासंमार्जनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे तारागणे............परिभ्रमदुद्घोणवनवराहरवघर्घरो गिरिगुहासुप्तप्रबुद्धसिंहनादोपबृंहितः कम्पयन्निव तरून्भगीरथावतार्यमाणगंगाप्रवाहकलकलबहलो भीतवनदेवताकर्णितो मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरत्। आकर्ण्य च तमहमश्रुतपूर्वमुपजातवेपथुरर्भकतया जर्जरितकर्णविवरो भयविह्वलः समीपवर्तिनः पितुः प्रतीकारबुद्ध्या जराशिथिलपक्षपुटान्तरमविशम्। (कादम्बरी)

लेखक के सामने वर्णन करते समय जब विशेषणों की बाढ़ आ जाती है तो उसके विलम्बित वाक्य सीमा जानते ही नहीं। आरम्भ ही में बाणभट्ट ने राजा शूद्रक का वर्णन किया है जो अपने विपुल विस्तार के साथ एक ही वाक्य में समाप्त हो जाता है। लम्बे एवं क्लिष्ट-श्लेषयुक्त वाक्यों के प्रयोग एवं अलंकृत शैली के सफल निर्वाह में बाण सम्पूर्ण संस्कृत गद्य साहित्य ही में नहीं, काव्य क्षेत्र में भी अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। महाकवि होने की उनमें सभी योग्यतायें हैं और उनकी कादम्बरी में महाकाव्य की।

संस्कृत साहित्य की गौरवमयी गद्य काव्यत्रयी में 'दण्डी' कृत 'दशकुमारचरित' का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ अपने आख्यानों की रोमांचकता तथा कौतूहलपूर्णता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध है। दशकुमार की सरस, मार्मिक एवं ललित शैली को देखकर कहा जा सकता है कि उन्होंने सुबन्धु तथा बाण दोनों में से किसी की भी गद्य-शैली का अनुकरण नहीं किया है बल्कि अपनी मौलिकता के बल पर एक नवीन गद्य-शैली की उद्भावना की है, जिसमें अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पदलालित्य तथा स्वाभाविक चित्रण पूर्ववर्ती लेखक सुबन्धु और बाणभट्ट की अपेक्षा अधिक है। **'दण्डी की गद्य-शैली बड़ी ही सुबोध, सरस तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कहीं दबा हुआ है और न कहीं समास के प्रहार से प्रताड़ित है। उसकी प्रासादिकता दण्डी की निजी विशेषता है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से सदा बचाते हैं। इसीलिये इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मंजी हुई और मुहावरेदार है।'**[1] अलंकृत शैली को अपनाते हुए भी वर्णन की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखना 'दशकुमारचरित' की सबसे बड़ी विशेषता है क्योंकि दण्डी ने स्वाभाविकता को अलंकरण में सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया है। बाणभट्ट की अलंकृत शैली का प्रभाव परवर्ती कवियों एवं आख्यायिका-कारों पर सबसे अधिक पड़ा। 'धनपाल' कृत 'तिलक मंजरी' तथा 'वादीभ सिंह' कृत 'गद्य-चिंतामणि' और वामनभट्ट कृत 'नेमभूपाल चरित' ऐसी ही रचनायें हैं जिनपर 'बाण-भट्ट' की अलंकृत गद्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इस शैली का अनुकरण आगे चलकर हिन्दी के भी कुछ गद्य लेखकों ने किया है 'श्यामा स्वप्न' जिसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

गद्यकारों की अद्भुत अलंकृत और वर्णन शैली को देखकर ही बाद में यह प्रसिद्ध हो गया कि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य की कवियों की कसौटी है। इन गद्य आख्यायिकाओं में अलंकरण शैली का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है।

मुक्तक काव्यों का उदय और अलंकरण की वृत्ति

काव्य-परम्परा के रूप में मुक्तकों का विकास प्रबन्ध-काव्यों के बाद में होने पर भी इसका इतिहास अति प्राचीन है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो काव्य साहित्य का आरम्भ मुक्तक से ही हुआ। आदि कवि वाल्मीकि के कण्ठ से कविता की परम्परा प्रबन्ध-काव्य के रूप में नहीं बल्कि मुक्तक के रूप में ही फूटी थी। अनुभूत भावों के चित्र सर्वप्रथम कविता में मुक्तकों के रूप में ही आते हैं, बाद में कवि अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के सहारे उसे प्रबन्ध अथवा महाकाव्य का स्वरूप प्रदान करता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए

---

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० ३७१।

सन्दर्भ आदि अन्य बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न करने वाले तथा अपने अर्थ को व्यक्त करने में स्वतः समर्थ होने के कारण उपदेश तथा नीति सम्बन्धी उक्तियों के लिए मुक्तकों का सम्मान सदैव रहा है। भारतीय साहित्य में उपदेश तथा नीति प्रधान वर्णनों को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण मुक्तकों की उपेक्षा कभी भी नहीं की गई। विदुरनीति आदि ऐसी अमूल्य निधियाँ हैं जिन्हें साहित्य की सीमा से अलग नहीं किया जा सकता और वे सभी मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत ही आती हैं। किन्तु श्रृंगारिक मुक्तकों का विकास, जिनमें अलंकरण वृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है, दरबारी सभ्यता के प्रभाव में ही हुआ है। जिस लौकिक अथवा ऐहिकता परक मुक्तकों से हमारा यहाँ तात्पर्य है वे संस्कृत में तो नहीं किन्तु प्राकृत में विद्यमान थीं जो बाद में चलकर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं। दो प्रमुख ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मुक्तकों के लिए नितान्त अनुकूल ठहरती हैं। प्रथमतः जब मानव-कल्पना से दूर रहकर अपने मानव सुलभ आकर्षण, हर्ष, उन्माद, विषाद एवं प्रेम-जन्य सुख अथवा पीड़ा का अनुभव करता है तो उसमें सच्चाई एवं तीव्रता तो होती है, किन्तु अलंकार विधान एवं प्रबन्ध-कल्पना की आशा करना ऐसे वर्णनों में अवांछित है, क्योंकि उन्हें न तो ये सब पचड़े आते हैं और न वे पड़ना ही चाहते हैं। ये रचनायें धारावाहिक रूप में न लिखी जाकर फुटकल श्लोकों में लिखी जाती हैं, किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र का अवलम्ब लेकर न लिखी जाकर छोटे-छोटे अपने आप में पूर्ण रसमय पद्यों में लिखी जाती हैं जिसके प्रमाण स्वरूप आभीर जाति से सम्बन्ध रखने वाली अपभ्रंश भाषा की मुक्तक कविताओं को लिया जा सकता है। दूसरे प्रकार के मुक्तकों की रचना उस सामाजिक परिस्थिति में होती है जिसे राजसी वातावरण अथवा दरबारी सभ्यता या राजन्य संस्कृति कह सकते हैं। इस स्थिति में कवि एवं साधक की वे कठिनाइयाँ जो उसकी रचना के प्रचार, प्रसार एवं संरक्षण के क्षेत्र में पड़ती हैं बहुत कुछ दूर हो जाती हैं। राजदरबारों के माध्यम से कवि एवं कलाकारों के बीच की दूरी समाप्त हो गई। एक ही स्थान पर अनेक कवियों को अपनी रचना सुनाने तथा दूसरों की रचनाओं को सुनने का अवसर मिलने लगा, जिससे जीवन भर साधना करके महाकाव्यों की सृष्टि के लिये ही विवश नहीं होना पड़ा बल्कि प्रतिद्वन्द्विता के लिये भी उन्हें पूर्ण अवकाश मिलने लगा। परिणामतः उक्ति वैचित्र्य तथा प्रभावगाम्भीर्य की ओर कवियों की दृष्टि का जाना आवश्यक हो गया, जो मुक्तकों के माध्यम से ही सम्भव था। प्रबन्ध-काव्यों तथा महाकाव्यों की परम्परा चली ही आ रही थी और उनमें अलंकरण की प्रवृत्ति को प्रमुख स्थान भी मिल चुका था, जिससे मुक्तकों के लिये भी तत्कालीन दरबारी रुचि को ग्रहण करना अनिवार्य था। इन्हीं परिस्थितियों में अपनी विशिष्टता के साथ अलंकृत काव्यों के सद्गुणों को समाहित करते हुए मुक्तक-काव्यों की अलंकृत परम्परा उठ खड़ी हुई जिसके साथ उसके पूर्व रूपों, नीति, उपदेश तथा स्तोत्र-साहित्य का भी विकास होता रहा।

लौकिक तथा धार्मिक, मुक्तकों के दो मोटे-मोटे भेद किये जा सकते हैं। लौकिक मुक्तकों के अन्दर प्रेमपरक-भावना, रमणी का सौन्दर्य, रूप छटा के रंगीन चित्र, श्रृंगार की भिन्न-भिन्न अवस्था का मार्मिक चित्र तथा स्थूल श्रृंगार से सम्बन्धित वर्णन आदि के चित्रण आते हैं और धार्मिक मुक्तकों के अन्दर नीति, उपदेश तथा स्तोत्र अथवा विशिष्ट देवता की

स्तुति आदि से सम्बन्धित कवितायें आती हैं। धार्मिक मुक्तकों का इतिहास 'वेद' से जोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रमुख साहित्यिक मुक्तककारों में भर्तृहरि का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है।

नीतिशतक, शृंगारशतक तथा वैराग्यशतक भर्तृहरि के तीन प्रमुख साहित्यिक मुक्तक संग्रह हैं। नीतिशतक के विचारों में प्रौढ़ता तो है ही, उसकी अभिव्यक्ति इतनी स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक है कि पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। शृंगारशतक में शृंगार के अत्यन्त चटकीले वर्णन कवि ने किये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नारी की सच्ची परख उनमें विद्यमान है। प्रेमी जनों की कामुक मनोवृत्तियों तथा उनके प्रदर्शन की सभी भाव-भंगियों के सुन्दर चित्र 'शृङ्गार शतक' में आये हैं। कवि प्रतिभा का प्रौढ़तम रूप उसके 'वैराग्य-शतक' में दिखलाई पड़ता है जिसमें वह सन्तोष को परम सुख तथा वैराग्य को एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार करता है। सांसारिक आकर्षणों में आकण्ठ डूबा व्यक्ति भी किस प्रकार सन्तोष एवं वैराग्य से उत्पन्न सुख की ओर ललचाई आँखों से देखता है, इसको कवि ने अत्यन्त चमत्कारपूर्ण एवं सजीव उक्तियों के द्वारा व्यक्त किया है। निश्चय ही वे धन्य हैं जो पर्वत की गुफाओं में बैठकर परम एवं अलख ज्योति का ध्यान करते हैं तथा जिनकी गोदी में बैठे हुए पक्षीगण नेत्रों से प्रवाहित आनन्द के आँसुओं की बूंदों को पिया करते हैं। किन्तु हमारी आयु कामना से निर्मित महल, बावली और उपवन में विहार करने से प्रतिदिन क्षीण होती रहती है। सांसारिक व्यक्ति दिन-रात गृहस्थी की चिन्ता में मग्न अपना जीवन व्यर्थ बिताया करता है।'[1]

अमरुशतक के शृङ्गार-मुक्तक संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं। आनन्द वर्धनाचार्य ने तो उसके एक-एक मुक्तक को पूरे एक प्रबंध के समान कहा है। 'जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाये जा सकते हैं, अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्हीं ने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है तथा कामी तथा कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। ये पद्य क्या हैं ? संस्कृत साहित्य के चमकते हीरे हैं।[2]

मुख्यतः रससिद्ध रचना होते हुए भी अमरुशतक के मुक्तकों की रस-धारा में पग-पग पर अनेक हीरक तथा मुक्ताखंडों के सदृश्य अलंकारों की शृंखलायें वर्तमान हैं। कवि प्रतिभा ने एक ही मुक्तक में रस का पूर्ण परिपाक करते हुए विशेषोक्ति तथा काव्यलिंग जैसे अलंकारों का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। नायक के साधारण अपराध पर नायिका के मान कर लेने के कारण नायक द्वारा उसके प्रति कहे गये प्रीतिपूर्ण वचन उसे प्रसन्न

---

१. धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥ (वैराग्य शतक)

२. बलदेव उपाध्याय-'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ०, सं०, पृ० २८९।

करने में असमर्थ हो रहे हैं जिस पर सखी नायक से कहती है कि तुम्हारे प्रीति वचनों से भी मानिनी का क्रोध शांत न होगा, (विशेषोक्ति अलंकार) क्योंकि तुमने ही प्रेम का सहारा देकर अधिक काल तक लाड़-प्यार किया है और तुम्हीं ने आज अपराध करके जो उसे रुष्ट कर दिया, वह अत्यन्त स्वाभाविक है (काव्यलिंग अलंकार) अतः जब तक इसे जी खोलकर करुण स्वर से रो न लेने दिया जायगा तब तक इसका दुःख दूर नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह रो न लेगी तो दुख के भार से इसका हृदय विदीर्ण हो जायगा।[1] इसी प्रकार एक सखी माननी नायिका को समझाती हुई कहती है कि 'हे कठोर हृदये ! बाहर तेरा प्राणनाथ नीचा मुख किये धरती कुरेद रहा है, सखियों ने कुछ खाया-पिया नहीं और उनकी आँखें निरन्तर रोने से सूज गई हैं, पिंजरे के तोते ने हँसना, पढ़ना सब छोड़ दिया है, और तेरी यह दशा है, इसलिए अब भी मान छोड़ दे।[2] इस एक ही पद्य में कवि ने नायिका के दुःख से उसके साथ सबको दुःखी दिखलाकर सहोक्ति, मानिनी के दुःखी होने के कारण प्रियतम, सखी और शुक को दुःखी बताकर प्रथम असंगति तथा एक बहाने की आड़ लेकर सखियों को अपना कार्य साधन करती दिखला कर पर्यायोक्ति अलंकारों की योजना की है।

मल्लट कवि कृत 'मल्लट शतक' में अनेक प्रकार के मुक्तक संग्रहीत हैं किन्तु उनमें अन्योक्ति की बहुलता है। स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा, उपमा तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के सुन्दर उदाहरण इस संग्रह से प्राप्त किये जा सकते हैं।

गोवर्धनाचार्य रचित 'आर्यासप्तशती' प्रथम सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसमें शृंगारपरक लौकिक मानवीय भावों की सफल अभिव्यक्ति संस्कृत में कहे जाने वाले आर्या मुक्तक छन्दों में हुई है। प्राकृत भाषा में लिखे मुक्तक छन्दों में एक रचना-संग्रह 'हाल' द्वारा संग्रहीत इस प्रकार की मिलती है, जिसका रचयिता एक नहीं, अनेक हैं। किन्तु आर्यासप्तशती एक ही कवि की रचना है जिसने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में लिखे जाने वाले शृंगारिक दोहों को भाव अथवा काव्यरूप, दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावित किया है। 'इनसे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इतने सुचारु रूप से नहीं लिखा था। शृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन भी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसभरी स्वाभाविक उक्तियाँ मनोहर हैं। कवि मानव-हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा

---

१. दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवता चेयं चिरं लालिता
दैवादद्य किल त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम् ॥
मन्युर्दुःसह एव यात्युपशमं नो सान्त्ववादैः स्फुटं
हे निस्त्रिंश विमुक्तकण्ठकरुणं तावत्सखी रोदितुम् ॥ (अमरुशतक, ५)

२. लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ॥
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकै—
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना (अमरुशतक, ८)

पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है।'[१] किसी सुन्दरी स्त्री के देख भर देने से कितने ही नवयुवक उसे आकर्षण मानकर अपना हृदय दे बैठते हैं तथा उस स्त्री को पूर्णतः अपना बना लेने के लिए उतावले हो जाते हैं, इसे गोवर्धनाचार्य ने भलीभाँति परखा है। ऐसे ही नवयुवकों के प्रति अपने भाव एक 'आर्या' में प्रकट करते हुए वे कहते हैं, कि आधी नज़र से कहीं तुम्हें उसने देख भर लिया है, इतने पर ही तुम उसके हृदय तक पर कब्जा करना चाहते हो, तुम्हारा इस प्रकार से उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ना उचित नहीं।'[२]

अन्योक्ति के तो एक से एक सुन्दर उदाहरण आर्यासप्तशती में भरे पड़े हैं। दूसरों के इशारों पर तथा हाथों में पड़कर अनुचित कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिये ही उपदेश स्वरूप आर्याकार ने शिकारी कुत्ते को माध्यम बनाकर कहा है कि 'ओ शिकारी के कुत्ते! इसमें परिश्रम और दूसरों की हत्या मात्र ही तेरे हिस्से पड़ेगी। अपने शिकार में जिस हरिण को तू मार रहा है—अभी तुझे दूर हटाकर लोग बाँट लेंगे, ऐसी स्थिति में तू क्यों व्यर्थ दूसरों की हत्या का भागी बनता है।'[३] इस आर्या के भाव को कविवर बिहारी ने अपने एक दोहे में तद्वत् उतार लिया है।[४] एक नायिका को उबटन लगाती हुई सखी की असमर्थता के कारण का चित्रण गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी आर्या में किया है जिसे देखकर कवि की अनुप्रास योजना की परिपुष्टता का प्रमाण मिल जाता है। सखी झुँझलाकर नायक को नायिका से दूर हटकर बैठने का इसलिये आग्रह करती है कि उसके सान्निध्य के कारण ही नायिका का शरीर सात्विक स्वेद से भींग जाता है और वह पंखा झल कर भी उबटन सुखाने में असमर्थ हो जाती है जिससे वह शरीर में लिपटा ही रह जाता है।'[५]

जयदेव के 'गीतगोविन्द' में सर्गों को परस्पर मिलाने के लिये तथा कथा की सूत्रता को बनाये रखने के लिये एकाध वर्णनात्मक पद्य भले ही आ गये हों किन्तु सम्पूर्ण कृति में मुक्तकों का ही चमत्कार दिखलाई पड़ता है। विरहिणी राधा का कवि ने बड़ा ही हृदय-द्रावक एवं मार्मिक वर्णन अत्यन्त कोमल और अलंकृत शैली में किया है। 'विरहिणी राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही है। जान पड़ता है मानों राहु के विकट दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा निकल पड़ी

---

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० ३०३।

२. 'निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमंगुलिदाने भुजं गिलसि ॥ (आर्या ३३९)

३. 'आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय! तव सारः
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः ॥' १०० (आर्यासप्तशती)

४. 'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचार।
बाज़ पराये पानि पर तू पंछीहि न मार ॥' ३३१ (बिहारी)

५. 'सुभग व्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं वयस्यापि।
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किंचिदपगच्छ ॥' ६६० (आर्यासप्तशती)

है[1]। प्रेम की उदात्त एवं मर्मस्पर्शी भावना की अपूर्व व्यञ्जना तो कवि ने की है, साथ ही साथ उपमा की अद्भुत कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की इतनी ऊँची उड़ान उसकी रचना को अलंकृत शैली की कुछ थोड़ी सी इनी-गिनी रचनाओं में बिठाने के लिये पर्याप्त है।

निवेदन किया जा चुका है कि इन लौकिक, शृंगारिक मुक्तकों में नीति तथा उपदेश प्रधान मुक्तकों के साथ ही साथ स्तोत्र मुक्तक भी बराबर लिखे जा रहे थे जिसमें 'शिवमहिमा स्तोत्रम्', 'सूर्यशतक', 'चण्डीशतक', 'सौन्दर्यलहरी', 'मुकुन्दमाला स्तोत्र', 'आल-मन्दार स्तोत्रम्' अथवा 'स्तोत्ररत्न', 'कृष्णकर्णामृत' 'लक्ष्मी-सहस्त्र', 'वैष्णवस्तोत्र' तथा 'भामिनीविलास' मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त शैव, जैन तथा बौद्ध नाम से अनेक स्तोत्र लिखे गये जिनमें काव्यात्मकता की अपेक्षा उपदेश अधिक हैं।

भक्तों ने नाना प्रकार से भगवान् की आराधना की है तथा उसके अलौकिक मोहक रूप की नाना कल्पनायें भी की हैं किन्तु सबमें एकता इस बात की रही है कि सबने अपने भक्ति-पूरित हृदय की अभिव्यक्ति उसके सामने करनी चाही है। आनन्द-विभोर होकर उन लोगों ने जिन भावों को वाणी दी है, वे संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। आचार्य पुष्पदन्त, जिन्हें ही कुछ लोग 'शिवमहिम्न' स्तोत्र का रचयिता मानते हैं, भगवान् शिव की स्तुति में असीम साधनों को अपनी कविता में सीमित करना चाहा है। मयूरभट्ट का समय साहित्य का वह काल था जिसमें 'कादम्बरी' ऐसी अलंकृत रचना का उदय हुआ था और अनेक विद्वानों ने तो उन्हें बाणभट्ट का सगा-सम्बन्धी भी माना है जिससे उनके 'सूर्यशतक' में अलंकारों का उत्तमोत्तम प्रयोग हुआ है। 'मयूर' मुख्यतः 'शब्दों' के चमत्कार पर ही बल देते जान पड़ते हैं जिससे चमत्कृत तथा नोक-झोंक के शब्दों की योजना में बेजोड़ हैं। बाणभट्ट कृत 'चण्डीशतक' के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, वे तो अलंकृत शैली के सम्राट ही हैं। उनकी 'चण्डीशतक' लम्बे-लम्बे समास तथा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त अन्य स्तोत्र काव्यों में भी अलंकृत शैली के स्पष्ट प्रभाव उस समय देखे जा सकते हैं जब कवि अपने आराध्य की लीला, छबि अथवा यश का वर्णन करने लगा जाता है। भगवान शंकर का गुण-गान करते हुए कवि लिखता है कि 'नीलगिरि के समान यदि काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्प-वृक्ष की डाल लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो, इन उपकारणों से युक्त होकर यदि भगवती सरस्वती सदा आपके गुणों को लिखें, तो भी हे भगवान्! वह आपके गुणों की सीमा तक नहीं पहुँच सकतीं।[2]'

---

१. वहति च चलित-विलोचन-जलभर-मानन-कमलमुदारम्।
विधुमिव विकट विधुन्तुद-दन्त-दलन-गलितामृतधारम्॥
(गीतगोविन्द)

२. असितगिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥
(शिवमहिम्नः स्तोत्र)

काव्य-शास्त्र में अलंकार का स्थान

शास्त्र और काव्य वाङ्मय के मुख्य दो भेद हैं। काव्य-ज्ञान के लिये शास्त्र-ज्ञान उतना ही आवश्यक है, अंधेरे में पड़ी वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये जितना दीपक। जिससे काव्यों का अध्ययन करने के पूर्व काव्य-शास्त्र का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। आजकल काव्य का अत्यन्त व्यापक अर्थ लिया जाने लगा है और उसका प्रयोग बहुधा साहित्य के सामान्य अर्थ में भी होने लगा है किन्तु आरम्भ में काव्य से केवल कविता का ही अर्थ लिया जाता था। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में अलंकार शास्त्र का सम्बन्ध सदैव कविता से ही रहा है। पाश्चात्य साहित्य में स्थिति ठीक इसके प्रतिकूल है। इस क्षेत्र में अभी तक जितनी लिखित एवं प्रकाशित सामग्री प्राप्त हो सकी है उसमें काव्य-शास्त्र पर लिखी 'अरिस्टाटिल' की 'पोइटिक्स' सबसे प्राचीन रचना है जिसमें उसने काव्य की व्यापक विशेषताओं की चर्चा की है। उसकी दूसरी पुस्तक 'रिटरिक' (Rhetoric) प्रथम पुस्तक 'पोइटिक्स' (Poetics) से बिल्कुल भिन्न है जिसमें उसने केवल गद्य सम्बन्धी विषय, शैली, भाषा, गति तथा अलंकार आदि पर विचार किया है। इस प्रकार उसने अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध गद्य साहित्य से तथा काव्य-शास्त्र का सम्बन्ध कविता अथवा पद्य से स्थापित किया। किन्तु संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य की शास्त्र सम्बन्धी धारणा पाश्चात्य साहित्य से बिल्कुल भिन्न है और यहाँ तक कि प्राचीन काल में तो अलंकार शास्त्र ही को काव्य-शास्त्र माना जाता रहा। **'क्योंकि काव्य के लक्षण पद्य-काव्य में ही विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्य के विविध स्वरूपों का व्यापक विवेचन करने वाले नाट्य-शास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्य-मीमांसा, काव्य-प्रकाश प्रभृति ग्रन्थों को अलंकार-ग्रन्थों के नाम से ही निर्दिष्ट किया जाता है और इन सभी के विषय को अलंकार-शास्त्र की संज्ञा दी जाती है।'**[1] किन्तु यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि अलंकार-शास्त्र से एकमात्र अर्थ अलंकारों के विवेचन का ही निकलता है। काव्य के स्वरूप एवं उसकी रचना-प्रक्रिया तथा उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले शास्त्र को अलंकार-शास्त्र नहीं बल्कि 'काव्य-शास्त्र' ही कहना उपयुक्त है। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-शास्त्र काव्य-शास्त्र का ऐसा महत्वपूर्ण अंग है जिसके अभाव में उसका वैभव नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। आरम्भ से ही कविता के अन्दर अलंकारों की महान् प्रतिष्ठा रही है किन्तु उन्हें सौन्दर्य वर्द्धन के साधन के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा, न कि साध्य के रूप में जैसा आगे चलकर कुछ कवियों ने करना आरम्भ कर दिया है। काव्य से जब तक कविता मात्र का बोध होता रहा, तब तक अलंकार-शास्त्र को ही काव्य-शास्त्र के रूप में स्वीकार किया गया किन्तु काव्य शब्द की व्यापकता के साथ ही साथ काव्य-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र का वैभिन्न स्वीकार किया जाने लगा। अलंकार-शास्त्र की सीमाओं का उल्लेख किया जा चुका है। **'काव्य-शास्त्र का प्रयोग उस वैज्ञानिक निरूपण के लिये कर सकते हैं जिसमें काव्य अथवा कविता के स्वरूप, भेद, समस्याओं आदि पर व्यापक रूप से विचार किया गया हो। इसमें किसी भी भाषा की कविता के आधार पर उसका स्वभाव निरूपण, प्रवृत्ति-निर्धारण**

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र० सं०, पृ० ३-४।

आदि से लेकर ऐसे सर्वकालीन सिद्धान्तों तक का समावेश हो सकता है जोकि भविष्य में होने वाली रचनाओं के पथ-प्रदर्शक बन सकें[1]। साहित्य व्यवस्था का यह महत् कार्य काव्य-शास्त्र अपने जिन विभिन्न शास्त्र अंगों के माध्यम से सम्पन्न करता है उन्हें विद्वानों ने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य छः सम्प्रदायों में विभक्त किया है।

रस-सम्प्रदाय

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी प्राप्त ग्रन्थों के आधार 'भरतमुनि' का 'नाट्य-शास्त्र' ही अनेक दृष्टियों से काव्य-शास्त्र का लिखा प्रथम ग्रन्थ है। वैसे तो राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य-मीमांसा में इसकी उत्पत्ति का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। प्रथम पृष्ठ पर ही उसने लिखा है कि 'भगवान् शंकर ने इस काव्य विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को दिया था—उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों-ऋषियों को दिया जिनसे इसका प्रचार हुआ।' मूलतः यह प्रश्न अवश्य उठ खड़ा होता है कि अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौन-सा है। आधुनिक युग के कुछ लेखकों ने अग्निपुराण को अलंकार-शास्त्र का प्रथम और मौलिक ग्रन्थ माना है। किन्तु ऐतिहासिक असंगतियों के कारण अग्निपुराण अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का मौलिक ग्रन्थ नहीं ठहरता। 'भारती रीति' के सम्बन्ध में मत प्रकट करते समय अग्निपुराणकार ने लिखा है कि इसका नाम इसके जन्मदाता 'भरत' के नाम पर ही पड़ा है।[2] 'भरतमुनि' ने भी स्वीकार किया है कि उन्होंने ब्रह्मा की आज्ञा से चार वृत्तियाँ चलाईं, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि अग्निपुराणकार के सम्मुख भरत का नाट्य-शास्त्र अवश्य था। यदि सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र नहीं भी था तो इसका वह अंश तो अवश्य ही था जिसमें वृत्तियों का प्रसंग है। अग्निपुराण के अन्दर अनेक ऐसे छन्द भी आये हैं जो भरत के नाट्य-शास्त्र में पाये जाते हैं। अनेक कारणों अथवा तर्कों के आधार पर भरत का नाट्य-शास्त्र ही काव्य सिद्धान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ठहरता है।

भरत के समय में नाटकों का ही बोलबाला था। इसलिये भरत ने नाट्य-रस का ही विस्तृत व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-सम्प्रदाय के भरत मुनि सर्व-प्रथम आचार्य हैं और उनका नाट्य-शास्त्र काव्य-शास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ होने के कारण, रस-सम्प्रदाय काव्य-शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। भरत के नाट्य-शास्त्र से यह भी प्रकट होता है कि उसके भी पूर्व रस की चर्चा होती थी। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अलंकार का सम्बन्ध विशेषतः कविता से ही माना गया है और अधिक दिनों तक रस को नाटकों का ही विषय माना जाता रहा। काव्यों में रस की स्वतन्त्र स्थिति सबसे पहले आचार्य रुद्रट ने स्वीकार की क्योंकि भरत ने रस विवेचन के लिये मुख्यतः नाटकों को ही लिया है। जिसमें उन्होंने शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र आठ रस स्वीकार किये हैं। नाट्य-शास्त्रकार ने इस पर ही विशेष बल दिया है कि

---

१. डा० भगीरथ, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र० सं०, पृ० ४-५।

२. 'भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते।' (अग्निपुराण)

नाटक का प्रमुख लक्ष्य रस का अनुभव करना है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में इस विचार को स्वीकृति बाद में चलकर मिली। रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस को ही काव्य का प्रधान गुण-धर्म माना जाता है और अलंकारों की उपयोगिता केवल उसके सौन्दर्य वर्द्धन के लिये ही स्वीकार की जाती है। अलंकारों के अभाव में कविता रची जा सकती है किन्तु रस से हीन सुन्दर कविता की कल्पना नहीं की जा सकती। 'यदि कहीं स्पष्ट रूप से अलंकार न भी हों तो भी वहाँ रसादि के होने से काव्यत्व में कोई क्षति नहीं हुआ करती[१]।'

कविता का सम्बन्ध जितना हृदय से है उतना बुद्धि से नहीं जिससे उसका प्रभाव भावात्मक ही होता है, विचारात्मक नहीं। मानव मन की कुछ ऐसी स्थायी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उसके अन्तर्मन में सदैव विद्यमान रहती हैं, जिन्हें सहज रूप में जानना कठिन होता है किन्तु अवसर आने पर वे सुप्तावस्था में ही नहीं पड़ी रहतीं बल्कि परिस्थितियों की चोट खा कर वे अत्यन्त सजग एवं जागरूक हो जाती हैं। आघात पहुँचाने वाली ये परिस्थितियाँ सांसारिक और काव्यात्मक दो प्रकार की होती हैं। काव्यमयी अनुभूतियाँ ही जब सुप्तावस्था में पड़ी अन्तर्वृत्तियों को झकझोर कर सजग कर देती हैं तो रसानुभूति होने लग जाती है। 'रसानुभूति का ढंग मनोवैज्ञानिक है। स्थायी वृत्तियाँ, स्थायी भाव कहलाती हैं। काव्यगत परिस्थितियाँ जो स्थायी भावों को जगा देती हैं विभाव कहलाती हैं। आलम्बन के द्वारा भाव जाग्रत होते हैं और 'उद्दीपन विभाव' के द्वारा उत्तेजित होते हैं। स्थायी भावों के अतिरिक्त अन्य भाव जो हमारी रसानुभूति के सहायक होकर आते-जाते रहते हैं 'संचारी भाव' कहलाते हैं और जिन चेष्टाओं, क्रियाओं या चिह्नों से आन्तरिक 'स्थायी भाव' का प्रकाशन होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं[२]।' इन्हें ही 'रस' के मुख्य अंगों के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसे नाट्य-शास्त्र में भरतमुनि ने भी स्वीकार किया है। भरत ने विभावानुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति मानी है[३], जिसके ही आधार पर आगे चलकर रसानुभूति के विषय में अनेक सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है। जिसके उन्नायकों में रुद्रट, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त के नाम प्रमुख हैं जिनमें अन्तिम चार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

रुद्रट उन आचार्यों में प्रथम हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र को विवेचन के अन्दर रस को स्थान दिया।[४] उसने भरत के गिनाये आठ रसों में 'प्रेयस' और 'शान्त' दो रसों को जोड़कर उनकी संख्या दस कर दी। रसानुभूति के व्यापारों को स्पष्ट करने का किसी भी प्रकार का

---

१. 'दोषास्तगुणालंकाराः कथ्यन्ते काप्रीत्यनेनैतस्सर्वत्र सालंकारौ,
कचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।' (काव्यप्रकाश।)

२. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्रथम संस्करण, पृ० २०।

३. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। (भरत नाट्य-शास्त्र, अध्याय ६)

४. 'Rudrata on the other hand, seems to be the earliest writer who explicitly includes the Rasa in his treatment of poetics and devotes four chapters to its discussion'' History of Sanskrit Poetics-by S. K. De. Vol. II

प्रयत्न रुद्रट के सिद्धान्त में नहीं दिखलाई पड़ता। जिसको स्पष्ट करने का प्रथम श्रेय भट्ट लोल्लट को ही है। भट्ट लोल्लट का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता जिससे हमें केवल अभिनव गुप्त की व्याख्या में आये उद्धरणों पर ही सन्तोष करना पड़ता है। वे विभाव और रस में कारण-कार्य का सम्बन्ध मानते हैं। 'विभाग इत्यादि कारणों से रति इत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं और अनुभावों के द्वारा वे प्रतीति-योग्य होते हैं और इस प्रकार अभिनेता में भी रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि अभिनेता में वह भाव प्रतीति कैसे होती है और फिर उनको देखने से दर्शक के हृदय में रसानुभूति किस प्रकार से होती है ? विभाव और रस का सम्बन्ध भी लोल्लट के द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है।'[1] जिसे शंकुक ने अपने 'अनुभूति' सिद्धान्त की दुर्बलता का संकेत करते हुए उसका खंडन किया और रस को कार्य स्वरूप न मानकर 'भरत' की 'रस-निष्पत्ति' को 'अनुभूति' के रूप में स्वीकार किया है जिसके अनुसार दर्शक अभिनय के द्वारा स्थायीभाव का अनुमान लगा लेते हैं। इसे 'चित्र तुरंगन्याय' भी कहा गया है जिससे घोड़े के चित्र से घोड़े का बोध हो जाता है। भट्ट नायक ने इसकी तीन अवस्थायें मानी हैं, जिसके अनुसार रस बोध होता है। इन्हें उसने अभिधा जिसके द्वारा अर्थ स्पष्ट होता है, भावकत्व जिसके द्वारा 'साधारणीकरण' होता है इसे 'रस-भावना' भी कहते हैं और भोजकत्व जिसमें 'विभाव' के द्वारा रस-निष्पत्ति होती है, आदि नाम दिये हैं। अभिनव गुप्ताचार्य का सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। इन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा है कि भट्टनायक का भोग, रसास्वाद या रसानुभूति एक ही है उसे भिन्न नहीं माना जा सकता। "इस प्रकार से दर्शकों के हृदय में जो मनोविकार वासना के रूप में उपस्थित रहते हैं वही जब विभाव के संयोग से व्यंजना-वृत्ति के साधारणीकरण या विभावना व्यापार से जागृत होते हैं तभी रसास्वाद की अवस्था होती है।"[2] इनके सिद्धान्त की जो सबसे बड़ी सफलता है वह यह कि वह नाटक और काव्य दोनों पर समान रूप से लागू हुआ। भानुदत्त और विश्वनाथ इस सम्प्रदाय के अन्तिम प्रमुख लेखक हैं जिसमें विश्वनाथ ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि 'रस' ही काव्य की आत्मा है।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने 'वात्सल्य' को नवीन रस स्वीकार करने का समर्थन किया है। दूसरी ओर गौड़ीय वैष्णव तो 'मधुर' रस को ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रधान रस मानते हैं।

काव्य में रस को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने वालों में 'राजशेखर' का नाम कम महत्व नहीं रखता। "काव्य को शरीरधारी व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। संस्कृत भाषा मुख है प्राकृत भाषायें भुजायें हैं। अपभ्रंश भाषा जंघा है। पिशाच भाषा चरण है और मिश्र-भाषायें वक्षस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र० सं०, पृ० २१।
२. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र० सं, पृ० २२।
३. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्यदर्पण, विश्वनाथ।)

ओजस्वी है। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं।[१]" इस प्रकार उन्होंने 'भरत' के सिद्धान्तों का बड़ी ही सावधानी एवं रोचकतापूर्ण उक्तियों से समर्थन किया है। इस प्रकार 'रस सम्प्रदाय' के महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अलंकार सम्प्रदाय का गठन हुआ। ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से अलंकार सम्प्रदाय 'रस' सम्प्रदाय के ठीक बाद ही आता है, किन्तु इसकी चर्चा अन्त में की जायगी।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय की स्थापना होने के पूर्व भी 'रीति' का अस्तित्व था। 'भरत' के नाट्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रत्यक्ष विवेचन तो नहीं मिलता किन्तु उसमें विभिन्न देशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है[२]। परन्तु नवीं शताब्दी के मध्य में इसे सम्प्रदाय का रूप देना आचार्य 'वामन' का ही कार्य था। 'रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले वामन ने किया है जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है, रीति शब्द रीङ् धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने 'रीति' के लिये मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है[३]।' 'भामह' और 'दण्डी' ने यद्यपि 'रीति' की चर्चा की थी किन्तु उसे परिभाषित करने का एकमात्र श्रेय 'वामन' को है। विशिष्ट पद-रचना से रीति[४] का अर्थ लेते हुए उन्होंने 'रीति' को ही काव्य की आत्मा माना है[५]। वामन के अतिरिक्त 'आनन्द-वर्धन', 'राजशेखर', 'कुन्तल', 'भोज', 'मम्मट' तथा 'विश्वनाथ' आदि आचार्यों ने भी 'रीति' की परिभाषा की है।

'रीति-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत गुण और अलंकार की पृथक् सत्ता का निर्देश किया गया है। 'भामह' ने गुण और अलंकार का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है तथा दण्डी ने काव्य के शोभाकारक समस्त धर्मों अर्थात् गुणों को भी अलंकार शब्द से ही अभिहित किया है। किन्तु 'वामन' ने काव्य में अलंकार की अपेक्षा 'गुणों' को कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने काव्य के शोभाकारक धर्मों को 'गुण'[६] तथा अतिशयता प्रदान करने वाले धर्मों को अलंकार माना है। काव्य में 'गुण', अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान

---

१. राजशेखर, 'काव्यमीमांसा', बिहार राष्ट्रभाषा, पटना द्वारा प्रकाशित, पृ० १४।

२. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्रमागधी। १४।३६ (नाट्य-शास्त्र)

३. डा० नगेन्द्र, 'काव्यालंकार सूत्र', भूमिका भाग, पृ० ३७।

४. 'विशिष्टपदरचना रीतिः।' १।२।७ (काव्यालंकार सूत्रवृत्तौ)

५. 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' १।२।६ (काव्यलंकार वृत्तौ)

६. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' (वामन काव्यालंकार ३।१।१-२)

रखता है क्योंकि वह काव्य का नित्य धर्म है। विना उसके काव्य की शोभा उत्पन्न ही नहीं हो सकती[1]।

आगे के विद्वानों ने यद्यपि 'रीति' सिद्धान्त को तद्वत् स्वीकार नहीं किया, फिर भी इसके द्वारा किया गया अलंकार और गुण का भेद काव्य-शास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचना-दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निर्देश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है[2]।' प्राचीन आलंकारिकों में 'वामन' ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। उन्होंने सब अलंकारों को ही 'उपमा' अलंकार पर अवलम्बित माना है और उन्हें 'उपमाप्रपंच' नाम से पुकारा है। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है, इसमें सन्देह नहीं।

'वामन' ने शब्दगत तथा अर्थगत दो भेद करके 'भरत' के 'नाट्य-शास्त्र' में आये दश गुणों की संख्या श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, कान्ति दुगुनी कर दी है। और इन दश गुणों की आवश्यकता उन्होंने 'वैदर्भीरीति' के लिये स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त 'वामन' ने गौड़ी के लिये 'ओज' और कान्ति की, 'पांचाली' के लिये माधुर्य और 'प्रसाद' की सत्ता स्वीकार की है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग नया नहीं है, बल्कि अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। अलंकारों के क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि से वक्रोक्ति की कल्पना 'भामह' से आरम्भ होती है जिसे उसने अतिशयोक्ति के अन्तर्गत माना है[3]। आचार्य 'दण्डी' ने भी 'भामह' की वक्रोक्ति कल्पना को स्वीकार किया है और उपमा आदि अलंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रस संवद्ध अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना है। उनके अनुसार 'श्लेष' की सहायता से वक्रोक्ति में और भी चमत्कार आ जाता है[4]। 'वामन' का वक्रोक्ति वर्णन 'भामह' से बिल्कुल भिन्न है, वे उसे अलंकारों का सामान्य मूलभूत आधार न मानकर

---

१. 'पूर्वे नित्याः पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विनाकाव्यशोभानुपपत्तेः।'
काव्यालंकार, ३।१।२ 'वृत्ति'

२. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० ५९३।

३. 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना॥' २।८५ (काव्यालंकार)

४. 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥' २।३६३ (काव्यादर्श)

अर्थालंकारों में ही परिगणित कर देते हैं। वे इसे सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा के रूप में स्वीकार करते हैं[१]। 'रुद्रट' के समय में तो आकर यह एक शब्दालंकार ही बन गया जिसके द्वारा श्रोता किसी के वाक्य को सुनकर उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर अप्रत्याशित तथा अकल्पित उत्तर दे बैठता है।[२] वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रमाणित करने का श्रेय आचार्य कुन्तल को ही है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' के द्वारा उसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का स्वरूप प्रदान किया। "कुन्तल के अनुसार काव्य उस कवि कौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द-सौन्दर्य के और अर्थ-सौन्दर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य-मर्मज्ञ को अह्लाद देती है।[३]" उनका मत है कि शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं तथा चतुरता पूर्ण शैली से कथन रूप वक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ का अलंकार होती है।[४]

स्पष्ट रूप से आचार्य कुन्तल ने स्वीकार कर लिया है कि वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।[५] अतः जहाँ पर अनुभूति को जगाना रस का काम है वहाँ मन का रंजन वक्रोक्ति द्वारा ही सम्भव है।[६] इसमें सन्देह नहीं कि अपने विषय के प्रतिपादन तथा सिद्धान्त के स्थापन में आचार्य कुन्तल ने अपनी मौलिक प्रतिभा, मार्मिक सूझ-बूझ तथा गहरी पैठ का परिचय दिया है किन्तु इसे सम्प्रदाय के रूप में न स्वीकार कर अलंकार शास्त्र की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार करना समीचीन जान पड़ता है।[७]

---

१. 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरिति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः'

(वामन—काव्यालंकार ४।३।८ सूत्र की वृत्ति)।

२. 'अहोकेनेदृशी बुद्धिः दारुणा तव निर्मिता।
त्रिविधा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥

(काव्यप्रकाश, उल्लास ९)

३. डा० नगेन्द्र, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित-भूमिका भाग, पृ० १९।

४. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥ १।१० (वक्रोक्ति जीवतम्)

५. "The central idea in Kuntala is that the 'vakrokti' is the essence (jivita) of poetry, and by 'vakrokti' he understands a certain striking or charming (Vichitr) ,mode of expression (vinyasa krama), which is defferent from or excels the commonly or matter of fact expression of...... also and ideas in the satra." S. K. De-'H. of S. P. P. 236

६. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य शास्त्र काइतिहास', प्र० सं०, पृ० २९।

७. 'The vakrokti school is really an off shoot of the Alankara School and need not be separately recogni sed.'

P. C. 'IV' Introduction to Sahitya Darpan—'P. V. Kane,

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। जिस स्थान पर 'अर्थ' स्वयं और शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके एक विशेष अर्थ की सृष्टि करता है, काव्य की उस स्थिति को विद्वानों ने ध्वनि का नाम दिया है। नवम शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया, यद्यपि अन्य सम्प्रदायों की भांति इसका भी जन्म संस्थापक के जन्म के पूर्व ही हो चुका है। आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर (ध्वन्यालोक १।१) स्वीकार किया है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।'[1] निश्चित ही ध्वनिकार को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। 'जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कार पूर्ण हो, वही ध्वनि काव्य कहलाता है।'[2]

आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि के सम्बन्ध में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयवादी, जिसका ध्वनिकार ने अपने तर्कों से खंडन किया है। रस, वस्तु तथा अलंकार ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं। अलंकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—(more is meant than meets the ear) ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धान्तों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्य-तत्वों की सुन्दर सन्तुलित व्यवस्था कर दी है[3]।' ध्वनि सिद्धान्त द्वारा रसानुभव की प्रक्रिया-सम्बन्धी एक समस्या हल हुई। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में प्रमुख आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा मानते हुए भी वस्तुतः रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। इसमें रस, ध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है और वस्तुअलंकार, ध्वनि, रस के सहायकरूप में महत्वपूर्ण हैं।

औचित्य सम्प्रदाय

रसानुभूति कराने के लिये वर्णन के औचित्य पर सबसे अधिक बल 'क्षेमेन्द्र' ने 'काव्यानुशासन' लिख कर दिया। जिसके अनुसार 'औचित्य' ही रस का जीवन भूत है प्राण है। उचित भाव को ही औचित्य की संज्ञा दी जाती है, जो जिसके अनुसार हो, जिसका जिससे मेल खाता हो, उसकी चर्चा उसी प्रसंग में करना उचित कहा जाता है[4]। 'इस

१. 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।' (ध्वन्यालोक १।१)
२. बलदेव उपाध्याय—'भारतीय साहित्य शास्त्र (१ खंड) प्र० सं०, पृ० ७०२।
३. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' तृ० सं०, पृ० ५९५।
४. 'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥' (का० १)

औचित्य को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखलाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखलाकर 'क्षेमेन्द्र' ने साहित्य रसिकों का महान उपकार किया है परन्तु इस तत्व की उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल होगी[1]। क्योंकि 'औचित्य' के मूलतत्व हमें आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में ही मिल जाते हैं। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'अनौचित्य' से बढ़कर रसभंग का दूसरा कारण ही नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के पूर्वाचार्यों ने भी औचित्य को काव्य का मूल तत्व स्वीकार किया है। नाट्य-शास्त्रकार ने स्पष्ट व्यवस्था कर दी है कि पात्रों के लिये देश और अवस्था के अनुरूप ही वेष-विन्यास आवश्यक है।[3]

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'औचित्य' की महत्ता को 'क्षेमेन्द्र' ने अत्यन्त मौलिक ढंग से सविस्तार अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। 'क्षेमेन्द्र' साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में 'अभिनवगुप्त' के शिष्य थे, जिससे स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि उन्होंने औचित्य-विचार-चर्चा नामक अपने ग्रन्थ में 'औचित्य' को व्यापक काव्य-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है और उसे सम्प्रदाय का रूप देने का श्रेय प्राप्त किया।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकारों को सम्प्रदाय का रूप यद्यपि 'रस सम्प्रदाय' के संगठित हो जाने के पश्चात् ही मिला किन्तु काव्य में अलंकारों का प्रयोग कविता के प्रथम आविर्भाव काल से ही है। अलंकार प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वानों की दृष्टि सदैव एक सी नहीं रही है, बल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है जिससे उसके मूल्यों में परिवर्तन होता रहा है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से इसकी परिभाषा की है। काव्य-क्षेत्र में अलंकारों का महत्व तो प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया था किन्तु काव्य के प्रमुख आकर्षण अलंकार ही हैं इसे बाद के ही कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया। भरत का नाट्य-शास्त्र ही अलंकार शास्त्र का भी सर्वप्रथम ग्रन्थ है। परन्तु उसमें 'रस' सिद्धान्त प्रधान होने के कारण शास्त्र अथवा सम्प्रदाय के रूप में इसका अध्ययन नहीं किया जाता था, बल्कि इसे रस सम्प्रदाय के साथ जोड़कर ही देखा जाता रहा। नाटक का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'रस' हो जाने के कारण अधिकांश आचार्य अलंकारों को काव्य की मुख्य शोभा मानकर ही चले, यही कारण है कि संस्कृत में काव्य शास्त्र को अलंकार शास्त्र के नाम से ही अभिहित किया गया क्योंकि उसका आरम्भ अलंकारों का विवेचन लेकर ही आरम्भ हुआ। काव्य-शरीर के

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥' (का० ७)

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृ० सं०, पृ० ५९६।

२. 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।' (ध्वन्यालोक)

३. 'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ २३।६९ (नाट्य शास्त्र)

लिए अलंकारों का महत्व तो स्वीकार कर लिया गया था—किन्तु उसे 'काव्य का सर्वस्व है' इस रूप में मान्यता नहीं मिल पाई थी।

भामह सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलंकार शास्त्र के स्वतंत्र-अध्ययन पर आग्रह किया है। उन्होंने अलंकार शास्त्र के स्वतंत्र-अध्ययन पर आग्रह किया और अलंकार शास्त्र को नाट्य-शास्त्र से मुक्त करके एक अलग शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया तथा अलंकार सम्प्रदाय की भूमिका तैयार की। भामह की कृतियों से ही पता चलता है कि उनके पूर्व भी कुछ ऐसे आचार्य थे जिन्होंने अलंकार-ग्रन्थ लिखे थे। काव्यालंकार में भामह ने अलंकार शास्त्री के रूप में 'मेधावित' नामक आचार्य का दो बार नाम लिया है और लिखा है कि उसने उपमा में सात दोष माने हैं किन्तु वर्तमान समय में इस आचार्य की कोई भी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। आचार्य 'धर्मकीर्ति' की भी कोई ऐसी रचना नहीं मिलती जिससे उसे अलंकार शास्त्र का लेखक मान लिया जाय। 'भट्टि काव्य' की रचना मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के नियमों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए ही हुई है, उसने दसवें सर्ग में केवल ३८ अलंकारों के उदाहरण भर ही प्रस्तुत कर दिये हैं जिससे उसे अलंकार शास्त्री नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में भामह ही अलंकार सम्प्रदाय का प्रथम प्रमुख आचार्य ठहरता है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शब्द और अर्थ के संयोग से काव्य की निष्पत्ति होती है।[१] आचार्य 'भरतमुनि' ने जो दश गुणों को प्रतिपादित किया था उसमें उन्होंने ओज, माधुर्य तथा प्रसाद तीन गुणों का निर्देश और किया तथा वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल माना है जिसका चरम विकास आचार्य 'कुन्तल' के वक्रोक्ति-जीवित' में हुआ है। वक्रोक्ति से रहित अलंकार की भामह कल्पना ही नहीं करते[२]। अलंकार सम्प्रदाय के अन्दर भामह के अतिरिक्त 'उद्भट', 'दण्डी', 'रुद्रट' तथा 'प्रतिहारेन्दुराज' के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अलंकार को ही काव्य का जीवन माना है।

'भामह' के बाद 'दण्डी' ही अलंकार-शास्त्र के प्रधान आचार्य हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद में अलंकार की परिभाषा दी है तथा ३५ अलंकारों की परिगणना की है और **'तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध जैसे गो-मूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्ण-नियम आदि १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन किया है[३]।'** कविता का प्रधान गुण अलंकार मानकर इन्होंने एक प्रकार से 'भामह' के सिद्धान्तों का समर्थन ही किया है। जिस आचार्य का बाद के आचार्यों ने बड़े आदर के साथ नाम लिया है, वह है आचार्य 'उद्भट' जिनका स्थान अलंकार सम्प्रदाय में बड़ा ऊँचा है। इनकी कई बातें अन्य आचार्यों से विलक्षण हैं। अर्थ भेद के कारण शब्दों में भेद का आना 'उद्भट' की सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है[४]। इस

---

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' (भामह)

१. 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥' (काव्यालंकार २।८५)

२. बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय साहित्य शास्त्र', प्रथम खंड, प्र० सं०, पृ० ४९।

३. 'अर्थभेदेन शब्दभेदाः नियम्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः'।
(अलंकारसार, लघुवृत्ति, पृ० २५)

सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि 'अग्नि की उष्णता-रहित के सदृश अलंकार काव्य का प्राण-विधायक तत्व है। अग्नि को उष्णतारहित मानना जिस प्रकार उपहास्यास्पद है उसी प्रकार अस्वाभाविक है काव्य को अलंकार हीन मानना। 'मम्मट' के काव्य-लक्षण के खण्डनकर्ता 'जयदेव' ने इस सम्प्रदाय का हृदय रख दिया है। जयदेव कहते हैं कि जो विद्वान अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी अनुष्ण (शीतल) क्यों नहीं मानते ?[1] 'रुद्रट' तथा प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार को ही प्रधानता दी है। आचार्य रुद्रट ने अलंकार सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती—आचार्यों के मत से अपनी पूर्ण सम्मति प्रदान कर दी है।[2]

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकारों के विभाजन तथा उनके मूल तत्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिये उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत पहले पहल हमें रुद्रट के 'काव्यालंकार' में मिलता है। उन्होंने ही सर्व प्रथम औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकार विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में एकावलीकार "विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्ति युक्त और वैज्ञानिक है जिन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकारों का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है।[3]" समस्त आलंकारिक आचार्य काव्य के 'रस' तत्व से पूर्ण परिचित थे और 'रसवत्' प्रेयः, उर्जस्वि तथा समाहित अलंकारों के अन्तर्गत उन्होंने अलंकार के प्रकार के रूप में काव्य को समेट लिया है। भामह' ने 'प्रेय', 'रसवत्' आदि अलंकारों के द्वारा महाकाव्यों में रसों की आवश्यक स्थिति को स्वीकार किया है तथा दण्डी ने 'रसवत्' अलंकार के भीतर आठो 'रस' और आठ स्थायीभावों का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ध्वनि को भी अलंकारों के अन्दर समेटने का प्रयत्न किया है, तथा अलंकार को काव्य का आवश्यक अंग प्रमाणित करने के लिये 'स्वभावोक्ति' को भी अलंकार में परिगणित किया गया, यद्यपि अधिक विद्वान इसे अलंकार में रखने के प्रतिकूल हैं।

अलंकार और उसका ऐतिहासिक क्रम-विकास

अलंकार

अलंकार शब्द का साधारण अर्थ आभूषण से लिया जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार आभूषण स्त्रियों के शरीर की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार साहित्य सम्बन्धी अलंकार काव्य-रचना की शोभा अर्थात् चमत्कार या रमणीयता का उत्कर्ष करते हैं। काव्य-रचना

---

१. 'अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥' (चन्द्रलोक १।८)

२. 'तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्।'
(अलंकारसर्वस्व, पृ० ७)

३. बलदेव उपाध्याय; 'भारतीय साहित्य शास्त्र' प्रथम खंड, द्वि० सं०, पृ० २४८।

को कविता कामिनी की संज्ञा मिल जाने के कारण उसमें विशेष चमत्कार, रोचकता या रमणीयता लाने वाले शब्द तथा अर्थ को अलंकार की संज्ञा दी गयी। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' बतलाता है कि जब तक कविता का शरीर वाक्य या वाक्यों का संगठन है तब तक 'रस' उसकी आत्मा है। यदि इस रूपक को दूर तक ले जाँय तो कहा जा सकता है कि गुण उसका सौन्दर्य है और हाव-भाव आदि स्वभावतः दोनों में समान हैं। शरीर में इन सब नैसर्गिक साधनों के रहते हुए भी जैसे सुन्दर वस्त्राभूषणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार काव्य में ध्वनि तथा अलंकार की भी आवश्यकता है। यह अलंकरण, शब्द-रचना तथा अर्थवैचित्र्य दोनों प्रकार से किया जाता है, जिससे अलंकार दो प्रकार के हो जाते हैं।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि 'जिस प्रकार स्त्री का शारीरिक सौन्दर्य, हाव-भाव, सजीवता, चाञ्चल्य आदि नैसर्गिक हैं पर वस्त्राभूषण, अञ्जन आदि कृत्रिम शोभावर्द्धक हैं, उसी प्रकार कविता में अलंकार भी बाह्य साधन है जो उसकी रोचकता या रमणीयता को बढ़ाता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि नैसर्गिक सौन्दर्य के लिये अलंकार की नितान्त आवश्यकता नहीं है और अलंकार रहित होने पर भी सौन्दर्य की निजी सत्ता है'[1]। किन्तु अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य-गण अलंकारों को ही सब कुछ समझते हैं। इन लोगों ने रस, स्थायीभाव, गुण आदि को भी अलंकारवत् मान लिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसे मानने में कुछ तथ्य है क्योंकि अलंकार सौन्दर्य ही की शोभा बढ़ाते हैं पर कुरूपता को और भी स्पष्ट कर उसे गिरा देते हैं। अतः अलंकार तथा सौन्दर्य सापेक्ष्य हैं। जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है और सौन्दर्य स्वभावतः प्राप्त होने से उसके उपयुक्त अलंकार चुनकर उसे सजाने ही में विशेष निपुणता की आवश्यकता पड़ती है, इससे यदि काव्य में अलंकारों को विशेष महत्व दिया गया है तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न आचार्यों ने अलंकार की विभिन्न परिभाषा की है, तथा उनके प्रयोग के औचित्य तथा अनौचित्य का मूल्यांकन किया है। आचार्य भामह के अनुसार सुन्दर कविता के लिये भी अलंकार उतना ही आवश्यक है जितना सुन्दर स्त्री के लिये आभूषण। जिस प्रकार सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना स्त्री के मुख पर कान्ति नहीं आती,[2] उसी प्रकार अलंकारहीन सुन्दर कविता अथवा काव्य में भी लालित्य नहीं आ सकता। 'दण्डी' ने स्वीकार किया है कि अलंकारों से युक्त काव्य ही चिरस्थायी हो सकता है[3] और वह काव्य के शोभाकारक धर्मों को ही अलंकार मानता है।[4] 'वामन' काव्य के सौन्दर्य को ही अलंकार मानता है जो उसे ग्राह्य बनाने में सहायक सिद्ध होता है।[5] किन्तु उसने स्वाभाविक सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य के सौन्दर्यातिरेक को अलंकार मानने पर बल अधिक दिया

---

१. ब्रजरत्नदास—'अलंकार रत्न', प्र० सं० पृ० ५७।
२. 'न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।' १६,४२ (भामह)
३. 'काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।' १।१९ (दण्डी)
४. 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' २।१ (दण्डी)
५. 'सौंदर्यमलंकारः।' १।१।२ (वामन)

है। आचार्य रुद्रट अलंकारों को उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वे काव्य-रचना को सुन्दर बनाते हैं।[१] आनन्दवर्धन भी स्वाभाविकता पर ही अधिक जोर देते जान पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'अलंकार वही है जिसका योग रसाक्षिप्त होने के कारण सफल हो और जिसके लिये कवि को स्वतन्त्र यत्न न करना पड़े[२]।' अग्निपुराणकार ने तो अलंकार से हीन काव्य अथवा सरस्वती को विधवा की संज्ञा दी है[३]। आचार्य 'क्षेमेन्द्र' ने अलंकारों के प्रयोग औचित्य पर विशेष बल दिया है जिससे उसके अनुसार 'उचित स्थान पर प्रयुक्त हुए अलंकार ही शोभाकारक प्रमाणित हो सकते हैं[४]।' आचार्य कुन्तल तो अलंकार युक्त शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं[५]। 'मम्मट' तो रसभाव में भी अलंकार की स्थिति स्वीकार करते हैं[६]। 'जयदेव' के अनुसार हारादि के समान अलंकार का योग मनोहर[७] होता है तथा 'विश्वनाथ' के अनुसार उससे रस के उत्कर्ष में वृद्धि होती है[८]।

संस्कृत काव्य शास्त्र के जिन आचार्यों ने अलंकार को काव्य में प्रमुखतम स्थान नहीं भी दिया है उन लोगों ने भी इसके महत्व को तो किसी न किसी रूप में स्वीकार ही किया है। संस्कृत साहित्य की तुलना में हिन्दी साहित्य के अन्दर अलंकार चर्चा नगण्य है किन्तु कुछ आचार्यों ने इस पर विचार अवश्य किया है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार 'कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए।'[९] आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने स्वीकार किया है कि 'मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मानता हूँ जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है।'[१०] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी एक प्रकार से अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म ही माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि वस्तुतः अलंकार जब आवेग सहचर होकर आते हैं तो काव्य में अत्यधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं, पर जब आवेगहीन होकर आते हैं तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं।'[११] इस प्रकार

---

१. 'रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम्।' २९॥ (रुद्रट)
२. 'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥' २१६ (आनन्दवर्धन)
३. 'अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती'। (अग्निपुराणकार)
४. 'उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः।' ।६। (क्षेमेन्द्र)
५. 'सालंकारस्य काव्यता।' २।६ (कुंतक)
६. 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥' ८।६७ (मम्मट)
७. 'हारादिवद् अलंकारः सन्निवेशो मनोहरः।' ५।१ (जयदेव)
८. 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः।' १।१ (विश्वनाथ)
९. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—'कवि कर्तव्य से उद्धृत'।
१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'चिन्तामणि के काव्य में प्राकृतिक दृश्य से उद्धृत'।
११. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'साहित्य का मर्म'।

अलंकार प्रदर्शन को काव्य में किसी प्रकार से महत्व नहीं दिया जा सकता।

अलंकारों का क्रम-विकास

वैसे तो विद्वानों ने अलंकारों का सम्बन्ध वेद की संहिताओं से जोड़ा है किन्तु काव्य-शास्त्र के रूप में नाट्यशास्त्रकार ने सर्वप्रथम चार अलंकारों का उल्लेख किया, तदुपरान्त अग्निपुराण में सोलह अलंकारों का नाम आया। इसके छः सात शताब्दि बाद 'भामह' ने ३८ अलंकारों के नाम गिनाये हैं। अलंकारों की चर्चा करते समय आचार्य भामह ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम लिये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बीच बीच में भी अलंकारों की संख्या में क्रमिक विकास होता रहा है भले ही उनका लिखित स्वरूप सामने नहीं आ पाया है। भामह के बाद में आने वाले आचार्य दण्डी के समय तक अलंकारों की संख्या ३८ से बढ़कर ५२ हो गयी जो आचार्य रुय्यक तक १०३ पहुँच गयी और अन्त तक आते-आते पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में उनकी संख्या १९१ तक मान ली है। इनमें बहुत से अलंकार ऐसे भी आये हैं जो अन्य दूसरे अलंकारों के अन्दर अन्तर्भुक्त हो जाते हैं और कुछ में विशेष चमत्कार नहीं है। यही कारण है कि कितने अलंकारों को अन्य अलंकारिकों ने स्वीकार तक भी नहीं किया और वे उन्हीं लेखकों की कृतियों के रत्न बनकर रह गये।

अनेक प्रमुख अलंकार ऐसे हैं जिन्हें भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि आलंकारिकों ने समान रूप से अपनी रचनाओं में स्वीकार कर लिया है। किन्तु अनेक ऐसे अलंकार हैं जो कुछ विद्वानों द्वारा स्वीकार किये गये हैं और कुछ द्वारा स्वीकृति नहीं पा सके हैं। जैसे—अतिशयोक्ति, अनुप्रास, अपन्हुति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, उपमा, दीपक, विभावना, रूपक, विरोध, विशेषोक्ति, व्यतिरेक तथा व्याजस्तुति अलंकार उपरोक्त सभी आचार्यों की कृतियों में पाये जाते है। दण्डी को छोड़कर अनन्वय भी सबमें पाया जाता है किन्तु वह इसे असाधारणोपमा के नाम से पुकारता है। भट्टि को छोड़कर 'अप्रस्तुत प्रशंसा' सबमें पाये जाते हैं। आवृत्ति को केवल दण्डी ने परिभाषित नहीं किया है। आशीः केवल भट्टि, दण्डी और भामह में पाया जाता है तथा आक्षेप सबमें पाया जाता है किन्तु 'वामन' का 'आक्षेप' या तो समासोक्ति है या तो प्रतीप है जैसा कि आगे आने वाले अन्य विद्वानों ने परिभाषित किया है।

उत्प्रेक्षावयव, भट्टि, भामह और वामन में जो इसे संसृष्टि का भेद मानते हैं और दण्डी ने इसे उत्प्रेक्षा के अन्दर समाहित कर लिया है। भट्टि ने 'उदात्त' को जयमंगल के अनुसार उदार के नाम से अभिहित किया, किन्तु अन्य आचार्यों ने उसे तद्वत् ग्रहण कर लिया है। भट्टि और भामह ने उपमा रूपक को माना है। किन्तु वामन ने इसे संसृष्टि का भेदमान लिया है तथा दण्डी ने इसे रूपक के अन्दर समाहित कर लिया है। दण्डी को छोड़कर उपमेयोपमा सब में पाया जाता है। उसने इसे अन्योन्योपमा कहा है। ऊर्जस्वित् और प्रेयः तथा भाविक 'वामन' को छोड़कर सब में पाया जाता है। काव्य-लिंग और छेकानुप्रास तथा दृष्टांत उद्भट को छोड़कर अन्य किसी में नहीं पाया जाता। तुल्ययोगिता सब में पाया जाता है किन्तु दण्डी उसमें इतना और जोड़ता है कि इसे स्तुति-निन्दार्थ अवश्य होना चाहिये। निदर्शना को उद्भट ने विदर्शना लिख दिया है। निपुण केवल भट्टी में पाया जाता है। परिवृत्ति सब में,

केवल भामह और भट्टि चाहते हैं कि इसे अर्थान्तरन्यासवती होना चाहिये। 'वामन'को छोड़कर पर्यायोक्ति सब में पाया जाता है। प्रतिवस्तूपमा को 'भट्टि', 'भामह' और दण्डी उपमा का भेद मानते हैं। यथासंख्य सबमें पाया जाता है किन्तु वामन ने इसे क्रम और दण्डी ने इसे संख्यान और क्रम का एक ढंग भी माना है। यमक उद्भट में नहीं मिलता और वामन में रसवत्। लाटानुप्रास केवल उद्भट ने परिभाषित किया है किन्तु 'भामह' ने इसका संकेत किया है। लेश केवल दण्डी में मिलता है और मम्मट ने इसे व्याजोक्ति माना है। दण्डी ने भी इसी से मिलता-जुलता और भामह तो इसे अलंकार ही नहीं मानता। वक्रोक्ति को केवल वामन ने माना है किन्तु भामह और दण्डी में भी संकेत मिलते हैं। विशेषोक्ति की परिभाषा वामन ने रूपक के समान दी है। व्याजोक्ति केवल वामन में मिलता है किन्तु उसने भी यह कहा है कि लोग इसे मायोक्ति भी कहते हैं। श्लिष्ट को वामन ने श्लेष कहा है। संसृष्टि सबमें पाया जाता है किन्तु दण्डी इसे संकीर्ण मानता है और इसी के अन्दर संसृष्टि तथा संकर को समाहित करता है। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों तक अलंकारों की संख्या का विस्तार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण किसी न किसी रूप में उपरोक्त सभी अलंकार गिना दिये गये हैं और अनेक अन्य नये अलंकार भी माने गये हैं।

इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति कहीं से सहसा उत्पन्न नहीं हो जाती अथवा बाहर से थोपी नहीं जाती, बल्कि यह एक विशेष वातावरण में उत्पन्न होकर अनुकूल परिस्थितियों में विकसित होती है। अलंकरण प्रवृत्ति का उदय सर्वप्रथम समाज में होता है, जहाँ से उससे सम्बन्धित सभी कला-कृतियों पर उसका प्रभाव पड़ता है। चित्रकला, मूर्तिकला तथा संगीतकला आदि काव्यकला के अधिक निकट अथवा सहयोगी होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा सबसे अधिक प्रभाव ग्रहण करती हैं जिसे इस प्रवृत्ति का प्रभाव इन कलाओं पर काव्यकला के साथ ही समान रूप से दिखलाई पड़ता है। इन कलाओं के अंग विशेष पर अनुकूल भूमि मिलने के कारण अलंकरणवृत्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखलाई पड़ता है, जिसका प्रमाण हमें संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्यों, नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं तथा मुक्तकों में प्रयुक्त अलंकारों द्वारा प्राप्त हो जाता है।

अलंकृत साहित्य की प्रभूत मात्रा में सृष्टि हो जाने पर यह नितान्त आवश्यक एवं स्वाभाविक था कि विद्वानों द्वारा उसकी समुचित व्यवस्था की जाती। जैसा कि मैंने पूर्व में ही निवेदन कर दिया है कि रचनायें पहले होती हैं और उनको शास्त्रीय रूप बाद में दिया जाता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्यवस्था तथा उसमें रस, ध्वनि, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति तथा औचित्य आदि सम्प्रदायों का प्रतिष्ठापन उपरोक्त स्वाभाविक आवश्यकता के परिणाम हैं जिससे काव्य में अलंकार प्रयोग के औचित्य तथा अनौचित्य पर पूर्णतः प्रकाश डालना सम्भव हो सका और उसकी वास्तविकता का मूल्यांकन भी हुआ। इस संक्षिप्त अध्ययन द्वारा हमारे लिये हिन्दी अलंकृत काव्य की आधार भूमि ढूँढ़ना अत्यन्त सरल एवं सुगम हो गया क्योंकि इससे इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि हिन्दी काव्यकारों एवं आचार्यों के सम्मुख संस्कृत अलंकृत काव्यों की एक विशाल परम्परा एवं प्रभूत सामग्री विद्यमान थी।

द्वितीय अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति

मध्यकाल

पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को आदि, पूर्वमध्य अथवा भक्ति, उत्तरमध्य अथवा रीति तथा आधुनिक नामक चार कालों में विभक्त किया है। जिस मध्यकाल को शुक्ल जी ने पूर्वमध्य और उत्तरमध्य अथवा भक्ति तथा रीतिकाल दो भागों में बाँटा है, उसे ही मिश्रबन्धुओं ने पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत नाम से तीन उपविभागों में विभाजित किया है।[1] पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने ऐसा न करके सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को बीजवपन, अंकुरोद्भव तथा पत्रोद्गमकाल के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है।[2] द्विवेदीजी का अंकुरोद्भव अथवा मध्यकाल ही शुक्ल जी का पूर्वमध्य और उत्तरमध्य तथा मिश्रबन्धुओं का पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत काल है। हिन्दी कविताओं पर जहाँ से संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ने लग जाता है वहीं से महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सन् १४००–१८५० ई० तक अंकुरोद्भव अथवा मध्यकाल की सीमा को स्वीकार किया है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी कविता के जिस काल को अंकुरोद्भव काल कहा है, वास्तव में वह हिन्दी कविता का मध्यकाल ही है क्योंकि हिन्दी साहित्य में बीच का यह वह समय है जिसमें हिन्दी कविता अपभ्रंश एवं ग्रामीण प्रयोगों से बिलकुल मुक्त हो गयी थी और श्रेष्ठ रचनायें प्रभूत मात्रा में लिखी जा चुकी थीं। इसके बाद ही हम देखते हैं कि हिन्दी कविता का भाण्डार इतना पूर्ण हो गया था कि अपनी सीमा में न समाकर अनेक नये साहित्य अंगों में फैलकर विकसित होने लगा जिसे द्विवेदी जी ने पत्रोद्गम काल कहा है। मध्यकाल के आरम्भ के सम्बन्ध में रामचन्द्र जी शुक्ल, मिश्रबन्धु तथा महावीर प्रसाद जी द्विवेदी भले एकमत न रहे हों किन्तु जहाँ तक उसके अन्त का प्रश्न है प्रायः ये सभी विद्वान् कवि पद्माकर के कविता-काल अर्थात् लगभग संवत् १९०० को मध्यकाल का अन्त मानते हैं।

पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने संवत् १३७५ और पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने सन् १४०० ई० अर्थात् संवत् १४५७ को हिन्दी मध्यकाल का आरम्भ माना है। किन्तु १४५७ के कुछ बाद तक की हिन्दी कविताओं पर अपभ्रंश भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में महाकवि सूरदास के उदय के साथ ही संस्कृत का प्रभाव हिन्दी कविताओं पर दिखलाई पड़ता है, जहाँ आकर वह अपभ्रंश भाषा

---

१. मिश्रबन्धुविनोद—'मिश्रबन्धु'।
२. हिन्दी साहित्य की वर्तमान अवस्था नामक लेख से (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा १९११ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वि० में पढ़ा भाषण)।

के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त दिखलाई पड़ती है। सूरदास जी का जन्म शुक्ल जी के अनुसार सं० १५४० के आसपास हुआ था।[1] सूरदास जी ने अपनी कविताओं में जिस भाषा का प्रयोग किया है उसका संस्कृत रूप देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका विकास कम से कम ५० व ६० वर्षों पूर्व से अवश्य होता रहा होगा। ऐसी स्थिति में मध्यकाल की आरम्भिक सीमा को अधिक से अधिक सूरदास जी के जन्मकाल से ३० या ४० वर्ष पीछे अथवा संवत् १५०० तक ले जा सकते हैं। अतः संवत् १५०० से लेकर १९०० तक की हिन्दी कविताओं को मध्यकाल के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

पूर्वमध्यकाल को प्रायः सभी इतिहासकारों अथवा विद्वानों ने भक्तिकाल स्वीकार किया है किन्तु उत्तर-मध्यकाल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उसे पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने रीति-काल, मिश्रबन्धुओं ने अलंकृतकाल और कुछ लोगों ने शृंगारकाल के नाम से पुकारा है। इस काल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार रही अवश्य, कविताओं में शृंगारस की ही प्रधानता रही इसमें भी सन्देह नहीं किन्तु सभी रचनाओं में एक ही आग्रह दिखलाई पड़ता है और वह है अलंकार प्रयोग एवं चमत्कार का प्रदर्शन। जितनी शृंगारपरक रचनाएँ हुई हैं उनमें से अधिकांश लक्षण ग्रन्थों के लिये उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही। बहुत थोड़ी सी श्रेष्ठ रच-नाएँ ऐसी हैं जो स्वतंत्र रूप में लिखी गयी हैं, जिससे इसे अलंकृतकाल कहना ही विशेष समीचीन जान पड़ता है। जहाँ तक पूर्व मध्यकाल की कविताओं का प्रश्न है उनमें लक्षण ग्रन्थों का बाहुल्य तथा शृंगारिक अलंकार पूर्ण योजना उतनी तो नहीं है जितनी कि अलंकृत-काल की रचनाओं में, किन्तु कुछ भक्तिपरक रचनाओं को छोड़कर मुक्तकों और गीतों अथवा प्रबन्ध मुक्तकों में अलंकारों का स्वाभाविक विकास दिखलाई पड़ता है, जिससे इस काल को अलंकृतकाल से अलग करना ठीक नहीं जान पड़ता। अतः मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में संवत् १५०० से १९०० तक की रची जाने वाली कविताओं को अलंकृतकाल के अन्दर ही रखना उपयुक्त जान पड़ता है।

अलंकृत काव्य की परम्परा

अपने विकासकाल में हिन्दी अपभ्रंश भाषा एवं उसके साहित्य के सबसे अधिक निकट रही। कुछ विद्वानों ने तो इसे अपभ्रंश का परिष्कृत रूप ही मान लिया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके काव्य-रूपों एवं विषय वस्तुओं पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश साहित्य का ही पड़ा है। जिस समय अपभ्रंश साहित्य से सम्बलित होकर उसी के गर्भ से हिन्दी कविता फूट रही थी, उस समय 'सिद्ध' और 'नाथ' सम्प्रदाय से प्रभावित सन्त कवि-गण लोकभाषा में रचना कर रहे थे। लोकभाषा में रची कविताओं के अन्तर्गत अलंकारों की योजना करनी सम्भव नहीं। जिससे तत्कालीन रचनाओं में अलंकृत शैली का नितान्त अभाव दिखलाई पड़ता है। ठीक इसी समय जबकि लोक-भाषा में काव्य रचना हो रही थी, वैष्णव धर्म का उदय हुआ। वैष्णव धर्म ब्राह्मण धर्म का ही विकसित रूप था जिसे रामानुजाचार्य तथा निम्बार्काचार्य आदि शास्त्रीय विद्वानों ने अपनी शास्त्रीय रचनाओं के द्वारा

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० २००३, पृ० १६१।

प्राचीन-धर्म-दर्शन तथा संस्कृत साहित्य से हिन्दी कविताओं को जोड़ दिया। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामानन्द, राघवानन्द, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु जैसे प्रकाण्ड विद्वान हुए जो संस्कृत के महान् पण्डित थे और उन लोगों ने इस वैष्णव धर्म को संस्कृत में रचे ब्राह्मण धर्म के शास्त्र ग्रन्थों, आगम, पुराण और काव्य ग्रन्थों की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इनके प्रभाव से जिस वैष्णव साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा हुई उसमें प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा। समस्त धार्मिक ग्रन्थों के संस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा की ओर लोगों की रुचि गयी। 'जयदेव' ने संस्कृत में राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत गाये तो उसकी प्रतिध्वनि विद्यापति के गीतों में हुई। सूरदास तथा कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में प्रेम का लौकिक आलम्बन भक्ति का मधुर पारलौकिक आलम्बन हो गया।[1] हिन्दी के श्रेष्ठ कवि संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे जिससे उनकी रचनायें अधिक से अधिक संस्कृत साहित्य के निकट पहुँचने लगीं।

संस्कृत भाषा की कुछ स्वाभाविक कठिनाइयों के कारण जो साधारणतः लोग उसे समझने में असमर्थ रह जाते थे, उस कठिनाई को दूर करने के लिये ही संस्कृत को हिन्दी के माध्यम से बोधगम्य बनाने का प्रयोग किया गया। व्याकरण के अधिक घटाटोप के बढ़ जाने के कारण ही संस्कृत भाषा लोक-जीवन से दूर होती गयी और वह धीरे-धीरे प्रायः साहित्य से भी दूर हो गयी। इस कठिनाई का अनुभव हिन्दी के आचार्यों एवं कवियों ने भलीभाँति किया जिससे उन लोगों ने संस्कृत साहित्य में अक्षुण्ण काव्यकला एवं शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को सर्व सुलभ बनाने के लिये उसे हिन्दी भाषा के माध्यम से कहना आरम्भ किया। इस प्रकार अनुवाद एवं भाषानुवाद के माध्यम से संस्कृत साहित्य की काव्य सामग्रियाँ हिन्दी कविताओं में आने लगीं। कविवर 'सूरदास' में मौलिकता के अधिक होने के कारण संस्कृत साहित्य से ली गयी सामग्रियाँ उनकी अपनी-सी लगती हैं किन्तु सूरसागर के समस्त लीला पदों में उन्होंने अपने ढंग से 'भागवत' की कथा ही कही है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं में संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। उनके रामचरितमानस पर संस्कृत के वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, उत्तर रामचरित, चम्पूरामायण, चाणक्यनीति, गर्ग संहिता तथा ब्रह्म-रामायण आदि ग्रन्थों के प्रभाव स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं जिनसे एकाध उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

'परोक्षे कार्यं हन्तारं प्रत्यक्षे प्रिय वादिनम्।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥' (चाणक्यनीति)

'आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई।
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरे भलाई॥'
(रामचरितमानस)

१. 'बिहारी', पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १०।

'मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे ।
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ।
तदिह हर ममांक पावकं पावकत्वम् ।
सुललित फलभागां त्वं हि कर्मैकसाक्षी ।' (हनुमन्नाटक)

'जो मन क्रम बच मम उर माहीं । तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥
तो कृसानु सबकी गति जाना । मो कहँ होउ श्रीखण्ड समाना ॥'
(रामचरितमानस)

इसी प्रकार केशवदास जी की कविताओं में भी वाल्मीकि रामायण, प्रसन्नराघव तथा हनुमन्नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों के प्रभाव देखे जा सकते हैं। 'हनुमन्नाटक' के राम परशुराम-संवाद के अन्तर्गत 'राम' द्वारा कहे गये 'परशुराम' की प्रशंसा के शब्द केशव की कविता में अपनी स्पष्ट झलक मार रहे हैं—

'स्त्रीषु प्रवरि जननी जननी तवैव,
देवी स्वयं भगवती गिरिजाऽपि यस्यै ।
त्वद्दोर्वशीकृत विशाख मुखावलोक—
मोडा-विदीर्ण-हृदया स्पृहयांबभूव ॥' ४३॥ (हनुमन्नाटक)

'जब हयो हैहय राज इन बिन क्षत्र छिति मण्डल कर्यो ।
गिरि वेध षट्मुख जीति तारक नन्द को जब ज्यो हन्यो ।
सुतमैं न जायो राम सो यह कह्यो पर्वत नन्दिनी ।
वह रेणु का तिय धन्य धरणी में भई जा बन्दिनी ॥ '२६ ॥ (रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध)

'बिहारी' आदि अलंकृतकाल के मुक्तककारों पर भी संस्कृत के मुक्तककारों का प्रभाव पड़ा है। इन प्रभावों की यदि विस्तृत व्याख्या की जाय तो एक लम्बी सूची तैयार हो जाय जिससे वैसा करना सम्भव नहीं जान पड़ता, अतः एकाध उदाहरणों पर ही सन्तोष करना आवश्यक होगा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै—
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥७७॥ (अमरुशतक)

'मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहू चूम्यो ढिग जाय ।
हँस्यो, खिस्यानी, गर गह्यो, रही गरैं लपटाय ।' (बिहारी)

ठीक ऐसी ही प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थों के निर्माण में भी रही है। राजपूतों के दरबार समाप्त हो चुके थे, कवियों को अब अधिकतर मुस्लिम दरबारों में ही आश्रय प्राप्त करना था और मुसलमानों के लिये संस्कृत का सीखना अत्यन्त कठिन था। यह भी एक प्रमुख कारण था जो संस्कृत साहित्य को हिन्दी में लाने में सहायक हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि धीरे-धीरे धर्म ग्रन्थों के बाद काव्य-शास्त्र ग्रन्थों का भी प्रभाव हिन्दी काव्यों पर पड़ने

लगा। यदि साहित्य के क्षेत्र में 'जयदेव' के 'प्रसन्नराघव' का प्रभाव हिन्दी कविताओं पर पड़ा तो उनके 'चन्द्रालोक' का भी प्रभाव काव्य-शास्त्रों पर पड़ना आवश्यक ही था। काव्य-शास्त्र की पकी-पकाई सामग्री संस्कृत साहित्य में वर्तमान थी जिसका हिन्दी कवियों को उपयोग भर ही करना था और उन लोगों ने वैसा किया भी। संस्कृत काव्य-शास्त्रों की रचना जिस राजन्य संस्कृति में हुई थी वैसी ही स्थिति हिन्दी कवियों के भी सम्मुख उपस्थित हो गयी थी। अन्तर केवल इतना ही था कि संस्कृत कवियों के सामने राजपूती दरबार थे और हिन्दी कवियों के सम्मुख मुस्लिम तथा उनके आश्रित राजाओं के दरबार थे।

मुक्तक काव्य दरबारों की ही देन है। फलस्वरूप हिन्दी कवियों द्वारा मुक्तक साहित्य की प्रभूत मात्रा में सृष्टि हुई मुक्तकों के लिये सहारे की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार लतायें बिना सहारे के ऊपर नहीं जा सकतीं उसी प्रकार मुक्तक काव्यों की भी रचना सहारे के अभाव में सम्भव नहीं होती। इन मुक्तककारों के सम्मुख संस्कृत काव्य-शास्त्र का सहारा था जिससे हिन्दी कवियों के द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक नवीन उद्धरणी हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य एवं काव्य-शास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी कविता ने संस्कृत ग्रन्थों का सहारा लिया।

इतना अवश्य है कि हिन्दी में अलंकृत शैली का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं रह पाया जितना कि संस्कृत साहित्य में। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में हिन्दी गद्य का विकास नहीं हो पाया था और न तो उसमें नाटक और कथा-आख्यायिकायें ही ऐसी लिखी गई जिनमें संस्कृत के नाटकों एवं कथा-आख्यायिकाओं की अलंकृत शैली के दर्शन होते। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध-काव्य-गीत और मुक्तक जो हिन्दी काव्य के उपलब्ध अङ्ग थे उनमें ही अलंकरण प्रवृत्ति अथवा अलंकारों का विकास हो पाया है। संस्कृत साहित्य की भाँति हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में उत्तम कोटि के महाकाव्य भी नहीं लिखे जा सके। हिन्दी में एक भी ऐसा महाकवि नहीं था जिसे कालिदास, भारवि, माघ अथवा श्रीहर्ष की श्रेणी में रखा जा सके। गोस्वामी तुलसीदास को महाकाव्य की प्रतिभा मिली थी किन्तु धार्मिक भावना का प्रभाव अधिक होने के कारण उनकी कृति में मानवीय भावों की वह रमणीयता तथा अलंकृत शैली नहीं आ पायी जो संस्कृत महाकाव्यकारों में मिलती है। विद्यापति और सूरदास के गीतों में स्वस्थ अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत शैलीकारों का मुख्य क्षेत्र मुक्तक रहा है। हिन्दी के कवि केवल कवि ही नहीं थे वे आचार्य भी थे, जिससे मुख्यतः मुक्तकों की सृष्टि उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये ही हुई है। संस्कृत की भाँति हिन्दी मुक्तक कवि की आंतरिक प्रेरणा के परिणाम नहीं बल्कि उनके आचार्यत्व के परिणाम हैं जिससे एक ही विषय का पिष्टपेषण अथवा पुनरावृत्ति उसकी सामान्य विशेषता है। कुछ ऐसे कवि अवश्य हैं जो अपने को आचार्य होने से बचा सके हैं, जिससे उनकी कविताओं में मौलिक उद्भावनाओं एवं स्वस्थ अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं।

हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में अलंकार

अलंकृत काव्य की परम्परा संस्कृत साहित्य से चलकर प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी तक पहुँची है। हिन्दी के आरम्भिक काल में कोई भी ऐसा उल्लेखनीय

प्रामाणिक अलंकार ग्रन्थ नहीं मिलता जिसे अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र की कोटि में रखा जा सके। 'चन्दबरदाई' के पृथ्वीराजरासो में काव्य-शास्त्र के कुछ उल्लेख मिलते हैं। कथा के मार्मिक प्रसंगों पर कवि-कल्पना की उड़ान अलंकारों का सहारा लेकर ही बढ़ती जान पड़ती है। 'चन्द' की रचनाओं से जाना जा सकता है कि वे वीर रस के पोषक थे, किन्तु उनकी रचनाओं में अलंकारों की कमी नहीं है। उत्प्रेक्षा के अद्भुत चमत्कार उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। जब शशिव्रता को उठाकर पृथ्वीराज सीढ़ी लांघते हुए आगे बढ़ते हैं तो कवि चन्द की उत्प्रेक्षा शक्ति मुखर हो उठती है—

'गहि शशिवृत नरिंद। सिढ़ीलंघत दहि योरी।
कामलता कल्हरि। पेममारुत झकझोरी॥
बर लीनी करिसाहि। चंप उर पुट्ठि लगाई॥
मन सुरङ्ग सोइ बत्त। कंत लगि कान सुनाई॥
नृप भयोरुद्द करुना सुत्रिय। वीर भोग बर सुमर गति॥
सगपन-सुहास बीभच्छरिन। भय भयान कमधज्जदुति'॥ १४०॥

प्रेमीजनों के जीवन में प्रथम दर्शन से अधिक मार्मिक प्रसंग प्रथम स्पर्श का होता है, जिसकी आवश्यकता का 'चन्द' ने 'रासो' में अनुभव किया है। भीड़ में ही सहसा आकर पृथ्वीराज शशिव्रता को हाथ से पकड़कर अपनी ओर खींचता है और देर नहीं लगाती कि 'चन्द' की फड़कती उपमा निकल पड़ती है—

'चौहान हथ्थ बाला गहिय। सो ओपम कवि चन्द कहि॥
मानो कि लता कञ्चन लहरि। मत्त बीर गजराज गहि॥' १३३॥

इस प्रकार उपमा और उत्प्रेक्षा का एक ही छन्द में सफल प्रयोग करना 'रासो' कार की अपनी विशेषता है। षट्ऋतु आदि के वर्णन में तो कवि रूपक और उत्प्रेक्षा से नीचे बात ही नहीं करता; और भी अलङ्कार यथास्थान 'पृथ्वीराजरासो' में आये हैं। कहीं-कहीं 'श्लेष' का प्रयोग कवि ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है। पृथ्वीराज के यह पूछने पर कि किस ऋतु में स्त्री, पुरुष को नहीं चाहती, 'चन्द' ने 'ऋतु' शब्द पर बड़ा ही सुन्दर 'श्लेष' किया है। उत्प्रेक्षा के तो वे सिद्ध-हस्त लेखक अथवा सम्राट ही हैं।

पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त एक और सुन्दर प्रबन्धकाव्य नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' भी है जो 'खुमान रासो' की अपेक्षा ललित शैली में लिखा गया है किन्तु उसमें अलंकृत काव्य के सूत्र भले ही हम ढूँढ़ लें, परन्तु अलंकृत काव्य के स्पष्ट दर्शन हमें उक्त प्रबन्ध काव्य में नहीं मिलते। रासो प्रबन्धकाव्यों की परम्परा में 'खुमानरासो' के सर्वप्रथम आने के कारण उसमें काव्य लालित्य का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

प्रेममार्गीय कवियों में—विशेषकर जायसी की अलंकार योजना तो दर्शनीय है। जायसी कृत 'पद्मावत्' मसनवी शैली में लिखा एक प्रबन्धकाव्य है जिसे विद्वानों ने 'प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्य', 'पद्यबद्ध कथाकाव्य', 'महाकाव्य तथा रोमांचक महाकाव्य' आदि नामों से पुकारा है। 'संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों की भाँति 'पद्मावत' में ऋतुवर्णन तथा नखशिख-चित्रण आदि जैसे प्रसंग भरे पड़े हैं। प्रस्तुत को प्राकृतिक

अप्रस्तुतों द्वारा व्यक्त करने या स्पष्ट करने की प्रवृत्ति जायसी में बहुत अधिक मिलती है। उदाहरणार्थ उन्होंने पद्मिनी को कमल और चन्द्र, रतनसेन का भौंरा सूर्य और चन्द्रमा और अलाउद्दीन को सूर्य रूप में माना है और इन्हीं अप्रस्तुतों के आधार पर रूपक खड़े किये हैं, जैसे—[1]

'सखी देखावहिं चमकहिं बाहू। तूँ जस चाँद सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कवल मन भएउ हुलासू॥ दो० २७९॥

'कवि ने पद्मावत' के वर्णन में प्रतीकों का सहारा अधिक लिया है जिससे 'रूपक' की छटा अपने आप उसकी शैली को गौरवान्वित करती है। वियोग काल के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशदव्यंजना ही जायसी की विशेषता है। 'इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है, परिमाण-निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदना का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है।'[2]

(क) 'जानहुँ अगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहिं अंग अंगारा।
(ख) जरत बजागनि करु, पिउ, छाहां। आइ बुझाउ, अंगारन्ह माहां॥
लागिउं, जरै, जरै जस मारू। फिरि फिरि भूंजेसि तजिउ न बारू॥

राजा रतनसेन द्वारा अलाउद्दीन पद्मिनी का जो स्वरूप दर्पण में देखता है, उसका वर्णन कवि ने रूपकातिशयोक्ति में इस प्रकार किया है—

सिंघ की लंक कुंभस्थल जोरू। अंकुसनाग महावत मोरू।
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिर अलि लीन्ह पुहुप रसबासू।
दुहुँ खंजन बिच बैठेउ सुवा। दुइज क चाँद धनुक लै उवा।
मिरिग देखाइ गवन फिर किया। ससि भा नाग सुरुज भा दिया॥
दोहा ५७२।

यह एक ही उदाहरण 'पद्मावत' की शैली को अलंकृत शैली प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है और जब 'जायसी' यह कहने लग जाते हैं कि—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात॥

तो अतिशयोक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण 'पद्मावत' में जायसी की अलंकार योजना अपने प्रौढ़तमरूप में दिखलाई पड़ती है। संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों की अलंकृत शैली और 'पद्मावत' में इतना ही अन्तर है कि जायसी ने अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि वे उसकी भावुकता के कारण प्रसंगानुकूल अपने आप आ गये हैं।

---

१. 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास', डा० शम्भूनाथ सिंह, प्र० सं०, पृ० ४४७।
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल, त्रिवेणी से उद्धृत, सं० कृष्णानन्द, पृ० ४१।

'रामचरितमानस' का उद्देश्य जितना साहित्यिक नहीं है उससे कहीं अधिक धार्मिक एवं सामाजिक है। मानसकार गोस्वामी तुलसीदास, भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के द्रष्टा तो थे ही, साथ ही साथ महाकवि होने के भी सभी उत्तमोत्तम गुण उनमें वर्तमान थे। यही कारण है कि अलंकारवादी न होते हुए भी उन्होंने 'रामचरितमानस' में अलंकारों की ऐसी सुन्दर योजना की है जैसी अन्यत्र दुर्लभ है। अर्थ को सुन्दर ढंग से व्यक्त करने, भावों के सौन्दर्य में वृद्धि करने, रूप-चित्रण और वस्तु-वर्णन में रमणीयता उत्पन्न करने तथा सूक्ष्मगुणों, अनुभूतियों और क्रियाओं को मूर्त-रूपों में उपस्थित करके उन्हें सहज बोधगम्य बनाने के लिये ही 'रामचरितमानस' में अलंकारों का प्रयोग हुआ है न कि चमत्कार प्रदर्शन के लिये। यही कारण है कि 'मानस' में अलंकाररमणीयता उत्पन्न करते हैं, वे उसके भार नहीं, बल्कि सौन्दर्य के वाहन या साधन हैं। 'इस दिशा में तुलसी को सर्वाधिक सफलता सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना में मिली है। 'मानस' में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों की ही अधिकता है, किन्तु उनमें भी रूपक की जैसी स्वाभाविकता, अधिकता और पूर्णता 'मानस' में मिलती है, वैसी हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलती। उपमाओं तथा सांग और परम्परित रूपकों के कारण 'मानस' में चित्रात्मकता भी बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। नीति और उपदेश-सम्बन्धी वर्णन तथा प्रकृति चित्रण में अधिकतर दृष्टान्त और उदाहरण का सहारा लिया गया है और रूप-चित्रण में उत्प्रेक्षा का[1]।' सीता जी के कंकन के मधुर स्वर 'राम' को मदन-दुंदुभी के स्वर से लगते हैं जिसका वर्णन 'तुलसी' ने उत्प्रेक्षा के सहारे तो किया ही है, साथ ही साथ रूपक की भी अपनी अनोखी छटा वर्तमान है—

'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहं कीन्ही॥'

'मानस' में जब कविवर तुलसी निराकार ब्रह्म की अलौकिकता हृदयंगम कराने लग जाते हैं तो वे अनजाने ही 'विरोधमूलक' अलंकार की सुन्दर योजना कर देते हैं—

'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥'

अपने अन्य बन्धुओं के साथ श्री रामचन्द्र जी जिन गलियों से होकर निकलते हैं, उनमें निवास करने वाले स्त्री-पुरुष श्रमित हो जाते हैं। यात्रा करने वाले के कष्ट को देखकर देखने वालों के कष्ट का वर्णन 'असंगति' का सुन्दर उदाहरण है—

'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥'

इसी प्रकार 'रामचरितमानस' के मार्मिक स्थल, अलंकृत काव्य के उत्कृष्टतम उदाहरणों से भरे पड़े हैं। किन्तु मानसकार का सम्पर्क लोक-जीवन से होने के नाते और भारतीय लोक-जीवन के बीच 'रामचरितमानस' की रचना होने के कारण, इसमें उन तत्वों

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, 'हिन्दी काव्य का स्वरूप विकास' 'प्र० सं०, पृ० ५४८।

का अभाव है जिनका समावेश राजन्य-संस्कृति के बीच संस्कृत महाकाव्यों में हुआ था। आदिकवि वाल्मीकि के 'रामायण' की स्वाभाविक अलंकृत शैली के ही दर्शन हमें गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में होते हैं, भारवि, माघ अथवा श्रीहर्ष के नहीं।

श्रीकृष्ण और रुकमणी के विवाह प्रसंग की कथा लेकर जोधपुर के राठौर राजवंशीय पृथ्वीराज ने 'वेलिक्रिसन रुकमणी री' नामक एक प्रबन्ध रचना प्रस्तुत की है जिसमें अलंकार वर्णन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। पुस्तक का एक भी ऐसा पद नहीं है जिसमें दो-दो, तीन-तीन अलंकार अपनी छटा के साथ वर्तमान न हों। कवि ने भ्रान्ति, सन्देह, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का बहुल प्रयोग किया है जिससे काव्य की सरसता में वृद्धि ही हुई है। अलंकारों की इतनी टूँस-ठाँस इस रचना में दिखलाई पड़ती है, किन्तु कविता का लालित्य तथा उसकी रसमयता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पायी है। शरदागम का बड़ा ही ललित एवं अलंकृत वर्णन कवि ने किया है। वर्षाऋतु के समाप्त होजाने पर स्वच्छ शरद्काल में स्थान-स्थान पर पृथ्वी पर एकत्रित जल स्थिर होकर स्वच्छ हो गये हैं। मिट्टी या सेवार जल पर से उसी प्रकार लुप्त हो गये हैं जैसे रतिकाल में नायिकाओं की आँखों से लज्जा लुप्त हो जाती है—

'वरिखा रितु गई सरद रितु वलती। वाखाणिसु वयणा वयणि ॥
नीखर धर जल रहिउ निनाणे। निधुवनि लज्जा त्री नयणि ॥'२०६॥

(वेलिक्रिसन रुकमणी री)

वसन्त ऋतु में मालिनी की सुन्दर भ्रान्ति का चित्रण अत्यन्त ललित बन पड़ा है। मालिनी के अंग केशर वर्ण के हैं और उनसे केशर की-सी सुगन्ध भी आ रही है। केशर के पुष्प के से ही उसके कोमल हाथ हैं जिससे वन में केशर बीनती हुई वह अपने नखों में अपने शरीर की ही छाया देखकर केशर के भ्रम में पड़ जाती है—

'तसुरंग वास तसु वास रंगतण
कर पल्लव कोमल कुसुम।
वणि वणि मालणि केसरि वीणति
भूली नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥' २५७ ॥ (वेलिक्रिसन रुकमणी री)

मदमत्त पुरुष रूपी उनके मलयानिल को पुष्पधारण करने वाली लताओं को आलिंगन प्रदान करने में उसी प्रकार कोई संकोच नहीं होता जिस प्रकार मद्यपान करके आया हुआ पुरुष पुष्पवती (ऋतुमती) स्त्रियों का आलिंगन करने में कोई संकोच नहीं करता—जिस प्रकार मदमत्त पुरुष मद पीकर मद का वमन करता है उसी प्रकार मलयानिल कहीं न रुकता हुआ सर्वत्र मद की वर्षा कर रहा है—

'पुहुपवती लता न परस पमूँके
देतौ अंगि आलिंगन दान।
मतवालो पयठाइ न मण्डे
पवन वमन करतो मधुपान ॥' २६२ ॥ (वेलिक्रिसन रुकमणी री)

महाकवि केशव कृत 'रामचन्द्रिका' की शैली संस्कृत के अलंकृत प्रबन्ध काव्यों के बिल्कुल निकट है जिन्हें पूर्व के कुछ विद्वानों ने रीतिबद्ध महाकाव्यों के नाम से भी पुकारा है। महाकवि केशव कवि बाद में हैं और आचार्य पहले, जिससे उन्होंने अपनी अधिकांश रचनायें अलंकारों को समझाने अथवा शास्त्र सम्बन्धित ज्ञान को सुलभ बनाने के लिए ही की है। 'वीरदेव सिंह चरित' तथा 'जहांगीर जसचन्द्रिका' आदि उनके प्रबन्धकाव्य हैं किन्तु रामचन्द्रिका अलंकृत शैली में लिखी उनकी प्रौढ़तम रचना है, जिसे उन्होंने मुख्यतः पांडित्य प्रदर्शन के लिए ही लिखा है, भक्ति-भावना से प्रेरित होकर नहीं। रचना का आधार अत्यन्त प्रसिद्ध रामकथा ही है, किन्तु 'केशव' के राम तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं रह पाये हैं क्योंकि वर्ण्य वस्तु तो निमित्त मात्र है जिसके सहारे कवि को अपने अलंकार पाण्डित्य का प्रदर्शन करना था। यही कारण है कि उन्होंने उपमा देते समय औचित्य और अनौचित्य का बिल्कुल ही ध्यान नहीं रखा है। उन्होंने धनशाला का प्रेक्षण करने जाते समय रामचन्द्रजी की उपमा 'चोर' से दी है—

'चतुर चोर से शोभित भये। धरणीधर धनशाला गये।'

इसी प्रकार एक स्थान पर उन्होंने 'राम' की उपमा उलूक से दी है—

'बासर की सम्पत्ति उलूक ज्यों न चितवत।'

रामचन्द्रिका के अनेक स्थलों पर उन्होंने इसी प्रकार का अनौचित्यपूर्ण वर्णन किया है। सीता की उपमा बाज पक्षी से[1] तथा राक्षसों की उपमा कामदेव से[2] देना ऐसे ही उपहासास्पद प्रसंग हैं जो केशव के पाण्डित्य एवं चमत्कार प्रदर्शन प्रवृत्ति के द्योतक हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों, उपमा-उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग करते समय उन्होंने चमत्कार प्रदर्शन की धुन में कुछ स्थानों पर ऐसे अप्रस्तुत-विधान किये हैं कि जिससे प्रस्तुत विधान के स्पष्ट न होने के कारण अप्रस्तुत विधान बड़े अरुचिकर हो गये हैं जैसा कि पंपासर में लिखे हुये 'कमल' के वर्णन-प्रसंग में देखा जा सकता है—

'सुन्दर सेत सरोरुह में कर हाटक हाटक की द्युति कोहै।
तापर भौंर भलो मनरोचन लोक-विलोचन की रुचि रोहै।
देखि दई उपमा जल देविन दीरघ देवनि के मन मोहै।
केशव 'केशवराय' मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहै।'

—रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध छ० सं० ४९

उपरोक्त छन्द में कवि ने ब्रह्मा के शिर पर विष्णु के बैठने की कल्पना की है जो अत्यन्त उपहासास्पद है। विविध अलंकारों के प्रयोग का जितना आग्रह 'रामचन्द्रिका' में पाया जाता है उतना हिन्दी के किसी प्रबन्ध काव्य में नहीं। 'अनेक स्थलों पर तो कवि ने

---

१. 'विहकन बन घूरे भक्षि क्यों बाज जीवे।
सिवशिर शशि श्री को राहु कैसे सु छीवे।' रामचन्द्रिका।

२. कहूँ रैनचारी गहे ज्योति गाढ़े। मनो ईस रोषाग्नि में काम काढ़े।' रामचन्द्रिका।

उपमा, उत्प्रेक्षा तथा सन्देह आदि अलंकारों की लड़ी-सी लगा दी है। इस रचना में प्रयुक्त अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, अपन्हुति, विभावना, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, श्लेष, परिसंख्या तथा विरोधाभास मुख्य हैं। इनमें भी जितना अधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा अलंकार का हुआ है, किसी अन्य अलंकार का नहीं हुआ[1]।' रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में राजमहल के वर्णन-प्रसंग में मण्डप का वर्णन करते हुए 'केशव' ने बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

'मण्डप सेत लसै अतिभारी। सोहत है छतुरी अति कारी।
मानुहु ईश्वर के सिर सोहै। मूरति राघव की मन मोहै॥' ३२॥

चमत्कारवादी होने के कारण श्लेष, परिसंख्या तथा विरोधाभास आदि चमत्कार-प्रधान अलंकारों का बहुल प्रयोग आचार्य कवि 'केशव' ने रामचन्द्रिका में किया है। जनकपुरी का वर्णन करते समय कवि श्लेषालंकार की सहायता लेता है—

'तिन नगरी तिन नागरी प्रतिपद हंसकहीन।
जलजहार शोभित न जहँ प्रकट पयोधर पीन॥' १६॥ (पूर्वार्द्ध)

परिसंख्या अलंकार के सर्वोत्तम उदाहरण हमें 'रामचन्द्रिका' में मिल सकते हैं। लगता है, यह अलंकार कवि को सबसे अधिक प्रिय है। अवधपुरी का वर्णन कवि परिसंख्या अलंकार में ही करता है—

'मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥' ४१॥ (पूर्वार्द्ध)

राम की कुटिल भृकुटि का भी प्रभाव सुर-नर तथा राक्षसों में सुन्दर दिखलाकर 'केशव' ने सुन्दर विरोधाभास की सृष्टि की है।

'जदपि भृकुटि रघुनाथ की, कुटिल देखि यति जोति।
तदपि सुरासुर नरन की निरखि शुद्ध गति होति॥' ४८॥ (पूर्वार्ध)

कुछ अलंकारों का तो बड़ा ही सुन्दर एवं यथोचित प्रयोग रामचन्द्रिका में पाया जाता है। जैसे—युद्धोपरान्त राम के अयोध्या लौटने पर चरणों पर गिरने के लिये दौड़ते 'भरत' की जो उपमा 'केशव' ने भौंरे से दी है, वह बड़ी ही सटीक एवं सुन्दर बन पड़ी है—

'आवत विलोकि रघुबीर लघुबीर तजि,
व्योम गति भूतल विमान तब आइयो।
रामपद पद्म सुख सद्म कह बन्धु युग,
दौरि तब षट् पद समान सुख पाइयो॥' (रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध)

रूपक अलंकार के भी सुन्दर प्रयोग रामचन्द्रिका में हुए हैं—

---

1. आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित, प्र० सं०, पृ० २२२।

'चढो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख।
कीन्हो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ॥' १३ ॥ (पूर्वार्ध)

चमत्कारवादी होते हुए भी केशव ने स्वभावोक्ति अलंकार तक का प्रयोग किया है—

'कँपे उर बानि डगे बर डीठि त्वचातिकुचे मति वेसकुचे ली।
नवै नवग्रीव थके गति 'केशव' बालक ते सँगही सँग खेली॥
लिये सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवे ज्वारा की सहेली।
भगे सब देह दशा, जिय-साथ रहै दुरि दौरि दुरासा अकेली ॥' ११ ॥ (उत्तरार्ध)

इसी प्रकार रामचन्द्रिका के पूर्वार्द्ध के छन्द १७, ४१, ४२, २५, ४३ तथा उत्तरार्ध के छन्द ४ में क्रम से रूपक, प्रतीप, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति तथा विभावना के सुन्दर नमूने मिलते हैं।

हिन्दी के उत्तर मध्यकाल में प्रबन्ध काव्यों की विशेष उन्नति नहीं हो पाई। 'लिखे तो अनेक कथा-प्रबन्ध गये, पर उनमें से दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छविसिंह की विजय-मुक्तावली, गुरुगोविन्दसिंहजी का चण्डी चरित्र, लाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीररासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनीपुराण, सूदन का सुजानचरित्र, देवीदत्त की वैताल-पचीसी, हरनारायण की माधवानल काम-कन्दला, ब्रजवासी दास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मुधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा-भागवत, नवलसिंह कृत भाषा-सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हामहाभारत, मूल ढोला तथा चन्द्रशेखर का हम्मीरहठ, श्रीधर का जंगमनामा, पद्माकर का रामरसायन ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं।'[1] किन्तु रचनायें अत्यन्त साधारण कोटि की हैं, जिनमें हमें स्वस्थ अलंकृत शैली के दर्शन नहीं होते। संस्कृत साहित्य में अलंकृत प्रबंध काव्यों का विकास आदि कवि वाल्मीकि तथा कालीदास की स्वाभाविक अलंकृत शैली से आरम्भ होकर श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' तक जिस प्रकार क्रमशः अलंकरण की ओर बढ़ता ही गया और अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर पाया, उस प्रकार की स्थिति हिन्दी प्रबन्ध काव्यों के क्षेत्र में नहीं रही। केवल 'रामचन्द्रिका' ही हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में एक ऐसी रचना है जिसे पूर्णतः अलंकृत अथवा रीतिबद्ध प्रबन्ध काव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में अलंकरण प्रवृत्ति का विकास प्रवृत्ति रूप में नहीं बल्कि अनुकरण रूप में हुआ है, जिससे अनुकूल परिस्थिति में मुक्तक काव्यों का महत्व बढ़ जाने के कारण अलंकृत शैली का विकास प्रबन्ध काव्यों की ओर से हटकर 'मुक्तक' काव्यों की ओर आ गया। यही कारण है कि 'रामचन्द्रिका' के पश्चात् लिखे जाने वाले प्रबन्ध काव्यों में न तो प्राणवत्ता है और न तो अलंकृत शैली का निर्वाह ही। प्रबन्ध काव्य लिखने की परम्परा ही कुछ काल तक के लिये स्थगित-सी हो गयी और जो कुछ लिखे भी गये वे

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० २००३ वि०, पृ० ३२३।

ऐसे कवियों द्वारा जिनमें प्रबन्ध काव्यकार की बिल्कुल प्रतिभा नहीं थी और वे कथा लिखने के मोह में पड़कर प्रबन्ध काव्यों के नाम से जोड़-तोड़ ही मिला रहे थे। कुशल कवियों की सारी की सारी प्रतिभा मुक्तक काव्यों के माध्यम से नायिका-भेद अथवा लक्षण ग्रन्थ के रूप में लिखी जाने वाली अलंकृत कविता की ओर लग गयी और कविता के इस क्षेत्र में कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ अलंकृत रचनायें हुई भी हैं। बाद के लिखे जाने वाले प्रबन्ध काव्यों में जोधराज कृत हम्मीररासो ही एक ऐसी प्रशस्त रचना है जिसमें मार्मिक स्थलों पर अलंकृत शैली के कुछ दर्शन मिल जाते हैं। बेगम और सेख के जंगल में मिलन प्रसंग की चर्चा करते समय कवि ने बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है :—

'महा मोद मन बढ्यो परस्पर तन मन फुल्लिव।
मिटिव बंक मन संक निसंक है आसन भुल्लिव॥
मानो कोक चकोर चन्द लम्भव रविलंबे।
घन दामिनि मनु मिलिय कामरति पति सुख फंबे॥
दुहुँ ओर सोर स्वातिक सुभो, गाढो आलिंगन दियव।
नख खंड नाहिं परसे सरहिं, सकल कोक केली कियव॥' २३०॥
(हम्मीररासो)

मधुसूदनदास कवि कृत 'रामाश्वमेध' भी अन्य परवर्ती प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा साहित्यिक रचना है।

गीति और मुक्तकों के अलंकार

हिन्दी कविता में अलंकृत शैली का विकास मुख्यतः दरबारी साहित्य के मुक्तक कवियों के काव्यों में ही हुआ, प्रबन्ध काव्यों में उसका अस्तित्व तो नाम मात्र को ही है। गीति और मुक्तक काव्यों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, वे दोनों ही मुक्तक काव्य ही हैं। किन्तु गीति काव्य अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण मुक्तक काव्य से पृथक् जान पड़ता है। गीति काव्य की गेयता उसकी प्रमुख विशेषता है जो मुक्तक काव्य से उसे अलग करती है। इसके अतिरिक्त गीति काव्यों में अधिकांश कथाओं को ही अलंकृत काव्यमयी शैली में चित्रित किया जाता है, प्रमाण स्वरूप कवि (सूरदास) के गीतों को ले सकते हैं। तुलसी दास की गीतावली तथा कवितावली इसी कोटि की रचनायें हैं जिनमें से कथाओं को निकाल कर काव्यरस का आनन्द प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। स्वतन्त्र मुक्तकों में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि वे जीवन के खण्ड-चित्रों को लेकर लिखी अपने में पूर्ण रचनायें होती हैं। ऐसी स्थिति में गीति काव्य को यदि हम प्रबन्ध मुक्तक और मुक्तक काव्य को स्वतन्त्र मुक्तक के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा।

प्रबन्ध मुक्तक

प्रबन्ध गेय मुक्तकों की भी दो कोटियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिनमें से एक का सम्बन्ध लौकिक शृङ्गारिक कविताओं से है और दूसरे का भक्तिपरक गीतों से। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के भक्तिपरक गीतों का स्रोत या मूल वैष्णव भागवद्भक्ति में है, राजसभाओं में,

नहीं। ये गीत न तो भाट और चारण की सृष्टि है और न भोग-विलासिता की उपज, वास्तव में इनका स्वर राधा-रमण, नटवर श्रीकृष्णचन्द्र जी की लीलाओं से प्रस्फुटित हुआ है, जिन पर श्रीमद्भागवत तथा 'वेदव्यास' का सबसे अधिक प्रभाव है। सूर तथा नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों पर यह प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है किन्तु विदेशी मुस्लिम संस्कृति के संपर्क में आने के कारण फारसी साहित्य की कोमल प्रेम भावनाओं ने उनके स्वर को भी कोमल बना दिया था, जिससे उनमें पूर्व के संस्कृत वैष्णव कवियों की सी कर्कशता नहीं रह पाई थी।

भक्तिपरक गीतों के साथ ही साथ स्वस्थ लोक जीवन से अभिभूत ऐहिकतापरक गीतों की भी सृष्टि हो रही थी। भक्त कवियों ने जिस स्रोत से भक्ति भावना ग्रहण किया वहीं से स्वस्थ लोक जीवन के मधुर गायक कवियों ने भी प्रेम परक प्रेरणायें ग्रहण कीं। भागवत के दशम स्कन्ध में लौकिकता और अलौकिकता दोनों विद्यमान हैं और मध्यकालीन हिन्दी कवियों के पूर्व भी जिस को लक्ष्य करके ऐहिकतापरक रचनायें हो रही थीं। जब इस्लाम धर्म भारतवर्ष में आया, तब तक इस प्रकार की रचनायें, यहाँ काफी लिखी जा चुकी थीं एवं भारतीय साहित्य में एक ऐसी धारा बहने लगी थी जिसमें धर्म और परलोक की चिन्ता नहीं, जीवन के भोग रूपों का सरस बखान था। इसके भीतर छिपे-छिपे एक प्रकार की भावुकता भी पलती आ रही थी जो लड़कियों की अदाओं पर न्योछावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक रूपों पर कुरबान थी, जो विरह के दाह से मुरझाने लगती थी एवं मिलन की वर्षा में भींगकर क्षणमात्र में हरी हो जाती थी।[१] जिसकी भावुकता पूर्ण प्रभावमयी शैली ने भक्तिपरक गीतों तक को भी प्रभावित किया है और आगे चलकर शृंगारिक मुक्तकों में तो इसका चरम विकास ही हुआ है।

प्रबन्ध गेय मुक्तककारों में महाकवि सूरदास और कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का नाम प्रमुख है, जिनमें अलंकृत शैली के सुन्दर नमूने दिखलाई पड़ते हैं। महाकवि सूरदास एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनके समान स्वाभाविक अलंकृत शैली में ललित रचना करने वाला कवि सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। **'सूर का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है, जिसमें रस की थाह नहीं पायी जा सकती। भक्ति और वात्सल्य के भावों को रस की कोटि तक पहुँचाने का श्रेय सूर को ही प्राप्त है, क्योंकि इन भावों का ऐसा तीव्र एवं व्यापक अभिव्यंजन, जो रस के सारे शास्त्रीय अंगों से पुष्ट है, सूर के अतिरिक्त किसी कवि से नहीं हो पाया। जिस प्रकार उमड़ती हुई सरिता अपने कूल-नियमित सरलपथ में प्रवाहित होने में असमर्थ होकर नवीन-नवीन मार्ग खोज लेती है, उसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरमविकास की स्थिति में कवि के कण्ठ से निकली हुई भाव-रस-धारा सीधी सरल भाषा के कूलों में न समाती हुई चमत्कारपूर्ण वक्र कथनों के विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है, यह स्वाभाविक है।'**[२] इनके मधुर गीतों की चमत्कार-

१. रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', प्र० सं० पृ० १५० ।
२. डा० हरिवंशलाल शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', प्र० सं० पृ० ३२८ ।

पूर्ण शैली तथा वाग्वैदग्ध सहृदयता से ओतप्रोत है जिससे उनमें अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते और वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीख पड़ते हैं। अलंकारों का प्रयोग सूरदास ने विशेषकर सौन्दर्य बोध के लिये किया है।

महाकवि 'सूर' की सौन्दर्यानुभूति जब सजग हो उठती है, उनका हृदय जब तल्लीन हो जाता है, तो उनकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को और अधिक हृदयग्राही तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत व्यापार योजना का सन्निवेश करने लग जाती है, जिससे उस समय कवि की रचना में अलंकारों का समावेश अपने आप हो जाता है। परिणामस्वरूप 'सूर' की रचनाओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति तथा प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। **'सूरदास जी जहाँ सांसारिकता से ऊब कर खिन्न मन से ऐसा स्थान खोजने को प्रयत्नशील होते हैं, जहाँ ऐहिक राग-विराग, मानापमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का अभाव हो, वहाँ स्वाभाविक रूप से ही अन्योक्ति अलंकार आ गया है।'**[1] उन्होंने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक और स्वाभाविक प्रयोग किया है। शब्दालंकारों द्वारा रूप-सौंदर्य-चित्रण के साथ-साथ उसके द्वारा भाव-सौंदर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करना सरल होता है। यही कारण है कि चमत्कार प्रदर्शन के लिये यदि हम 'साहित्य लहरी' को उनकी रचना मान लें तो, शब्दालंकारों का बहुल प्रयोग हुआ है, जिसमें यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया गया है। दृष्टकूट पदों के लिये श्लेष और यमक अलंकार सबसे अधिक उपयुक्त भी होते हैं। अर्थालंकारों का प्रयोग 'सूरसागर' के पदों में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार का जितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद में है उतना उत्कृष्ट एवं सटीक उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है :—

'तबसे इन सबहिन सचु पायो।
जब ते हरि सन्देश तुम्हारो सुनत तांवरो आयो॥
फूले व्याल दुरेते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
फूले मिरग चौंकि चखन ते हुते जो बन बिसरायो॥
निकसि कंदरा हूते केहरि माथे पूँछ हिलायो।
गह्वर ते गजराज आय अंग अंग प्रीत गर्व बढ़ायो॥
ऊँचो बैठि विहंग सभा में सुक बनराय कहायो।
किलकि किलकि कुल सहित आपने कोकिल मंगल गायो॥
अब जनि गहर करो हो मोहन जो चाहत हो ज्यायो।
'सूर' बहुरि है राधा को सब बैरिनि को मायो॥'

'सूरसागर' के पदों में अप्रस्तुत व्यापारों का आयोजन करने के कारण सादृश्यमूलक अलंकारों की प्रचुरता तो है ही, सांगरूपक का प्रयोग उसमें सबसे अधिक हुआ है। पतितन के राजा सूर का सांगरूपक अलंकार के सहारे वर्णन द्रष्टव्य है :—

१. वही, पृ० ४१८।

'हरि हौं सब पतितन कौ राजा।
निन्दा पर मुख पूरि रह्यो जग, यह निसान नित बाजा॥
तृष्ना देश अरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मन्त्री काम कुमति दीबै कौ, क्रोध रहत प्रतिहारी॥
गज अहंकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत-संगति की मेरैं, ऐसौ हौं मैं ईस॥
मोह-मया बन्दी गुन गावत, मागध दोष अपार।
'सूर' पाप कौ गढ़ दृढ़ कीन्हौ, मुहकम लाइ किवार॥' (सूरसागर १४४)

अविद्या अथवा माया को गाय मानकर सूर ने केवल गाय उपमान का ही वर्णन 'माया' उपमेय के गुणों की ओर संकेत करते हुये इस प्रकार किया है कि अप्रस्तुत वर्णन के द्वारा प्रस्तुत का प्रशंसन हो जाता है जिससे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार की सुन्दर योजना हुई है—

'माधो जू यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप आगैं दई, लै आइये चराई।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुँत अमारग जाति।
फिरति बेद-बन-ऊख, उखारति, सबदिन अरु सबराति।
हित करि मिलै लेहु गोकुल पति, अपने गोधन मोहँ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाहँ।
निधरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फैरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलैं लेहु निबेरि। (सूरसागर ५१) ना० प्र० सभा

श्रीकृष्ण की मुख छबि का वर्णन करते समय सूरदास ने उत्प्रेक्षा अलंकार की बड़ी ही सुन्दर योजना की है—

'मुख छबि कहौं बनाई।
निरखि निसि पति बदन-सोभा गयो गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइरहे लुभाइ।
निकसि सरतैं मीन मानौ, लरत कीर छुराइ।'
कनक-कुण्डल-स्रवन विभ्रम कुमुद निसि सकुचाइ।
सूर हरि की निरखि सोभा कोटि काम लजाइ॥ (सूरसागर ९७० ना० प्र० सभा)

कवि जब कृष्ण के सुन्दर नेत्रों की उपमा ढूँढकर थक जाता है तो निराश होकर उसका विह्वल मन गाकर व्यतिरेक अलंकार की सृष्टि करता है :

'उपमा नैन न एक रही।
कवि जन कहत कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही॥
कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख-कमल-कोष बिछुरे तैं ठाले कत ठहरात॥
ऊधौ बधिक व्याध ह्वै आये, मृग सम क्यों न पलात।'
(सूरसागर ४१९०) ना० प्र० सभा।

इसके अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के पद संख्या १२५४, २४३१, १२६०, १२४४, १२५८, १२६१, २४७३ तथा ४१२६ में क्रम से उल्लेख, प्रतीप, सन्देह, अतिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्भावना, उपमा और अपन्हुति अलंकारों के सुन्दर प्रयोग देखे जा सकते हैं।

भगवान् कृष्ण के यश और गुणवर्णन में 'सूरदास' ने अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति और विरोधाभास अलंकारों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है जहाँ-तहाँ अर्थान्तरन्यास और उदाहरण अलंकार भी आये हैं। चकई, मृगी, सुआ आदि के प्रति गाये पदों में अन्योक्ति अलंकार के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'भगवान् अकारण ही भक्तों और दीनजनों पर कृपा करते हैं, ऐसे भावों के प्रकाशन में विभावना अलंकार है। प्रेमगोपन के लिये सन्देह, विस्मयोत्पत्ति के लिये असंगति, असंभव और विषम आदि अलंकारों का आश्रय लिया गया है। शिव और कृष्ण के रूप वर्णन में सांग रूपक और श्लेष के साथ-साथ, अपन्हुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में उत्प्रेक्षा और सांगरूपक का तथा संसार की असारता, यौवन की क्षणभंगुरता, भगवत्प्रेम आदि के वर्णन में उपमा के साथ-साथ अर्थान्तरन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।[1] सूरसागर के पदों में इतने अलंकाररत्नों के होते हुये भी जो उनकी सरसता एवं स्वाभाविकता अक्षुण्ण रही है, उसका एकमात्र कारण महाकवि 'सूर' के भावों की तन्मयता और अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही है।

सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी कविता में स्वाभाविक अलंकृत शैली का यदि कहीं सफल निर्वाह हो सका है तो महाकवि 'सूरदास' के प्रबन्ध गेयमुक्तकों में ही। वे जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लग जाती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षण और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है[2]।' सूरदास के ललित पद निःसन्देह अलंकृत कविता के सर्वोत्तम नमूने हैं।

---

1. डा० हरिवंशलाल शर्मा—'सूर और उनका साहित्य', प्र० सं० पृ० ४४८।
2. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य', प्र० सं० पृ० १८४-८५।

महाकवि सूरदास के गेय पदों को इतनी ख्याति मिली कि तत्कालीन समस्त उत्तरी भारत उनकी मधुर रागिनी से गूँज उठा और उनके लीलाप्रभु कृष्ण के प्रति लिखे गये सरस पद देवालयों से लेकर कुटिओं तक तन्मयता के साथ गाये जाने लगे। अन्य समकालीन कवियों ने भी सूर की वीणा के साथ स्वर मिलाकर गाना आरम्भ किया और यहाँ तक कि मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदास को भी 'श्रीकृष्ण गीतावली' लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा। रामचरितमानस की अपेक्षा गीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका आदि के प्रबन्ध गेय अथवा अगेय मुक्तकों में तुलसी का कवि-हृदय अधिक खुलकर व्यक्त हो सका है। जहाँ कहीं भी श्रीरामचन्द्र जी के मनोहर रूप का वर्णन उन्हें करना पड़ा है, वहीं उनकी लेखनी में भाव-विह्वलता की भाषा उतरी है जिससे अलंकारों का स्वाभाविक रूप में प्रयोग अपनेआप होता गया है।

गृद्धराज जटायु को गोद में लेकर अत्यन्त करुणभाव से नियति को कोसते हुये मर्यादापुरुषोत्तम राम की भावविह्वलता की भूमिका में 'तुलसी' स्वयं उतरते जान पड़ते हैं। अश्रुपूर्ण राम के नेत्रों का वर्णन करते समय कवि की सहायता के लिये उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार अपनेआप आ गये हैं :

'राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचित मनहुँ अरघ जल दीन्हों।
सुनहुँ लषन ! खगपतिहिं मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो।'[1]

तुलसीदास की अन्यकृतियों से अधिक अलंकारयोजना कवितावली और गीतावली में हुई है। उन्होंने 'रूपक' अलंकार पर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुये उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियों में पग-पग पर किया है। छोटे-छोटे निरङ्ग और परम्परित रूपकों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बेजोड़ सांगरूपक के भी एक से एक बढ़कर उदाहरण 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति प्रधान कृतियों में जगमगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांगरूपकों में मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखाई हो[2]।' धनुर्भंग के अवसर पर 'गीतावली' में तुलसीदास जी ने सहोक्ति अलंकार का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाय लियो।
नृपगनमुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकर्ष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक-हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्व सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो।'
(गीतावली बालकांड गीत ८८)

---

१. तुलसी 'गीतावली' अरण्य० गीत १३।
२. डा० राजपति दीक्षित—'तुलसीदास और उनका युग', प्र० सं० पृ० ४४३।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार, अध्यवसायमूलक अलंकारों के अन्तर्गत ही आते हैं। तुलसी ने अपने गीतों में इन अलंकारों का भी प्रयोग दिल खोलकर किया है। उपमाओं और रूपकों की भाँति उत्प्रेक्षाओं की भी भरमार उनके गीतों में देखा जा सकती है। जानकी-वर श्री रामचन्द्र जी की जब वे सुन्दरता का वर्णन करने लग जाते हैं तो एक नहीं अनेक अलंकार सहायता के लिए दौड़ पड़ते हैं :

'जानकी-वर सुन्दर माई।
इन्द्रनील-मनि स्याम सुभग अँग अंग मनोजनि बहूछवि छाई।
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नखदुति देत कछुक अरुनाई।
कंज दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सु सदसि बनाई।
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई।।
किंकिन कनक कंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई।
गई न ऊपर सभीत नमित-मुख, बिकसि चहूँ दिसि रही लोनाई।।
जज्ञोपवीत विचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहि भाई।
कंद तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु-रुचिर बलाक पाँति चलि आई।।
कंबु कंठ चिबुकाधर सुन्दर, क्यों कहौ दसनन की रुचिराई।
पदुम कोस मँह बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई।।
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि, अनुपम छवि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई।।

(गीतावली बालकांड गीत १०६)

एक ही गीत में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास जैसे अलंकारों की सुन्दर योजना जिस प्रकार तुलसी ने उपरोक्त रचना में की है अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी की समन्वय वादी प्रतिभा ने शब्दा और अर्थालंकारों का भी कहीं कहीं अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। तुलसी अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के कवि थे जिससे उन्होंने शब्दालंकारों पर विशेष दृष्टि नहीं रखी है किन्तु फिर भी वे स्वाभाविक रीति से उनकी रचना में आ ही गये हैं। रहे अर्थालंकार, जिनमें से कदाचित् ही कोई ऐसा अलंकार छूट गया हो जो इस कवि की रचना में न आया हो, नहीं तो प्रायः सभी अर्थालंकारों के सुन्दर उदाहरण उनके गेय अथवा अगेय मुक्तकों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

स्वतन्त्र गेय मुक्तक

भक्तिपरक प्रबन्ध गेय मुक्तकों पर भी जिस कविता की कोमलता का प्रभाव पड़ा है, वह है सरस गेय कविता जो लीला प्रभु श्रीकृष्ण और ब्रजांगनाओं के निकट तथा ब्रज-भूमि के आस-पास तो जाती रही किन्तु जिसमें मानव-मन की श्रृङ्गारिक वृत्तियों की ही अभिव्यक्ति अधिकतर हुई है। भक्ति परक स्वतन्त्र गेय पद लिखने वाले वे कविगण, जिनपर भागवत् सदृश धार्मिक ग्रन्थ का प्रभाव तो है किन्तु उनकी कथाओं को ही बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, उन स्वतन्त्र गेय मुक्तकों से सर्वाधिक प्रभावित हैं जो 'विद्यापति' के कण्ठ

से फूटे थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भागवत-धर्म की उन्नति हो रही थी, परन्तु भक्तिमार्ग के वैष्णव सम्प्रदाय की प्रबलता थी, जिनके भाव मनुष्यों के हृदयों को आन्दोलित कर रहे थे, जिनका विकास आगे चलकर हिन्दी कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ है। व्रजभूमि में पहुँचकर वैष्णव धर्म ने और भी बल प्राप्त किया जहाँ पर इसपर एक विशेष रङ्ग भी चढ़ गया। व्रजनायक श्रीकृष्ण चन्द्र के जीवन-चरित्र का प्रथमांक यहीं खेला गया था और वही रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदय में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और भक्ति उस भाव और कला की ओर विशेष रूप में झुक गयी। 'व्रज-भूमि तो पूर्णकला-प्रवीण मुरली-मनोहर की रंगस्थली ही थी, उसका कहना ही क्या। बंग और बिहार के जयदेव, विद्यापति ठाकुर और चण्डीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गये थे। उनके गीतों और पदों को श्रीचैतन्य महाप्रभु नेत्रों में आँसू भर कर गाते थे।'[1] यही कारण है कि भक्त-हृदय कवियों एवं मनुष्यों को उसने अधिकाधिक आकर्षित किया किन्तु वे गीत उनकी अन्तर्वृत्तियों से फूटे थे। विद्यापति के गीतों में तो मानवीय भावों की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

जिस प्रकार के साहित्य के बीच से हिन्दी कविता का विकास हुआ, उसमें गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था, यद्यपि वह बहुत ही थोड़ा ही बच पाया है। 'बौद्ध सिद्धों के कुछ गेय पद बच रहे हैं। परन्तु इसकी परम्परा हिन्दी साहित्य में जी रही है। कबीर, सूरदास, दादू, तुलसीदास आदि महाकवियों की रचनाओं के गेयपद इसके सबूत हैं[2]।' विद्यापति का रचनाकाल एक प्रकार से अपभ्रंश कविता का समाप्ति और हिन्दी कविता का आरम्भ काल था। अपभ्रंश साहित्य में शृंगारिक कविताओं की धूम थी, जिसकी सत्यता के प्रमाण सन्देशरासक के पद तथा हेमचन्द्र के दोहे हैं। विद्यापति का इस स्वस्थ लोकधारा के स्वाभाविक प्रभाव से अछूता रहना कठिन ही था। इनके भी पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गयी हो। इनका माधुर्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। जिससे इनको कृष्ण-भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिये। बाद के हिन्दी मुक्तक-काव्यों पर विद्यापति का स्पष्ट प्रभाव तो नहीं दिखलाई पड़ता किन्तु राधा-कृष्ण का केवल नाम लेकर नायक-नायिका का भेद-सम्बन्धी लौकिक शृंगारी साहित्य की जो परम्परा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में विकसित हुई निश्चित ही उन पर विद्यापति की शृंगारिक अनुभूतियों का प्रभाव है जिन्हें लोग भ्रम से अलौकिक मान बैठते हैं।

विद्यापति के गीतों की मधुरिमा पर अलंकृत काव्यों का सम्पूर्ण वैभव लुटाया जा सकता है। अनुप्रासों की अद्भुत छटा उनके गीतों में सर्वत्र विद्यमान है। जहाँ कहीं भी

---

१. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—'व्रजभाषा का काव्य और शृङ्गार', सरस्वती पत्रिका, जुलाई १९२० ई० पृ० २५०।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० २००३ वि० पृ० ५०।

उन्हें नारी-सौन्दर्य का चित्रण करना पड़ा है उन्होंने उत्प्रेक्षा अलंकार का सहारा लिया है। स्नान करती हुई नायिका का उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णन दर्शनीय है—

'कामिनी करए सनाने। हेरितहि हृदय हनए पंचबाने।
चिकुर गरए जल धारा। जनि मुख-ससि डर भय होअय अंधारा॥
तितल वसन तनु लागू। मुनिहुक मानस मनमथ जागू॥
कुच युग चारु चकेवा। निब कुल आनि मिलायल देवा॥
ते संसे भुज पासे। बांधि धयल उड़ि जायत अकासे॥
कवि विद्यापति गावे। गुनमति धनि पुन तम जन पावे॥'

(विद्यापति पदावली)

विद्यापति द्वारा प्रयुक्त अलंकार उनकी रचनाओं की सरसता में ऐसे घुल मिल गये हैं कि ध्यानपूर्वक देखने पर ही दिखलाई देते हैं। ऊपर ही स्पष्ट कर दिया गया है कि विद्यापति के गीतों की परंपरा हिन्दी गीतों में नहीं आ सकी जिसका एकमात्र कारण प्रबंध गेयमुक्तकों का विकास ही है जिसकी चर्चा की जा चुकी है। किन्तु सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों तथा रसिक भक्त गायकों ने भी लीला प्रभु के गान गाये हैं तथा जी खोलकर उनकी सुषमा का वर्णन किया है, परन्तु उनमें कथा का आधार भले हो लिया गया हो, कथा कहने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इस प्रकार के गेय पदों में अलंकार योजना की अपेक्षा भावप्रवणता की ओर आग्रह अधिक दिखलाई पड़ता है, नन्ददास, परमानन्द दास, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास तथा रसखान आदि की रचनायें इसी श्रेणी में आती हैं। इनमें नन्ददास, महाकवि सूरदास की परम्परा के अधिक निकट पड़ते हैं जिनका 'भ्रमरगीत' सूरसागर के भ्रमरगीतों के आधार पर ही लिखा जान पड़ता है। नन्ददास जी की अलंकृत शैली बड़ी ही परिमार्जित है। उनके सम्बन्ध में प्रचलित उक्ति 'और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया' अक्षरशः सत्य है। हितहरिवंश के गीतों में अनुप्रास योजना और उत्प्रेक्षा अलंकारों का सफल प्रयोग दिखलाई पड़ता है।

'ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख-सिख लौं अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों रजाति कबरी गूंथति कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चन्द्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रकुटि काम-कोदंड, नैनशर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन-समनी॥
हित हरिवंश प्रसंसित स्यामा की रति बिसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व दुरित-दवनी॥

(हितहरिवंश-हितचौरासी)

'रसखान' कवि के सवैये अनुप्रास की सुन्दर छटा के लिये हिन्दी साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

'या लकुटी अरु कामरिया पर राजतिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सो रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतक ही कल धौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥' (रसखान)

दरबारी साहित्य का विकास और मुक्तकों के सहारे अलंकार योजना

दरबारी साहित्य

निवेदन किया जा चुका है कि हिन्दी के अलंकृत काव्यों का विकास एक सामाजिक प्रवृत्ति के रूप में न होकर संस्कृत साहित्य के अलंकृत काव्यों के आधार पर विदेशी मुस्लिम संस्कृति के मेल से हुआ। दरबारों में लिखी बहुत-सी मुक्तक रचनायें तो ऐसी हैं जो अलंकारों के प्रदर्शन के लिये अथवा अलंकारों के 'उदाहरण स्वरूप ही लिखी गयी हैं। राजाश्रय में लिखी अधिकांश कविताएँ इसी रुचि की द्योतक हैं जिनमें प्रबन्ध गेयमुक्तकों की स्वाभाविकता नहीं रह पायी है। किन्तु जिन रचनाओं में अलंकारों पर से आग्रह हटकर शृंगारिक वृत्तियों पर आ गया है, उनमें स्वाभाविकता का अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। आरम्भ ही में जिस राजन्य संस्कृति की चर्चा अलंकृत काव्यों के सम्बन्ध में कर आये हैं, ठीक वैसी ही स्थिति हिन्दी के अलंकृत मुक्तक काव्यों के समय उपस्थित हो गयी थी, जिसके विभिन्न राजसी एवं विलासी तत्वों ने अनेक दृष्टियों से हिन्दी के मुक्तकों को अलंकृत बनाने में योग दिया है।

मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत काव्य का निर्माण भारतीय लोक-जीवन द्वारा नहीं बल्कि दरबारों के द्वारा हुआ था। अकबर के शासन काल से लेकर औरंगजेब के शासन काल तक की हिन्दी रचनाओं में जिस विलास एवं वैभव के हमें दर्शन मिलते हैं उनका सम्बन्ध दरबारों, सामन्तों तथा नगरों के कुछ चुने चुनाये अमीरों से ही है। भारत की साधारण जनता की स्थिति उससे भिन्न थी। जनता में अलंकरण की प्रवृत्ति थी किन्तु उनके पास साधनों का अभाव था। 'इस काल में अनेक बार दुर्भिक्ष पड़े। अकबर के समय में सन् १५५५-५६ में पहला दुर्भिक्ष पड़ा। दिल्ली प्रायः वीरान हो गयी और अनेक लोगों की मृत्यु हो गयी। बदायूंनी लिखता है कि मैंने स्वयं देखा था कि मनुष्य मनुष्यों को खा जाते थे और भूख से तड़पते लोगों को देखना भी एक यंत्रणा थी। प्रायः सर्वत्र क्षेत्र वीरान हो गया था। सन् १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा उसके बाद महामारी भी फैली। शाहजहाँ के काल में सन् १६३०-३१ में एक दुर्भिक्ष पड़ा। जिसका प्रभाव दक्षिण में गोलकुण्डा और अहमदनगर तथा उत्तर में मालवा और गुजरात पर पड़ा। अब्दुल हमीदलाहैरी लिखता है कि लोग एक चपाती के लिए जान देने को तैयार थे परन्तु चपाती देने वाला नहीं था। लोगों का कष्ट इतना बढ़ गया कि वे सभी कुछ खाने लगे। कुत्तों की पारी पहले आई। इसके बाद अन्य जानवर मारडाले गये। अन्त में लोग अपने बच्चों का मांस भी खानेपर उद्यत हो गये।'[1] एक ओर तो देश की यह हालत थी दूसरी ओर ताजमहल और मयूर सिंहासन का

१. अवधविहारी पाण्डेय—'मध्यकालीन भारत' प्र० सं० पृ० ४९०।

निर्माण हो रहा था। मुगल दरबारों की रौनक इन्द्रासन को भी मात कर रही थी तथा कविगण विलासिता एवं शृङ्गार के गीत गा रहे थे, लक्षण ग्रन्थों एवं नायिका भेदों का निर्माण हो रथा था और लोग कामनियों की अदाओं तथा उनकी भौंहों के बांकपन से चलाये गये तीर से बिंध कर वेदिल हो रहे थे। ऐसी कविताओं का मूल स्रोत मुगल बादशाहों के दरबार तथा सामन्तों की वैठके हैं। संस्कृत साहित्य के अलंकृत काव्यों की परम्परा किसी न किसी रूप में पहले से ही चली आ रही थी। जिसे विकसित होने का पूर्ण अवसर इस मध्ययुगीन दरबारी संस्कृत में मिला। यदि हम देखें तो स्वाधीन और अर्द्धस्वाधीन भारतीय राज्यों में स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत साहित्य का पठन-पाठन पहिले के ही समान होता रहा और काव्य, अलंकार-ध्वनि, व्याकरण, तत्वज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर अनेक नवीन ग्रन्थ लिखे गये, मुसलमानी राज्यों में भी भारतीयों ने संस्कृति का लिखना-पढ़ना बन्द नहीं किया परिणाम स्वरूप पण्डित राज जगन्नाथ ने अपना प्रसिद्ध शास्त्र ग्रन्थ संस्कृत में मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन काल में ही लिखा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की प्रचुर सामग्री हिन्दी कवियों के सम्मुख वर्तमान थी जिसका उन्हें उपयोग भर करना था।

मध्यकालीन अलंकृत कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाड़ वंश की उन्नति भी है। इससे हिन्दु कवियों के हृदय आशान्वित होकर भाव-पूर्ण कविता लिखने की ओर झुके। 'राणा संग्राम सिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी को न उठा लाते राजधानी और राजदरबार का ब्रजमण्डल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिये दृढ़ कारण हो गया। अकबर के राजदरबार और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल पहल रही। साहित्य सेवा की इच्छा से फारस और अन्यान्य देशों से आ आकर सहृदय कवि राजधानी में बस गये।'[1] फारसी आचार-विचार भाव और काव्यशैली की उन्नति हिन्दी कविता के लिये भी सहायक हुई। ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी सौन्दर्य के उपासक, शृङ्गार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी प्रेमियों की भी स्थिति ठीक ऐसी ही थी जिससे दोनों के बीच एक प्रकार की मित्रता हो गयी। सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेनानायक जैसे कविवर रहीम एवं राजकवि ब्रजभाषा में कविता करने लगे। इनकी देखा-देखी औरों में भी हिन्दी कविता के प्रति आदर बढ़ा।

दरबार की देखा-देखी छोटे-छोटे राजाओं और नबाबों के दरबारों में भी हिन्दी कविता की पहुँच हो गई क्योंकि बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकें हैं। 'सामन्तों और नबाबों की बैठकें मुगल दरबारों की नकल होने पर भी कभी-कभी शान-शौकत में उनसे बढ़ जाने की भी इच्छा रखती थीं। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय हमें उस समय मिल जाता है जिस समय संस्कृत में अलंकृत काव्यों का चरम विकास हुआ था। उस समय की ऐसी स्थिति हो गयी थी कि 'कभी-कभी रईसों का विलास समसामयिक राजाओं से भी बढ़कर होता था इस बात का प्रमाण मिल जाता है। राजाओं को युद्ध, विग्रह,

---

1. सरस्वती पत्रिका—'सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी' भाग २१ खण्ड २ जुलाई १९३० ।

राज्यसंचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे, पर सुराज्य से सुरक्षित समृद्धशाली नागरिकों को इन झंझटों से कोई सरोकार नहीं था। वे धन और यौवन का सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे।[1] इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त मनोरञ्जक कहानी भी प्रचलित है कि 'महाराज भोज के घर कवि 'माघ' एक बार अतिथि होकर गये और राजा के पूर्ण सम्मान करने पर भी उन्हें उस सम्मान से सुख न मिल सका, जिसका कारण जानने के लिये महाराज भोज ने स्वयं कवि 'माघ' का अतिथि बनना चाहा। महल में प्रवेश करते ही कवि 'माघ' के शौचालय से आती हुई धूप-चन्दन आदि की सुगन्ध को देखकर राजा को पूजा गृह का भ्रम हुआ था। मुगल सम्राट् अकबर ने मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ कर दी थी कि बाहरी आक्रमणों की कोई शंका ही नहीं रह गई थी और उसके सुन्दर प्रबन्धों के कारण भोग विलास की सामग्रियाँ सुलभ हो गई थीं जिससे अधीन राजाओं और नबाबों का ठाट-बाट तथा भोग-विलास दिल्ली दरबार से भी आगे था। 'सम्राट् के ही अनुरूप अमीरों ने अपने को ढाला। राजपूत राजाओं के द्वारा इस दरबारी सभ्यता का प्रचार राजस्थान में भी हो गया था। योरोप का एक यात्री लिखता है कि जितने ठाट से भारत के कुछ अमीर रहते हैं उतने ठाट से योरोप के शासक भी नहीं रहते[2]।' इस युग के समाज में जिसे हम दरबारों अथवा नगरों का ही समाज कहेंगे, बाहरी तड़क-भड़क तथा अलंकृत वस्त्राभूषण को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। 'औरंगजेब को छोड़कर सभी सम्राट् आभूषणों का साज-शृंगार पसन्द करते थे। शाहजहाँ के समय में यह अपने चरम उत्कर्ष पर था। सम्राट् स्वयं मयूर सिंहासन पर बैठता था जो सुवर्ण का बना हुआ था तथा जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न सरुचि और सुन्दर कलात्मकता के साथ जड़े हुए थे[3]।' सर्वत्र एक अजीब गति, एक अजीब अदा दिखलाई पड़ती थी। यहाँ तक कि चलना-फिरना आदि सबकी एक विशेष स्वीकृति थी जिसका पालन करना आवश्यक हो गया था। काव्य तथा अन्य ललित कलाओं को प्रश्रय मुगल दरबारों, सामन्तों की बैठकों तथा नगर के अमीरों के यहाँ ही मिलता था। रीति अथवा अलंकृत काव्य के अधिकांश कवि दरबारी थे जिससे उस काल की कविताओं में दरबारी सभ्यता तथा संस्कृति ही मुखर हुई है। मुगल दरबारों की विलासिता तथा इन्द्रिय लोलुपता और कलाप्रियता आदि मध्यकालीन दरबारी सभ्यता के मुख्य तत्व थे जिन्होंने उस काल की अलंकृत कविताओं को प्रभावित किया है।

दरबारी रौनक पर विदेशियों का प्रभाव

मुगल कालीन दरबारों की रौनक पर बहुत कुछ फारसी सभ्यता का प्रभाव जमा हुआ था। दरबारों में बराबर विदेशी अमीर भी रहा करते थे जो एशिया के अन्य दरबारों का विवरण सम्राट् को सुनाते थे और सम्राट् उनके कुछ आकर्षक अंगों को अपने दरबारी जीवन में भी सम्मिलित कर लेते थे। विदेशी मदिरा, विदेशी फल, विदेशी बहुमूल्य वस्त्र,

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी—'प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद', प्र० सं० पृ० ९।
२. अवधबिहारी पाण्डेय—'मध्यकालीन भारत', प्र० सं० पृ० ४६९।
३. वही, पृ० ४६६।

विदेशी कालीन आदि प्रचुर मात्रा में यहाँ भी विद्यमान रहते थे। विदेशों के चतुर रसोइयें शाही रसोई घर में विद्यमान थे जो विशेष अवसरों पर अपनी कला का प्रदर्शन करके खाने वालों को हैरत में डाल देते थे। 'कभी-कभी एक हजार प्रकार के व्यंजन परोसे जाते थे। इनमें विदेशी व्यंजनों की ही अधिकता रहती थी। खाने के सुन्दर बर्तन भी भिन्न-भिन्न देशों से मगाये जाते थे। अनेक सोने-चाँदी की कलापूर्ण रकाबियाँ, प्याले, कटोरियाँ आदि सरकारी कारखानों में भी तैयार की जाती थीं। विशेष अवसरों पर इस समस्त भाण्डार का वैभवपूर्ण ढंग से प्रदर्शन किया जाता था।'[1] विदेशी दूतों के सम्मुख मुगल सम्राट् यह दिखाना चाहते थे कि विदेशों में जो वस्तुयें अंश-अंश में मिलती हैं वे सब उनके पास एक साथ प्रस्तुत हैं और उनके अतिरिक्त उनके पास भारतवर्ष के भी साधन उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह कि दरबार और राजमहल का संगठन इस प्रकार से किया जाता था कि विदेशी अमीर और राजदूत चकित रह जाय।

वैभव तथा ऐश्वर्य की प्रधानता

कुछ को छोड़कर प्रायः सभी मुगल सम्राट् वैभव एवं ऐश्वर्य पूर्ण जीवन पसन्द करते थे। 'बर्नियर, ट्रेवनियर, मैमूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् शाहजहाँ के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध रह गये थे। उसका दरबार वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था।'[2] जिसका अनुकरण दरबार के अमीर और कर्मचारी भी करते थे। जिनकी देखा-देखी अधिकृत राजा भी अपनी बैठकों में इन्द्र सभा जोड़ते थे। बर्नियर ने मुगलकालीन बहुमूल्य अलंकारों तथा जड़ाऊ वस्त्राभूषणों का विस्तृत वर्णन किया है। जिसके अनुसार 'एक शब्द में बेगमों का सारा शरीर जवाहिरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र में बसी होती थी। रीति काव्य की वासकसज्जाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती होगी।'[3] सभी अवसरों पर दी जाने वाली खिल्तें बहुमूल्य कपड़ों और सोने-चाँदी की जरी के काम की होती थीं। जड़ाऊ तलवारों, कटारों तथा आभूषणों को भी उपहार या इनाम के रूप में दिया जाता था।

विलासिता तथा इन्द्रिय लोलुपता

चलना, फिरना, देखना, हँसना, बोलना, खाना, पीना, भेंट करना, भेंट लेना, स्वीकार करना, इन्कार करना सबकी एक विशेष अदा थी जिसे तत्कालीन दरबारी संस्कृति ने स्वीकृति प्रदान की थी। इसका संकेत हम तत्कालीन कविताओं में देख सकते हैं—

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै देन कहै नटि जाय।'　　(बिहारी)

इन्हें कलारूप में सीखना पड़ता था, जिससे अपरिचित व्यक्ति को दरबारी लोग जंगली, ग्राम्य, असभ्य अतएव हेय और उपहासास्पद समझते थे, जिसे भी वे शब्दों द्वारा

---

१. अवधबिहारी पाण्डेय, 'मध्यकालीन भारत', प्र० सं० पृ० ४६६।

२. डा० नगेन्द्र, 'रीतिकाव्य की भूमिका', प्र० सं० पृ० १६।

३. वही।

नहीं बल्कि आकृति की संयत भाव-भंगियों द्वारा ही व्यक्त करते थे। सेवक-सेविकाओं की संख्या तथा उनके विभिन्न देशों से एकत्रित करने में भी प्रदर्शन की प्रवृत्ति कार्य करती रहती थी। सेविकाओं का वेतन उनके रूप, यौवन, गुण आदि के आधार पर निश्चित किया जाता था। दरबारी वैभव ने विलासिता को जन्म दिया। 'सम्राटों के रनिवासों पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च किये जाते थे। विधिवत् विवाहित रानियों की संख्या हमेशा बहुत बड़ी नहीं होती थी। परन्तु रक्षिताओं को मिलाकर उनकी संख्या कई सौ हो जाती थी। अकबर के राजमहल में कुल मिलाकर ५००० स्त्रियाँ थीं और मानसिंह कछवाहा के विषय में कहा जाता है कि उसके १५०० पत्नियाँ तथा ४००० लड़के थे।'[1] वर्नियर के साक्ष्य के अनुसार राजमहलों में विभिन्न वर्णों और जातियों की २००० स्त्रियाँ रहती थीं। जो बादशाह और शाहजादियों की सेवा करती थीं। 'शिक्षा प्रायः आशिकाना गजलों, फारसी की अश्लील प्रेम कहानियों आदि की ही होती थी। इनमें से बुड्ढी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखे से या लालच से महलों में ले आती थीं। रीतिकाल की दूतियाँ बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थीं[2]।'

इस काल में नारी आदर की नहीं विलास की वस्तु बन गयी थीं। उसके वंश और गुणों का उतना महत्व नहीं था जितना कि यौवन और रूपलावण्य का। राजकुमारों तथा सम्राटों को वैध तथा अवैध ढंग से अनेक स्त्रियों द्वारा अपनी भोग-वासना चरितार्थ करने की सुविधा थी परन्तु राजकुमारियों का बहुधा एक पुरुष से भी विवाह होना दुर्लभ हो जाता था। रनिवास का वातावरण संयम और सतीत्व का पोषक कदापि नहीं था। विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी और मदिरा का पनाला बह निकला था। दरबार 'विलास की अगणित ललित क्रीड़ाओं का संचय था—अंतःपुर में शतरञ्ज या पतङ्गबाजी, तरह-तरह के पशु-पक्षी, कबूतर, लाल, तोता, मैना आदि के स्वरों से रनिवास गूँजते रहते थे। अकबर के जमाने की हाथी और चीतों की लड़ाई का स्थान अब बाज और सिकरों की लड़ाई ने ले लिया था[3]।' बिहारी के अनेक दोहों में इनका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

'उड़त गुड़ी लखि लाल की अंगना अंगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥'
'ऊँचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकति दृग पुलकित बदनु, तनु पुलकित किहि हेतु॥' (बिहारी)

कलाप्रियता

काव्य-कला एवं ललित-कलाओं के विकास के लिये वैभव-विलास ही उपयुक्त साधन है। यदि राज्य का बहुत कुछ धन भोग-विलास की वस्तुओं पर व्यय किया जाता था तो उसका

१. अवधबिहारी पांडेय, 'मध्यकालीन भारत', प्र० सं०, पृ० ५६७।
२. डा० नगेन्द्र, 'रीतिकाव्य की भूमिका', प्र० सं० पृ० १२।
३. वही।

अधिकांश कवियों, संगीतज्ञों, विद्वानों, चित्रकारों तथा अन्य कलाकारों को प्रश्रय देने में भी खर्च होता था। मुगलबादशाहों ने यह कार्य भी मुख्यतः दरबार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ही किया, किन्तु इससे देश को लाभ पहुँचा। 'कलाप्रिय मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाया तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित-कलाओं—और जवाहरात—सोने चाँदी के काम, कढ़ाई-बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है। स्थापत्यकला का चरम विकासकाल शाहजहाँ का शासनकाल था—उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरे में मोती मसजिद और ताज-महल का निर्माण किया और अपने राजत्काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली के लालकिले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एक मात्र स्वर्ग दीवाने खास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है[1]।'

स्थापत्य-कला की भाँति चित्र-कला भी फारसी और हिन्दू कलाओं के संयोग से निर्मित है। 'उसमें फारसी कला की कड़ी, रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवों की नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया-प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रङ्गों की चटक का सुचारु सम्मिश्रण है। सम्राट् अकबर ने कलाओं को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया जिससे अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ तैयार हुईं। उसकी प्रेरणा से फारसी साहित्य की गद्य और पद्यमय रचनायें चित्रित हुईं। जिससे इन दोनों कलाओं का एक दूसरे पर सम्यक् दृष्टि से प्रभाव पड़ा। चित्रों को कविताओं में और कविताओं को चित्रों में बदलना मुगलकालीन भारत में एक अलग कला ही बन गयी थी[2]।' जायसी कृत पद्मावत की एक ऐसी प्रति मिलती है जिसके एक पृष्ठ पर चित्र बने हुए हैं और उसी के सामने दूसरे पृष्ठ पर उन्हीं चित्रों का भाव प्रकट करने वाली कवितायें हैं। कविताओं के ही आधार पर इन चित्रों का निर्माण इसी काल में हुआ है। प्राप्त सूचना के अनुसार यह प्रतिलिपि इंडिया लाइब्रेरी लन्दन में सुरक्षित है। इसी प्रकार के चित्र बिहारी के दोहों के भी प्राप्त होते हैं और कहा जाता है कि—

'कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥'

---

१. डा० नगेन्द्र —'रीतिकाव्य की भूमिका' पूर्वार्द्ध, प्र० सं०, पृ० २२।

२. फारसी की गद्य और पद्य रचनायें चित्रित की गईं। इस प्रकार के चित्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। हम्जा के किस्से के चित्र बारह जिल्दों में तैयार हुए। चतुर चितेरों ने उसमें के चौदह सौ प्रसंगों के अद्भुत चित्र तैयार किये। चंगेज़नामा, जफरनामा, आइन अकबरी, रज्मनामा, महाभारत, रामायण, नलदमन इत्यादि भी चित्रित किये गये।

('भारत की चित्रकला', रायकृष्णदास, प्र० सं०, पृ० १२२)

का स्रोत तत्कालीन एक चित्र है जिसे उन्होंने दोहे में उतारा है। कविवर मतिराम के प्रसिद्ध नायिका-भेद-ग्रन्थ 'रसराज' की एक सचित्र प्रति भी मिली है जो इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

मुगलकालीन चित्रों का तत्कालीन कविताओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसका मुख्य कारण मुगल सम्राटों की चित्र कलाप्रियता ही थी। जहाँगीर को चित्रकला का तो इतना ज्ञान था कि चित्र देखकर वह चित्रकार का नाम बता देता था। रंगों का ज्ञान तो इस काल के चित्रों में उस प्रौढ़ता को पहुँच गया था जितना कभी भी न था। किस स्थान पर कौन-सा और कितना रंग लगाने पर सौन्दर्य बढ़ेगा इसका पूर्ण ज्ञान चित्रकारों को था। वे जहाँ-जहाँ जो-जो रंग अपेक्षित होता है उसे दो-दो तीन-तीन बार लगाते हैं। इसे गदकारी कहते हैं। इससे ओज के सिवा दबाजत भी आ जाती है और चित्र मीनाकारी जैसा जान पड़ता है तब रूपरेखा (सरहद) से आकार और अंग-प्रत्यंग का निर्णय करते थे। इसे खुलाई कहते हैं। साथ ही जहाँ छाया व सौंदर्य-वर्धक रंग लगाने की आवश्यकता रहती है (जैसे आँखों के कोये में रतनारापन) उसे भी लगाते जाते थे। उस समय के प्रचलित सभी आभूषण एवं शृङ्गार प्रसाधनों को यदि हम चाहें तो मुगलकालीन स्त्रियों के चित्रों में देख सकते हैं और उन्हीं स्त्री चित्रों को बिहारी तथा मतिराम आदि कवियों ने नायिकाओं की सुषमा में उतारा है। बिहारी न तो अपनी नायिका का चित्र ही उतार पाते हैं और न तो उनकी नाइन नायिका के पावों में महावर लगाने में ही समर्थ हो पाती है। बिहारी यदि अपनी नायिका के मस्तक पर लाल बिन्दी लगाकर उसकी शोभा 'अगणित' करते दिखलाई देते हैं तो 'मतिराम' की नायिका 'बंदन तिलक लिलार' में दीप की जगमगातो ज्योति ही हो गई है। इसके अतिरिक्त नायिका के नाजुक शरीर की नाप-जोख जो मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रधान रूप से पायी जाती है उसके मूल में भी मुगलकालीन चित्रों का ही प्रभाव है। जितने भी नारीचित्र इस युग के मिलेंगे सबकी नयनभंगिमा और कटि का क्षीण होना उनमें अवश्य ही सावधानी के साथ दिखलाया गया होगा। यही कारण है कि इस काल के सिद्ध कवि अपनी काव्यकला को इससे ऊपर न उठा सके। उनकी आँखें इन चित्रों में चौंधियाँ गईं। वे जन-जीवन की समस्याओं को अपने काव्य का विषय बना ही न सकें। सारी की सारी उनकी कल्पना कविताओं में नायिकाओं का चित्र इसलिये खींचती रही कि वे अपनी रचनाओं द्वारा चित्रकारों को मात देकर दरबारों में अपनी धाक जमा सकें।

लिखनि बैठि जाकी सबी गहि गहि गर्व गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ (बिहारी)
पाईं महावर दैन को नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ॥ (बिहारी)
बंदन तिलक लिलार में ऐसी मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगे मनो दीप की ज्योति॥ (मतिराम)

मुगलकालीन भारत में नृत्यकला का वह स्तर तो नहीं दिखलाई पड़ता जो हिन्दू-कालीन भारत में था किन्तु संगीत को आशातीत सफलता मिली। बहुत से ऐसे कलाकार

मिलते हैं जो संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ अच्छे कवि भी थे। अकबरीदरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन अपनी रचनाओं को वीणा के स्वर पर साधता था। कहा जाता है कि आचार्य कवि केशव की 'रामचन्द्रिका' में उद्धृत जनकपुर में गायी गयी गालियाँ उनकी शिष्या 'प्रवीण राय' द्वारा रची गयी हैं। यह स्मरण रहे कि इस समय जो सांस्कृतिक एवं कला सम्बन्धी उन्नति हुई वह प्रधानतः नगरों और विशेष कर राजधानी में ही केन्द्रित रहीं। राजपरिवार की अनेक महिलायें भी बहुत परिष्कृत रुचि वाली थीं और सलीमा बेगम, जहाँ आरा, रौशन आरा, नूरजहाँ, जेबुन्निसा आदि अनेक महिलायें ऐसी थीं जिन्होंने कविता और साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि ऐश्वर्य, वैभव, हास-विलास, साज-शृंगार एवं कलामयता से पूर्ण नगरजीवन में जिस कविता का सृजन एवं विकास हुआ वह पूर्णतः दरबारी सभ्यता से प्रभावित है। उसमें उन तत्वों की छाया प्रभूत मात्रा में विद्यमान है जिसमें मध्यकालीन मुगल दरबार तथा उनके आश्रित राजा आकण्ठ डूब चुके थे।

अलंकृत मुक्तक काव्य की परंपरा

जिस समाज में और जिसके लिये कविगण अपनी कविता रच रहे थे वह एक नहीं बल्कि अनेक कलाओं से अपना मनोरंजन करता था, कविता उसमें से एक थी। ऐसी स्थिति में मुक्तक काव्यों के माध्यम से ही कविगण अपनी चमत्कारपूर्ण उक्तियों द्वारा यश और कीर्ति के अधिकारी बन सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें दरबारों में प्रशंसा पाने वाली 'ग़ज़लों' और 'शेरों' के साथ भी जोड़-तोड़ मिलाना था।

सम्पूर्ण मुक्तक काव्यों को देखते हुए उसे रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है किन्तु अलंकृत शृंगार योजना सबकी सामान्य विशेषता है। रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में अपेक्षाकृत अलंकार प्रयोग का आग्रह कम दिखलाई पड़ता है किन्तु श्लेष का सहारा उन लोगों ने भी पर्याप्त मात्रा में लिया है।

रीतिबद्ध मुक्तक काव्यों में अलंकार

मध्यकालीन हिन्दी कविता के उत्तरार्द्ध काल की अधिकांश रचनायें जिसे अलंकृत काल भी कहा जाता है, दरबारों में रची गयी हैं और उनमें भी रीतिबद्ध रचनायें तो पूर्णतः दरबारी हैं। 'दरबारी कहने का तात्पर्य यही नहीं है कि उसका रचयिता किसी दरबार के आश्रय में रहता था और वहाँ से वृत्ति पाता था। उसका तात्पर्य यह भी है कि वह अपने आश्रयदाता की रुचि का ध्यान रखकर उसका निर्माण करता था और उसके मनोरंजन में सहायक होता था[1]।' रीतिबद्ध रचनाओं के दो स्पष्ट रूप हमें इस काल की कविताओं में दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें से एक तो अलंकार वादियों द्वारा निर्मित हो रहा था और दूसरा रसवादियों द्वारा। अधिकांश कवि ऐसे हैं जिन्होंने रसवादी और अलंकारवादी दोनों ही प्रकार की रचनायें की हैं। रससम्प्रदाय के अनुकरण पर लिखी जाने वाली कविताओं में नायक-नायिका भेद आदि प्रसंगों का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया

---

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'बिहारी' प्र० सं०, पृ० ५०।

है और अलंकार सम्प्रदाय का अनुगमन करने वाले कविगण अलंकारों के लक्षण और उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं। जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी के कवि आचार्य और कवि दोनों एकसाथ बनने के कारण एक भी नहीं बन पाये हैं। संस्कृत कवियों की भाँति हिन्दी के कवि केवल कविता ही नहीं करते थे, वे लक्षणों का निर्माण भी करते थे। ऐसी स्थिति में जितने भी अलंकार ग्रन्थों की सृष्टि हुई है उनके उदाहरण लक्षणों को सामने रखकर रचे गये हैं, जिससे उनमें काव्यत्व की अपेक्षा अलंकार प्रयोग की ओर विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में उनके अलंकृत एवं चमत्कारपूर्ण वर्णन की चर्चा करनी आवश्यक ही होगी क्योंकि उनकी तो सृष्टि ही अलंकार प्रदर्शन के लिए हुई ही है किन्तु नखशिख और नायक-नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लिखी गयीं कविताओं की भी मुख्य प्रवृत्ति अलंकरण की ही रही है। उन कविताओं में भी अलंकारों का ही सुन्दर प्रयोग हुआ है, नायिका भेद वर्णन तो उपचार मात्र ही जान पड़ता है। जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की नवीन उद्धरणी प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति हिन्दी कवियों में जग उठी थी उस[illegible]यक-नायिका भेद का लिखना भी आवश्यक समझा गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु तत्कालीन दरबारी समाज की चमत्कारवादी प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन अलंकारों के सहारे उनमें भी हुआ है, यह निश्चित है।

केशवदास

रीतिबद्ध कवियों में सबसे पहला नाम आचार्य केशव का आता है। 'रसिकप्रिया' की रचना केशवदास ने रस की शिक्षा देने के लिये की थी। किन्तु चमत्कारवादी होने के नाते उनकी रचना में अनेक ऐसे स्थल वर्तमान हैं जिनमें कवि ने पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा उक्ति-वैचित्र्य एवं दूर की सूझ के फेर में पड़कर कविता के बाह्य को विविध अलंकारों से विभूषित किया है। नायक-नायिका भेद तथा नख-शिख चित्रण के लिये लिखी गयी रचनाओं में केशव ने अलंकारों का बहुल प्रयोग किया है। राधा के मुखमण्डल का वर्णन करते समय कवि ने प्रतीप अलंकार की सुन्दर योजना की है :

'ग्रहनि में कीन्यो गेहु सुरनि दै देख्यो देहु,
सिव सों कियो सनेहु जग्यों जुग जान्यो है।
तपनि में तप्यो तपु जलधि में जप्यो जपु,
'केसोदास' वपु-मास मास प्रतिगान्यो है।
उड़गन-ईसु द्विज-ईसु औषधीष भयो,
जद्यपि जगत ईस सुधा सों सुधान्यो है।
सुनि नंद नंद-प्यारी तेरे मुख चन्द सम,
चन्द पै न भयो कोटि छन्द करि हार्‌यो है [1]।'

उपमेय और उपमान में किसी प्रकार का साम्य न रखते हुए अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिये केशवदास ने नायिका के हृदय और शतरंज की बाजी का बड़ा ही सुन्दर रूपक बाँधा है—

---

१. 'केशव ग्रन्थावली', खण्ड १। 'कविप्रिया', ७२ सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

'प्रेम भय भूप रूप सचिव संकोच सोच,
विरह विनोद पील पेलियत पांचि कै।
तरल तुरंग अविलोकन अनंत गति,
रथ मनोरथ रहैं प्यादे गुन गचि कै।
दुहू ओर परी जोर घोर घन केसोदास,
होई जीत कौन की को हारै जिय लचिकै।
देखत तुम्हैं गुपाल तिहि काल उहि बाल,
उर सतरंज कैसी बाजी राखी रचि कै।'[1]

ऋतुवर्णन मुख्यतः भावव्यंजना का ही क्षेत्र है किन्तु इन स्थलों पर भी केशव ने भावव्यंजना के स्पष्टीकरण की अपेक्षा विशेषतः चमत्कार प्रदर्शन ही किया है। वर्षा तथा शरदृऋतु के वर्णन के प्रसंग में केशव ने सन्देह तथा श्लेषालंकार के सहारे अनेक रूपक बाँधे हैं :

'ज्वाल जगै कि चलै चपला नभ धूम घनो कि घनो घनघूरो।
खेचर लोगन के अँसुवा जल बूँद किधौं बरनो मति सूरो॥
केकी कहै हह कीकई 'केसव' गौ जरि जोर बवासो समूरो।
भागहु रे बिरही जन भागहु पावस काल कि पावक पूरो॥'[2]

सरोवर स्नान से निकले राधा और कृष्ण के शरीर की सुषमा पर केशव ने बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है :

'हरि राधिका मान सरोवर के तट ठाढ़े री हाथ सो हाथ दिये।
प्रिय के सिर पाग प्रिया मुकता हर राजत माल दुहुन हिये॥
कटि 'केसव' काछनी श्वेत कसे सबही तन चन्दन चित्र किये।
निकसे जनु छीर समुद्र ही ते संग श्रीपति मानहु श्रीहि लिये[3]॥'

केशवदास की कविताओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, विभावना, प्रतीप, अतिशयोक्ति, सन्देह, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, पर्यायोक्ति, समाहित तथा परिसंख्या आदि सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है किन्तु विज्ञानगीता जैसी कुछ रचनाओं में कतिपय प्रमुख अलंकारों का ही प्रयोग दिखलाई पड़ता है और कुछ रचनाओं में अलंकारों को बलात् लाने का भी आग्रह दिखाई पड़ता है।

चिन्तामणि

मध्यकालीन अलंकृत कविता के प्रमुख आचार्यों में चिन्तामणि की भी गणना होती है। इन्होंने कई सुन्दर रीति ग्रन्थों की रचना की है। इन्हें महाकवि मतिराम के भाई होने का सौभाग्य प्राप्त था जिनकी चर्चा विशेषरूप से आगे की गई है। विरहिणी नायिकाओं के

१. 'रसिकप्रिया', छं० सं० ३५, पृ० सं० १३८।
२. 'विज्ञान-गीता', छं० सं० ६, पृ० सं० ७८।
३. 'रसिकप्रिया' छं० सं० २०, पृ० सं० ८०।

लिये चन्द्रोदय अत्यन्त दुखदाई होता है, जिसका चित्रण कवि चिन्तामणि ने मध्या-धीरा नायिका के प्रसङ्ग में किया है। ललित भावों की अभिव्यक्ति के साथ कवि ने नायिका से नायक के प्रति जिन व्यंगपूर्ण उक्तियों का कथन कराया है उससे वक्रोक्ति और विरोधाभास की सुन्दर सृष्टि हुई है।

'साँझ ते चन्द कलंक उग्यो, मन मेरो लै साथ रहे तुम न्यारे।
बैठ बची मनि-मन्दिर बीच, लगे तब दीप प्रकाश अन्ध्यारे।
प्रातहि पाइ सुधामय पारनौ, नैन-चकोर छके, मे सुखारे।
क्यों न अनूप-कला प्रगटौ, अकलंक कलानिधि मोहन प्यारे॥' (चिन्तामणि)

एक स्थान पर कवि ने कहना चाहा है कि यौवनागम से शरीर की शोभा में वार्द्धक्य आ जाता है, जिसके लिए उसने उदारणों की शृङ्खला बना डाली है।

'सरद ते जलकी ज्यों दिन ते कमल की ज्यों,
धन ते ज्यों थल की निपट सरसाई है।
घन ते सावन की ज्यों ओप ते रतन की ज्यों,
गुन ते सुजन की ज्यों परम सुहाई. है।
चिन्तामनि कहैं आछे अच्छरनि छन्द की ज्यों,
निसागम चन्द की ज्यों दग सुखदाई है।
नगते ज्यों कंचन बसंत ते ज्यों बनकी,
यों जोवन ते तन की निकाई अधिकाई है।' (चिन्तामणि)

भूषण

'शिवराजभूषण' महाकवि भूषण का लक्षण ग्रन्थ है जिससे उसकी अलंकारिता के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि 'भूषण' वीररसपूर्ण काव्य के स्रष्टा पहले और लक्षणकार बाद में हैं। और अधिक सम्भव है कि उन्होंने समसामयिक कवियों की देखा-देखी लक्षणकार बनने के लिये अपनी रचनाओं को लक्षणों के क्रम से बाद में सजा दिया हो, क्योंकि सभी अलंकारों को वीर शिवाजी के यशवर्णन पर ही घटाया गया है। शिवराजभूषण को यदि हम छोड़ भी दें तो हमें उनकी अन्य रचनाओं में वैसी ही अलंकार योजना मिलती है जैसी कि 'शिवराज भूषण' में पाई जाती हैं। वीर रस की धारा में निमग्न होकर कीर्ति-यश और तलवारों का गान करने के कारण इनकी रचनाओं में अनुप्रासिक योजना तथा अतिशयोक्ति का चमत्कार देखते ही बन पड़ता है। प्रमाणस्वरूप 'दाराशिकोह' के सम्बन्ध में कहे गये उनके एक छंद को हम देख सकते हैं।

'डंका के दिये ते डल डंबर उमड्यो,
उडमंड्यो उड-मंडल लौं खुर की गरद है,
जहाँ दाराशाह बहादुर के चढ़त पेड़,
पेड़ में मड़त मारू-राग बम्ब नद है।
'भूषन' भनत घने घुम्मत हरौल वारे,
किम्मत अमोल बहु हिम्मत दुरद हैं,

इद्दन छपद्द माहि मद्द फरनद्द होत,
कद्दन मनद्द सो जलद्द इल दद्द है ॥'[1]

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण 'भूषण' द्वारा की गयी महाराज 'छत्रसाल' की प्रशंसा के छन्दों में भरे पड़े हैं।

देव

महाकवि देव की गणना हिन्दी के प्रथमकोटि के आचार्यों एवं कवियों में होती है। इन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार काव्य के दोनों क्षेत्र रस और अलंकार में दिखलाया है। रससिद्ध आचार्य तो देव थे ही किन्तु अनेक स्थलों पर तो उन्होंने अपनी सुन्दर अलंकार-योजना के द्वारा हिन्दी के सभी चमत्कारवादी कवियों को पीछे छोड़ दिया है। 'बसन्त' का बालक रूप में वर्णन करके देव ने रूपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत किया है—

'डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दे।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दे ॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दे।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दे ॥

उपरोक्त छन्द में मदनमहीप के बालक बसंत का वर्णन रूपक द्वारा तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण छन्द में अनुप्रास की सुन्दर छटा विद्यमान है। शब्दालंकार और उसमें भी अनुप्रास और यमक की जितनी सुन्दर योजना 'देव' की घनाक्षरियों और कवित्तों में पाई जाती है उतनी अन्य किसी कवि में नहीं। अनुप्रासों की तो जैसे कवि उपेक्षा ही नहीं कर पाता। नायिका स्वप्न में नायक का साक्षात्कार करके फूली नहीं समाती और ज्यों हीं उठकर उसके साथ 'झूला' झूलने के लिए जाने को उद्यत होती है त्यों ही उसकी नींद टूटकर उसे उसकी वास्तविकता का ज्ञान करा देती है। नायिका को जगाकर उसके भाग्य को सुला देने में कवि ने 'विरोध' का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ सूक्ष्म कल्पना तथा आनुप्रासिक योजना का चमत्कार तो है ही—

'झहरि झहरि झीनी बूंद है परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सो चलौ झूलिबे को आज
फूली ना समानी भई ऐसी हीं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन में।

1. माधुरी पत्रिका, अषाढ़ २०० तृ० सं० पृ० ७६९ से उद्धृत।

आँख खोलि देखों तो न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वे दृगन में ॥'

बरसाने से बुलाकर नन्दग्राम में आई राधिका के सरस प्रसंग का चित्रण करते समय 'देव' कवि की ललित अलंकृत शैली दर्शनीय है—

'आई बरसाने ते बुलाई वृषभानु सुता ।
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गयी ॥
चक चकवान के चकाये चक चोटन सो ।
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गयी ॥
देव नन्द नन्दन के नैनन अनन्दमयी ।
नन्द जू के मन्दिरनि चंदमयी छै गयी ॥
कंजन कलिन मयी कुंजन नलिनमयी ।
गोकुल की गलिन अनिल मयी कै गयी ॥

कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, श्रीपति, भिखारीदास तथा बेनीप्रवीन

कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, आचार्य श्रीपति, भिखारीदास तथा बेनीप्रवीन की रचनायें रीतिबद्धमुक्तक-कविताओं की ही श्रेणी में आती हैं। अलंकृत काव्य के सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं, जिन्हें नमूने के लिये नीचे उद्धृत किया जाता है—

'ऐसिय कुंज बनी छबि पुंज रहै अलि गुंजत यों सुख लीजै ।
नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै ॥
जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै ।
आनंद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै ॥' (कुलपति मिश्र)

'जोहै जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है ।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है ॥
भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है ।
जोन्ह सी जोन्है गई मिलि यों मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है ॥'
(सुखदेव मिश्र)

'जलभरे झूमैं, मनों भूमैं परसत आइ,
दसहू दिसान घूमैं, दामिनी लए-लए ।
धूम धारे, धूसर से, धुरवा, धुधारे, कारे,
धू खान धारे धावैं छबि सों छए-छए ॥
....

'श्रीपति' सुजान कहै घरी-घरी घहरात,
तापत अतन तन ताप सों तए-तए ।
लाल बिन कैसे लाज-चादर रहैगी बीर !
कादर करत मोहि बादर नए-नए ॥' (श्रीपति)

'न्हान-समै जब मेरो लखै, तब साज लै बैठत आनि अगाऊँ।
नायक हौ जू न राउरे लायक, यों कहि हौं कितनो समझाऊँ॥
'दास' कहा कहौं पै निज हाथही देत, न हौंहू सवाँरन पाऊँ
मोहिं तौ साध महा उर में, जो महाउर नाइन तोसों दिवाऊँ। (दास)

'कालिह ही गूंथि बबा कि सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला,
आई कहाँ ते यहाँ पुखराज की संग गई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं 'बेनीप्रवीन' हँसे सुनि बैनन नैन रसाला;
जानति ना अंग की बदली सबसों बदली बदली कहै माला॥'

(बेनी प्रवीन)

आचार्य भिखारीदास और श्रीपति की ख्याति आचार्य रूप में जितनी अधिक है उतनी कवि रूप में नहीं।

पद्माकर

रीतिबद्ध मुक्तक-कवियों को अनुप्रास प्रयोग का प्रायः मोह सा रहा है। यह मोह अपनी चरम सीमा पर पद्माकर की रचना में दिखायी पड़ता है। किन्तु कुछ ही छन्द ऐसे हैं जिनमें पद्माकर की अलंकार-योजना अरुचिकर सीमा तक पहुँची है, और कवि ने उनमें जान-बूझकर अपना शब्द-चमत्कार प्रकट करना चाहा। जहाँमधुर कल्पना के बीच सुन्दर कोमल भाव-तरंग का स्पन्दन है, वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ सुथरी है—वहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। महाकवि मतिराम का सा ही स्वाभाविक अलंकार-प्रयोग इनकी कविताओं में मिलता है। इन्होंने शृंगार रस के प्रसंग में अनुभावों, हावों, और अन्य अंगज अलंकारों की बड़ा ही सुन्दर योजना की है—

'आरस सो आरत सम्हारत न सीस पट,
गजब गुजारत गरीबनि की धार पर।
कहै पद्माकर सुगंध सरसार बेस,
बिथुरि बिराजै बार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।'

जेठानी के खिसक जाने तथा एकान्त में नायक को पहली बार पाकर सजी सेज से कम्प के कारण नायिका के सरक जाने का बड़ा ही स्वाभाविक एवं मनोरम चित्रण सोदाहरण 'पद्माकर' ने प्रस्तुत किया है। स्वाभाविकता के बीच अलंकारों का इस प्रकार का प्रयोग 'पद्माकर' की अपनी विशेषता है—

'साजि सिंगारिन सेज पै पारि भई मिस ही मिस ओट जिठानी।
त्यों 'पद्माकर' आइगो कंत इकंत जबै निज तंत मैं जानी॥

सो लखि सुंदरि सुंदर सेज तें यों सरकी थिरकी थहरानी।
बात के लागे नहीं ठहरात है ज्यों जलजात के पात पै पानी॥

'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में संग्रहीत 'पद्माकर' के कवित्तों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भरे पड़े हैं। हिम्मत बहादुर जब सेना सजाकर चलने लगा जाता है तो 'लाली' 'काली' तथा 'कपाली' आदि विशेषण सूचक शब्दों के भाव-व्यापारों की तत्काल योजना कर कवि अतिशयोक्ति, असंगति और सहोक्ति अलंकार की एक ही साथ योजना कर देता है—

'तीखे तेग बाही जे सिपाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहैं पद्माकर निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि धारैं चढ़ैं पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिवे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ैं मुख पै, बहाली चढ़ैं बाहन पै,
काली चढ़ैं सिंह पै, कपाली चढ़ैं बैल पै॥'

ललित अलंकृत पदों की रचना में पद्माकर के सम्मुख हिन्दी के कुछ ही कवि ठहरते हैं। इनकी रचनायें अलंकृत काव्य की उत्तमोत्तम कोटि में रखी जाने योग्य हैं और ये हिन्दी अलंकृत काव्य के अन्तिम श्रेष्ठ कवि हैं। इनके बाद भी अलंकृत काव्य की रचनायें होती रहीं किन्तु उनमें हमें किसी प्रकार की नवीनता एवं प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। केवल 'प्रतापसाहि' ही एक ऐसे कवि मिलते हैं जिनकी काव्य-कला एवं अलंकार-योजना कुछ-कुछ पद्माकर के निकट तक पहुँच सकी हैं।

प्रतापसाहि

इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता रही है वह यह कि अनुप्रासों का सहारा लेते हुए भी इन्होंने अपनी रचनाओं को कहीं भी अरुचिकर नहीं होने दिया है, जो दोष कहीं-कहीं पद्माकर जैसे सिद्ध कवि की रचनाओं में भी आ गया है।

'तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें, छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महागिरि शृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहूँ जाय कहूँ ठहरैं॥

इनके कवित्तों के अन्तिम चरण की भाषा बहुत ही गठी एवं स्वाभाविक होती है जिससे प्रभाव उत्पन्न करने में ये पूर्ण समर्थ हुए हैं।

रीतिसिद्ध मुक्तककाव्यों में अलंकार

रीतिबद्ध मुक्तक रचयिताओं की भाँति रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण का आग्रह तो नहीं किया है किन्तु उनकी रचनाओं से नायक-नायिका-भेद तथा अलंकारों के

सुन्दर उदाहरण ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं है। रीतिबद्ध रचना की सारी विशेषताओं पर उन्होंने सफलता प्राप्त कर ली थी किन्तु लक्षण-ग्रन्थों के रूप में उसका उपयोग नहीं किया। 'ऐसे कवि लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भाँति रीति की शास्त्र-कथित बातों का पूरा पालन नहीं करते थे। शास्त्र कथित-संपादन मात्र इनका लक्ष्य नहीं था। कहीं तो चमत्कारातिशय के लिये ये उक्तियाँ बाँधते थे और कहीं रसाभिव्यक्ति के लिये रीतिशास्त्रों में गिनाई हुई सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त उपलब्धि, सामग्री या नूतनता का संनिवेश करते थे।'[1] लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले कवियों की अपेक्षा इनमें कल्पना-विलास तथा काव्यात्मकता अधिक है। ये अधिकांश कवि भी दरबारी हैं। इन रीतिबद्ध कवियों में प्रथम दृष्टि रहीम पर ठहरती है।

कविवर रहीम ने दोहों के अतिरिक्त बरवै छन्दों में नायिका-भेद के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिससे स्पष्ट जान पड़ता है कि लक्षण ग्रन्थ लिखने की पूर्ण क्षमता इनमें थी। किन्तु इन्होंने केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं, लक्षण किसी और कवि ने लिखकर इसका सम्पादन किया है। यही कारण है कि हमने इन्हें रीतिबद्ध मुक्तक कवियों में न रखकर रीतिसिद्ध कवियों में रखा है क्योंकि यदि क्रम से बिहारी आदि रीतिसिद्ध कवियों की रचनाओं को भी सजा दिया जाय तो वे भी रीतिबद्ध मुक्तककारों की श्रेणी में आ जायेंगे। 'रहीम' के बरवै इतने सरस एवं कलात्मक हैं कि उन्होंने तत्कालीन कवियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। कहा जाता है कि कविवर मतिराम ने अपने कुछ दोहों के साथ इसका संग्रह भी तैयार किया था, जिसकी एक प्रति का उल्लेख हिन्दी खोज रिपोर्ट में भी है। (उसकी चर्चा मतिराम के ग्रन्थों के साथ की जायगी।) बाद के नायिका-भेद लिखने वाले कवियों ने रहीम की रचनाओं को आदर्श रूप में सामने रखा है। वर्ण्य वस्तु को जिस सफाई से रहीम ने अपने बरवै में व्यक्त किया है उतनी स्पष्टता मध्यकालीन साहित्य के मुक्तककारों में कम मिलती है।

'जनि मरु रोइ दुलहिया, करि मन ऊन।
सघन कुंज ससुररिया, औ घर सून॥'
'सीस नवाइ नवेलिआ, निचवा जोइ।
छिति खनि छोर छिगुनिया, सुसुकनि रोइ॥'
'चली लिवाइ नवेलिअहिं, सखि सब संग।
जस हुलसत गो गोदवा, मत्त मतंग॥'
'विहसत भौंउह चढ़ाये, धनुष मनोज।
लावत उर उपटनवाँ, ऐंठि उरोज॥' (रहीम)

कहा जाता है कि रहीम के बरवै छन्द से प्रभावित होकर ही तुलसीदास ने अपने अलंकृत बरवै छन्दों की रचना की है—

'चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाइ॥' (तुलसीदास)

---

१. 'बिहारी', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०।

'अब जीवन की है कपि आस न कोय।
कनगुरिया की मुंदरी कंकन होय॥' (तुलसीदास)

रहीम के दोहे अधिकांशतः उपदेशपरक हैं जिससे कवि ने उनमें चमत्कार लाने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु कहीं-कहीं अन्योक्ति की सुन्दर सृष्टि हुई है :

'धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥' (रहीम)

इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं स्वाभाविक रीति से अलंकारों का प्रयोग उचित जान पड़ा है रहीम ने अनुप्रास तथा उदाहरण आदि अलंकारों की सृष्टि की है—

'कुटिलन संग रहीम कहि, साधू बचते नाहिं।
ज्यों नैना सैना करें, उरज उमेंठे जाहिं॥' (रहीम)

अनेक दोहों में विरोध असंगति अलंकारों के भी सुन्दर प्रयोग रहीम में मिलते हैं।

गंग कवि

कवि गंग अकबरी-दरबार के प्रसिद्ध कवि थे जिनका अकबर के सेनापति कवि रहीम खाँ खानखाना के यहाँ बड़ा आदर था। कहा जाता है कि रहीम खाँ खानखाना ने प्रसन्न होने पर इन्हें एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। यह प्रसिद्ध अतिशयोक्तिपूर्ण छन्द रहीम की प्रशस्ति में लिखा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों की छटा से युक्त है—

'चकित भंवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमलवन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन वन॥
हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिले अति।
बहु सुन्दर पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन अमित तेज रवि रथ खस्यो।
खानान खान बैरम सुवन जबहि क्रोध करि तंग कस्यो।' (गंग)

आचार्य भिखारीदास ने काव्यकला की प्रवीणता में गंग का नाम तुलसीदास के साथ लेते हुए इन्हें कवियों का सरदार कहा है। वस्तुतः व्यंग-पद्धति पर विरह-ताप का बड़ा ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन गंग की कविताओं में प्राप्त होता है। शृङ्गार रस की रमणीयता के साथ-साथ इनकी कवितायें वाग्वैदग्ध्यपूर्ण उक्तियों के सुन्दर नमूने हैं—

'बैठी थी सखिन संग, पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग-आगि भरकी।
गंग कहै त्रिबिध सुगन्ध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जरकी॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥ (गंग)

मुबारक अली

मुबारक अली उन इने-गिने कुछ श्रेष्ठ मुसलमान कवियों में हैं जिन्होंने हिन्दी की उत्तमोत्तम रचनायें प्रस्तुत की हैं। नायिका के अङ्गों का इन्होंने बड़े विस्तार से वर्णन किया है और एक-एक अङ्ग लेकर उन्होंने 'तिलशतक' और 'अलकशतक' जैसे सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। रूपक और उत्प्रेक्षा का तो इन्होंने बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। नायिका के मुख पर लटकी अलकों को देखकर कवि को ऐसा जान पड़ता है मानों 'मदन' रूपी मुन्शी ने 'काँच' रूपी मुख पर उर्दू का सुन्दर 'काफ' अक्षर लिख दिया है—

'अलक मुबारक तिय वदन लटक परी यों साफ।
खुश नवीन मुनशी मदन लिख्यो काँच पर काफ ॥

इसी प्रकार नायिका के तिल का वर्णन देखिये—

'गोरी के मुख एक तिल सो मोहिं खरो सुहाय।
मानहुँ पंकज की कली भौंर विलमियो आय ॥' (मुबारक अली)

सेनापति

कविवर सेनापति के ऋतुवर्णन को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने किसी न किसी प्रकार का नायिका-भेद अथवा ऋतुवर्णन-सम्बन्धी ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा जो किसी कारणवश अब प्राप्त नहीं होता। 'कवित्त रत्नाकर' में संग्रहीत इनकी रचनाओं में अनुप्रास और यमक अलंकार का सुन्दर चमत्कार दिखलाई पड़ता है। श्लेषालंकार का जितना अधिक और सुन्दर प्रयोग कवि सेनापति की रचनाओं में मिलता है उतना हिन्दी के कम कवियों में पाया जाता है। नीचे दिये गये कवित्त में कवि ने 'यमक' और श्लेषालंकार की सहायता से कवित्त में सुन्दर चमत्कार उत्पन्न किया है। कवित्त का पूरा अर्थ 'मित्र' और 'सूर्य' दोनों पक्षों में समान लग जाता है—

'जाकी जोति पाई जग रहत जगमगाई,
पाइन पदमिनी समूह परसत है।
जाके देखें अंतर कमल विगसत चैन,
पाइ के खुलत नैन सुख सरसत है॥
धाम की है निधि जाके आगे चंद मंद दुति
रूप है अनूप मध्य अंबर लसत है।
मूरति सरस सब बार है लसति जाकी
सांई मित्त सेनापति चित्त में बसत है॥' ७२ ॥
(कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग)

बसन्त के आगमन पर प्रकृति की सुषमा निरख कर सेनापति के मन में जब कविता करने का भाव उमड़ता है तो उनकी अनुभूति कल्पना का सहारा लेकर अलंकृत शैली में व्यक्त होने लग जाती है—

'केतिक, असोक, नव चंपक, बकुल कुल,
कौन धौं वियोगिनी कौं ऐसो विकराल है।
सेनापति साँवरे की, सूरति की सुरति की,
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है॥
दछिन-पवन एती ताहू की दवन जऊ,
सूनो है भवन परदेस प्यारौ लाल है।
लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साल पै रसाल उर-साल है॥५॥
(कवित्त रत्नाकर—'तीसरी तरंग')

चित्रालंकारों के भी सुन्दर प्रयोग कवित्त रत्नाकर में पाये जाते हैं। एक छन्द में 'कमल बद्धोत्तर' का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये कवि ने दस प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, जिनमें अन्तिम प्रश्न का उत्तर 'अन्त एक माधव सरन' है और इसी उत्तर में शेष नौ प्रश्नों के भी उत्तर मिल जाते हैं—

'कहा जगत आधार? कहा आधार प्रान कर?
कहा बसत बिधु मध्य? दीन बीनत कह घर घर?॥
कहा करत तिय रूसि? कहा जाचत जातक जन?।
कहा बसत मृगराज? कहा कागर कौं कारन?॥
धीर बीर हरषत कहा? सेना पति आनन्द घन।
चारि बेद गावत कहा? अन्त एक माधव सरन।६७।
(कवित्त रत्नाकर, पाँचवीं तरंग)

उपरोक्त छन्द के प्रत्येक उत्तर का अन्तिम वर्ण दसवें प्रश्न के उत्तर का अन्तिम वर्ण (अर्थात् 'न') रहता है। इसमें 'अर्थात् 'न' में दसवें प्रश्न के उत्तर के पहले, दूसरे, तीसरे—आदि वर्णों को जोड़ देने से क्रमशः पहले, दूसरे तथा तीसरे—आदि प्रश्नों के उत्तर (अर्थात् अन, तन, एन,......आदि) मिल जाते हैं।

बिहारी

बिहारी के दोहों में शब्द और अर्थ दोनों अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है किन्तु इनमें स्वतंत्र रूप से अलंकार-प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, जिससे इन्होंने भाव या तथ्य-बोध के लिये ही परतंत्र या सहायक रूप में ही अलंकारों का प्रयोग किया है। जहाँ कहीं भी यमकालंकार का इन्होंने प्रयोग किया है वहाँ चमत्कार लाने के लिये ही—

'तौ पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, है उरबसी समान॥' (बिहारी)

परिस्थितियों की विचित्रता का बोध कराने के लिये बिहारी ने असंगति अलंकार का प्रयोग किया है किन्तु वह काव्य-सौन्दर्य में ऐसा घुलमिल गया है कि ऊपर से चिपकाया अथवा फालतू नहीं जान पड़ता—

'दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गांठि दुरजन-हिये, दई नई यह रीति ॥' (बिहारी)

इसी प्रकार तद्गुण, साम्यमूलक तथा उत्प्रेक्षा आदि के उत्तमोत्तम उदाहरण बिहारी के दोहों में भरे पड़े हैं—

'अधर धरत हरि के परत, ओठ-डीठि-पट-जोति ।
हरित बांस की बांसुरी, इंद्रधनुष-रंग होति ॥' (बिहारी 'तद्गुण')
'सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात ।
मनौ नील मनि-सैल पर, आतप परयौ प्रभात ॥' (बिहारी 'उत्प्रेक्षा')

इसी प्रकार 'रसलीन', सैयद गुलाम नबी विलग्रामी, रसनिधि, पृथ्वीसिंह तथा 'विक्रम' और रामसतसई के दोहों में भी अलंकरण-प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यद्यपि बिहारी की सी कलात्मकता, वाग्वैचित्र्य तथा सुन्दर अलंकार-योजना इन कवियों की रचनाओं में नहीं मिलती फिर भी अलंकार युक्त रचना करने की प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते हैं, जिसे उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है :—

'अमिय, हलाहल मद भरे, सेत स्याम, 'रतनार ।
जियत मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकबार ॥' (रसलीन)
'कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय ।
तुव मुख-मधुराई लखे, फीको परि घटि जाय ॥' (रसलीन)
'सुन्दर जोबन रूप जो, बसुधा में न समाइ ।
दृग तारन तिल बिचतिन्है, नेही धरत छुकाइ ॥' (रसनिधि)
'मन गयंद छबि मद छके तोर जँजीरन जात ।
हित के झीने तार सों, सहजै ही बँधि जात ॥' (रसनिधि)
'चलि देखौ दुति दामिनी दिपति मनौ दुति रूप ।
मंजु मंजुघोषा भई जोषा जगत अनूप ॥' ६२५ ॥ (विक्रम सतसई)
'लै प्रसून पूजत सिवा, मेटन बिरह कलेस ।
खोल मुठी चित चकित है, देत चढ़ाइ महेस ॥' ५६७॥ (विक्रम सतसई)
'चंपक में नहिं चंद में, नहिं चपला में लाल ।
नहिं कंचन में चारुता, रही यही तन बाल ॥' २६० ॥ (राम सतसई)
'मन-खेलार तन-चंग नव, उड़त रंग रस डोर ।
दूरिहि डोर बटोर जब, जब पारै तब ठोर ॥' २९४ ॥ (राम सतसई)

'रीतिमुक्त' मुक्तक काव्यों में अलंकरण की प्रवृत्ति

रीतिबद्ध रचना करने वालें कवियों ने काव्य के कला-पक्ष को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है और रीतिसिद्ध कवियों में कला तथा भाव-पक्ष पर समान आग्रह दिखलाई पड़ता है, किन्तु रीति-मुक्त कवियों में भाव पक्ष की ही प्रधानता पाई जाती है। जिससे इस कोटि की

रचनाओं में शब्द-चमत्कार की अपेक्षा भावगाम्भीर्य पर विशेष ध्यान दिया गया है और अपेक्षाकृत अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग मिलता है। अलंकारों का प्रयोग इन कवियों ने अलंकार प्रयोग की दृष्टि से नहीं बल्कि स्वभाविक रीति से भावों में तीव्रता लाने के लिए ही किया है। इस प्रकार सत्तरहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य का एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण भाग रीतिमुक्त साहित्य का है, किन्तु इस प्रकार की कवितायें हिन्दी में इसके पूर्व भी होती रही हैं जिनमें केवल श्रृंगारी-साहित्य ही नहीं बल्कि भक्ति तथा वीर रस-प्रधान साहित्य भी लिखा गया है। इन कवियों पर किसी प्रकार का न तो शास्त्रीय-बन्धन जान पड़ता है और ये काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से न तो प्रेरणा प्राप्त करते ही जान पड़ते हैं। इन कवि-ताओं की श्रृंगार और वीर दो मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं। रस से युक्त इनकी रचनाओं में भी अलंकार की प्रचुरता पाई जाती है।

श्रृंगार-परक रीतिमुक्त-काव्य

'आलम' कवि 'रसखान' की भाँति ही सहृदय कवि थे। इन्होंने एक मुसलमान कवियित्री 'शेख' के प्रेम में पड़ने के कारण अपने ब्राह्मण धर्म को तिलांजलि देकर मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था किन्तु इनके हिन्दू संस्कार बने रहे जो उनकी कविताओं में प्रस्फुटित हुए हैं। ये पति और पत्नी दोनों 'आलम शेख' के नाम से हिन्दी कविता करते थे। इन्होंने श्रृंगार-रस की बड़ी ही मनोहारी रचनायें अलंकृत शैली में की हैं—

'कैधौं मोर सोर तजि गये री अनत भाजि।
कैधौं उत दादुर न बोलत है ए दई।
कैधौं पिक चातक बधिक काहू मारि डारे।
कैधौं बकपांति उत अंतगति है गई।
आलम कहत आली अजहूँ न आये स्याम।
कैधौं उत रीति विपुरीति विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरबे ते रही।
जूझि गये मेघ कैधौं बीजुरी सती भई॥'　　(आलम)

कवि 'नेवाज' के छन्दों की भाषा परिमार्जित, व्यवस्थित तथा भावोपयुक्त है। इनकी रचनाओं से जान पड़ता है कि ये श्रृङ्गार-रस के अच्छे कवि थे। संयोग-श्रृङ्गार में इनका मन इतना रमा है कि कहीं-कहीं अश्लीलता तक भी पहुँच गये हैं—

'आगे तौ कीन्ही लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति।
तू अनुराग को सौंध कियो, व्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन संकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहूँ तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥ (नेवाज)

वियोग-काल की अन्तर्वृत्तियों का जितना मार्मिक एवं हृदय-हारी चित्रण कविवर घनानन्द की रचनाओं में मिलता है उतना सुन्दर वर्णन मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के विरले कवियों ने ही किया है। रीतिबद्ध रचना में भी संयोग और वियोग की चरम दशा

'बिछुरन मीन की और मिलनि पतंग की' के द्वारा घोषित की जाती थी। प्रेम में मर मिटो यही इनका मूल मन्त्र है। विरह सहने का साहस उनकी शारीरिक सुकुमारता नहीं बटोर सकती। मन का बल उनके पास उतना नहीं होता, पर रीतिमुक्त कवि प्रेम में मर जाने को चेतावनी का नहीं, जड़ता का लक्षण मानते हैं, चेतन तो साहस पूर्वक जीता है।[1]

'हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सुक्यों समुझै जड़ मीत के पानि परे को प्रमानै।
या मन की जु दशा 'घन आनंद' जीव की जीवनि जानही जानै॥' (घनानंद)

'घनानंद' ने रीतिसिद्ध अथवा रीतिबद्ध कवियों की भाँति विरह-ताप को बाहरी मान से नहीं मापा है और न तो बाहरी उछल-कूद ही दिखलाई है। इनकी हलचल भीतरी ही है जिसे उन्होंने सूक्ष्म कल्पना के द्वारा साधना की भूमि पर अत्यन्त अलंकृत शैली में उतारा है—

'मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत तज्यो तरसै।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनँद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरें मिलें मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कों परसै॥' (घनानंद)

उपरोक्त छन्द में 'तपना' और 'बरसना' का एक ही प्रसंग में प्रयोग कर कवि ने सुन्दर 'विरोध' की सृष्टि की है। इसी प्रकार उन्होंने 'सुजान' शब्द पर श्लेष करके अनेक कवित्त और सवैये कहे हैं—

'ऐरे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वारि,
तों सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछो बड़े को समान, घन
आनंद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पाँयन की हा हा! नैकु आनि दै॥' (घनानन्द)

उपरोक्त कवित्त में सुजान शब्द के लिये कवि ने 'जान' शब्द प्रयुक्त किया है जिसके दो अर्थ निकलते हैं। शृङ्गार प्रधान स्वच्छन्द कवियों में 'बोधा' और 'ठाकुर' का भी महत्व-पूर्ण स्थान है जिनके एक-एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

'कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो
यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै गरे ते फिरै
मन की मनही में सिरैबो करै।

---

1. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बिहारी, प्र० सं०, पृ० ३१।

कवि बोधा न चाव सरो कबहूँ
नितहूँ हरवा से हरैबो करै।
सहतेइ बने कहते न बनै
मनही मन पीर पिरैबो करै।' (बोधा)
'पिय प्यार करै जेहि पै सजनी
तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौ भ्रम में
फिर पाछे परे पछतैयत है।
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं
दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन एरी भटू
निज सौत के मायके जैयत है।' (ठाकुर)

वीर रस-प्रधान रीति मुक्त काव्य

प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत 'पृथ्वीराज' की 'बेलि क्रुसन रुक्मणी री' की अलंकृत शैली का वर्णन पहले किया जा चुका है। जिससे उनकी अलंकृत शैली का पूर्ण परिचय मिल चुका है। उन्होंने वीर रस की भी अलंकार पूर्ण रचनायें की हैं। इतिहास कार कर्नल 'टाड' ने पृथ्वीराज की कविता में दस हजार घोड़ों का बल बतलाया है, जो अक्षरशः ठीक है। उन्होंने अपनी एक कविता में यह भाव प्रकट किया है कि पुत्र माता से निवेदन करता है कि हे माता! ऐसे पुत्र को जन्म दे जैसा राणाप्रताप है, जिसको अकबर सिरहाने का साँप समझकर सोता हुआ चौंक पड़ता है—

'माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणाप्रताप।
अकबर सूतो ओझके, जाण सिराणे साँप।' (पृथ्वीराज)

इसी प्रकार एक दोहे में उन्होंने अथाह समुद्र का रूपक बाँधा है। वीरता रूपी जल से भरा अकबर अथाह समुद्र है, परन्तु मेवाड़ का राणाप्रताप उसमें कमल के फूल के समान है। अर्थात् जिस तरह कमल पर जल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार प्रताप पर अकबर की वीरता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

'अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण, फूल प्रताप सी॥' (पृथ्वीराज)

'पृथ्वीराज' की भाँति ही 'दुरासा' जी की भी कवितायें वीरता तथा देश प्रेम से ओत-प्रोत हैं। अन्य हिन्दू राजाओं का अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेना कवि 'दुरासा' जी के हृदय को अत्यन्त छू गया है। उनकी उक्ति कि सुख-भोग के लिये अन्य हिन्दू राजा गीदड़ों की भाँति अकबर के आधीन हो गये, पर क्रोधी सिंह की भाँति राणाप्रताप ही उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करता—

'सुखहित स्याल समाज, हिंदू अकबर बस हुआ।
रो सो की मृगराज, पजै न राणाप्रताप सी॥ (दुरासा जी)

बाँकीदास की भी गर्वोक्तियाँ उसी श्रेणी में आती हैं जिसमें पृथ्वीराज और दुरासा जी की। रामपुर का चन्द्रावत राव दुर्गादास पहले मेवाड़ के महाराणा का विश्वासपात्र और बाद में जाकर वह अकबर से मिल गया जिसपर 'जयमल' और 'पत्ता' कहते हैं कि हे दुर्ग! तू अटल हो कर रह। कायर रूपी मैल के निकल जाने से स्वर्ण-दुर्ग की ज्योति बढ़ गई है—

'प्रगट कहे जैमल-पतो, अचल अचल कर अंग।
कायर रेहण बढ़ गया, दीपै कनक दुरंग॥' (बाँकीदास जी)

कविराजा सूर्य मल्ल ने 'वीर सतसई' नामक एक ओजपूर्ण दोहों का सुन्दर संग्रह छोड़ रखा है। ये महाराज कवियों का बड़ा आदर करते थे और स्वयं भी सुन्दर रचनायें करते थे। वंशभास्कर नामक ग्रन्थ की भी उन्होंने रचना की है। 'वीर सतसई' उनकी बड़ी ही सुन्दर अतिशयोक्ति-पूर्ण रचना है। उपमा और रूपकों का भी यथोचित प्रयोग उन्होंने बड़ी ही कुशलता से किया है। राजपूतानियों ने इतिहास में असम्भव को भी सम्भव कर दिखलाया है। सती होती हुई एक वीरांगना कहती है कि हे सखी! पति के जीवित रहते शत्रुओं ने कभी चैन नहीं पाया और अब जलते समय मैंने इन्हें गोद में ले रखा है तो भी इनकी मूँछ नहीं मुड़ रही है। अर्थात् इस दशा में भी ये शत्रुओं को दुखी कर रहे हैं—

'सखी नथी धव जीवताँ, अरियाँ पायो चैन।
बल्ताँ कीधो गोद में, तौ भी मूछ मुड़ेन॥' (वीर सतसई)

इसी प्रकार एक नायिका का कथन है कि हे सखी! मैं तुझे एक आश्चर्य की बात बताती हूँ वे (मेरे पति) घर में तो (मेरी) भुजाओं में समा जाते हैं' परन्तु युद्ध का शोर सुनते ही वे मरण-प्रेमी इतने फूलते हैं कि कवच में भी नहीं समाते—

हूँ हेली अचरज कहूँ, घर में बाथ समाय।
हाको सणतां हूलसै, मरणौ कोच न माय। (वीर सतसई)

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारण की प्रवृत्ति केवल शृंगारी मुक्तकों तथा लक्षण ग्रन्थों में उद्धृत कविताओं में ही नहीं बल्कि अन्य स्वच्छन्द-मुक्तकों में भी पाई जाती है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में काव्य-शास्त्र

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दि तक हिन्दी में प्रभूत सुन्दर रचनायें आ चुकी थीं। महाकवि 'सूर' और गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृतियाँ हिन्दी संसार को भेंट हो चुकी थीं। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ शास्त्रीय ग्रन्थों का अभाव खटके बिना नहीं रह सकता। साहित्यकारों, साहित्य प्रेमियों तथा जन-साधारण को काव्य-कला के ग्रन्थों की आवश्यकता ज्ञात हुई जिससे हिन्दी साहित्य में इस ओर भी कुछ कार्य आरम्भ हुआ। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उसी प्रकार शास्त्रीय ग्रन्थों की सृष्टि भी साहित्य ग्रन्थों के निर्माण के बाद

ही होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी के सौभाग्य से उसके सामने संस्कृत के शास्त्री ग्रन्थों की अतुल-परम्परा वर्तमान थी, उसे उसका अक्षय कोष मिल गया जिससे इस ओर कार्य करने में हिन्दी-आचार्यों को किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव तो नहीं हुआ किन्तु वे इस क्षेत्र में कोई मौलिक देन भी नहीं दे सके।

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल के कविगण संस्कृत के भी जानकार थे जिससे हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ के न होने पर भी उस विषय के संस्कृत ग्रन्थों के कारण काव्य-कला के मर्मज्ञ थे। संस्कृत साहित्य और काव्य-शास्त्र से हिन्दी कवियों का सम्पर्क बराबर बना रहा और यहां तक कि पंडितराज जगन्नाथ का प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ 'रसगंगाधर' संस्कृत में सत्रहवीं शताब्दि में ही लिखा गया जबकि हिन्दी में अधिकाधिक लक्षण ग्रन्थों की सृष्टि हो रही थी। हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य किसे माना जाय इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हो पाये हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक-ग्रन्थकार 'पुष्प' नाम का एक कवि था जिसने सातवीं शताब्दि में काव्य-शास्त्र पर एक अलंकार-ग्रन्थ हिन्दी में लिखा था। यद्यपि प्रमाण के अभाव में उक्त तथ्य किसी आलोचक को स्वीकार्य नहीं, फिर भी विचार करने से यह असम्भव भी नहीं जान पड़ता कि सप्तमशती में हिन्दी भाषा में काव्य-शास्त्र की कोई पुस्तक नहीं लिखी गई होगी। कम विश्वास का तथ्य यह है कि सप्तमशती में, नितान्त साधारण जनता में ही सही, जिस भाषा का व्यवहार होने लगा था, वह अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।[1]

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत से स्वतंत्र काव्य-शास्त्र नहीं है। हिन्दी में संस्कृत के अनुकरण पर ही सही, काव्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य का सृजन होने लग गया था। ऐसी स्थिति में देशी भाषा में काव्य-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी गई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के पूर्वार्द्ध में जिसे भक्तिकाल भी कहा जाता है, कुछ रचनायें काव्य-शास्त्र के कुछ अंगों पर लिखी जा चुकी थी। 'पुष्प' कवि की रचनाओं के प्राप्त न होने के कारण 'कृपाराम' की 'हिततरंगिणी' ही रस रीति पर लिखी सर्व-प्रथम काव्य-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक है जो उपलब्ध है।

सं० १५९८ वि० में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' में रसों का कुछ निरूपण किया और अपने पूर्ववर्ती कुछ कवियों की ओर भी संकेत किया जिनका कुछ पता नहीं चलता। हित-तरंगिणी' में सब पाँच तरंग हैं जिनमें नायिका भेद का पूर्ण विवरण किया गया है किन्तु सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण ही है। इस पुस्तक का आधार मुख्यतः 'भरत का नाट्यशास्त्र' ही जान पड़ता है। इन्होंने स्वाधीन पतिका आदि नायिका के १० भेद माने हैं जब कि 'भरत' ने ८ प्रकार की ही नायिकायें स्वीकार की हैं। जिससे लगता है कि इन्होंने 'भानुदत्त' से भी प्रभाव ग्रहण किया है क्योंकि उन्होंने इस प्रकार की नायि-काओं की संख्या दस मानी है।

मोहनलाल जी मिश्र के पूर्व एक कवि गोपा का नाम मिलता है। जिसका 'रामभूषण' राम के यश-वर्णन के साथ-साथ सम्भवतः अलंकार ग्रन्थ भी है तथा इन्होंने अलंकार चन्द्रिका

---

१. ओम् प्रकाश, 'हिन्दी अलंकार साहित्य', प्र० सं०, पृ० ४८।

में स्वतन्त्र रूप से अलंकारों का विवेचन भी किया है किन्तु इनके भी विशेष विवरण के न मिलने के कारण 'मोहनलाल' जी मिश्र ही दूसरे काव्य-शास्त्र कार ठहरते हैं। इन्होंने सं० १६१६ में 'शृंगार सागर' नामक बड़ा ग्रन्थ रचकर नायक-नायिका भेद तथा अलंकार आदि का साधारण विवेचन किया। नन्ददास की 'रसमञ्जरी' भी नायिका भेद ग्रन्थ है, जिसमें नायक-नायिका भेद, हाव, भाव तथा हेलादि का वर्णन है। इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने ग्रन्थ निर्माण में रसमंजरी (भानुदत्त कृत) का अनुसरण किया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहे और चौपाई में ही लिखा गया है। बलभद्र मिश्र की नखशिख पर, अब्दुर्रहीम खाँ खाना की बरवै नायिका-भेद तथा 'करनेस' की 'करणाभरण', श्रुतिभूषण और भूपभूषण अलंकार पर लिखी गयी रचनायें हैं, जिन्हें हम केशवदास के पूर्व की काव्य-शास्त्र पर उपलब्ध सामग्री के अन्तर्गत रख सकते हैं। 'रहीम' के बरवै नायिका भेद में लक्षण न प्रस्तुत करके केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये गये हैं।

केशवदास जी हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इसके बाद प्रायः पचास वर्षों तक काव्य-शास्त्र पर कोई अच्छा रीति ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इन्होंने संस्कृत की आचार्य-परम्परा को हिन्दी में आरम्भ किया। केशव दास जी चमत्कारवादी थे जिससे अलंकारिक सिद्धान्त पर श्रद्धा रखते थे अतः इन्होंने प्राचीन संस्कृत के आलंकारिकों—भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है। इनके द्वारा आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि के ग्रन्थ आधार नहीं बन सके। इनकी यह काव्य-शास्त्र की परम्परा आगे के आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकी और इनके पश्चात् मतिराम और चिन्तामणि के साथ जो परम्परा काव्य-शास्त्र ग्रन्थकारों की चली उनके लिये 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्यप्रकाश' तथा साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थ ही आधार माने गये। केशवदास ने 'साधारण' और 'विशिष्ट' नाम के अलंकारों के दो वर्ग बनाये किन्तु उन्होंने न तो उनकी परिभाषा ही दी है और न विवेचन ही किया है। जिस शैली में कुछ रसों का वर्णन हो उसे उन्होंने कौशिकी, आरभटी, सात्वती तथा भारती आदि वृत्तियाँ तो कह डाली हैं पर उनकी परिभाषा नहीं दी है। वृत्ति 'केशव' के अनुसार रसवर्णन की ही शैली जान पड़ती है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' इनके प्रमुख शास्त्र ग्रन्थ हैं जिनमें क्रम से उन्होंने रस और अलंकारों का वर्णन किया है। रसवादी दृष्टि ये 'कविप्रिया' में भी नहीं त्याग पाये हैं।

त्रिपाठी बन्धुओं में मतिराम, चिन्तामणि तथा भूषण के लक्षण ग्रन्थों का विशेष महत्व है। मतिराम के भीतर कवि आचार्य दोनों का अद्भुत समन्वय हुआ था जिसकी चर्चा हम आगे विशेष रूप से करेंगे। चिन्तामणि ने सं० १७०७ में 'कवि कल्पतरु' नामक काव्य-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा तथा इसके सिवाय इन्होंने पिंगल पर 'छन्द विचार' नाम से एक ग्रन्थ और लिखा। काव्य विवेक तथा काव्यप्रकाश भी इनके ग्रन्थ कहे जाते हैं। खोज से रसमंजरी नामक एक रचना का और पता लगा है। भूषण ने 'शिवराज भूषण' के नाम से अलंकारग्रन्थ लिखा है।

जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' अलंकार ग्रन्थ है जिसे उन्होंने लगता है कंठस्थ करने के

लिये लिखा है। तोषनिधि ने सं० १६९१ वि० में 'सुधानिधि' नामक एक बड़ा ग्रन्थ ५६० छन्दों में लिखा है। कुलपतिमिश्र ने 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ सं० १७२७ वि० में लिखा। इस ग्रन्थ में कहीं कहीं गद्य में टीका भी दी गयी है। 'नखशिख' पर भी इनका एक ग्रन्थ मिला है। सुखदेव ने सात-आठ ग्रन्थ लिखे। इनके वृत्ति विचार, छन्द विचार, रसवर्ण आदि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपने दो ग्रन्थों में सं० १७२८(वृत्ति विचार) तथा सं० १७३३ (छन्द विचार) रचना काल दिया है। कालिदास का ग्रन्थ 'वरवधू-विनोद' प्रसिद्ध है जिसमें नायिका भेद का वर्णन है और उदाहरण भी भक्ति रस के बहुत अच्छे दिये गये हैं।

'देव' का स्थान कवि और आचार्य दोनों दृष्टियों से बहुत ऊँचा है। इन्होंने 'भाव-विलास', भवानी विलास, सुजानविनोद, सुखसागर तरंग, काव्य रसायन, कुशल-विलास आदि अच्छे काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचनायें की हैं। इनके ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों से कुछ विशेषतायें हैं। इन्होंने विभिन्न प्रकार की स्त्री जातियों, दूतियों आदि का वर्णन किया है केवल प्रचलित नायिकाओं का ही नहीं। इन्होंने भवानी विलास में कहा है कि यह कहना कि रस ९ है असत्य है, यथार्थ में शृंगार ही मूल रस है। इन्होंने केशव के पांच भावों को रस-निष्पत्ति के लिये छः माने हैं और कायिक संचारियों को ही इन्होंने सात्विक भाव मानकर उनकी संख्या आठ मानी है। कवि देव संयोग को वियोग के बाद मानते हैं। इनकी सी स्पष्टता अन्य आचार्यों में दुर्लभ है।

सुरतिमिश्र ने सं० १७५८ में 'अलंकार माला' नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'रसरतन' या 'रसरत्नमाला' नाम से रसों पर नायिका भेद ग्रन्थ लिखा। इनकी विशेषता यही है कि इन्होंने एक ही दोहे में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों प्रस्तुत किये हैं। श्रीपति ने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है। इनका 'काव्य-सरोज' सं० १७१७ वि० की रचना है और इसमें इनके कल्पद्रुम का भी उल्लेख है। इसके सिवाय अलंकार गंगा तथा विक्रम विलास' भी इनके लिखे ग्रन्थ माने जाते हैं। 'भिखारीदास' जी प्रथम श्रेणी के आचार्यों में माने जाते हैं। इन्होंने आठ-नौ ग्रन्थ लिखे जिनमें 'छन्दार्णव' या छन्दोर्णव (सं० १७९९), काव्य निर्णय (सं० १८०३) तथा 'शृंगार निर्णय' अत्यन्त महत्व के हैं। इन्होंने रस सारंश (सं० १७९१) में शृङ्गार का प्रधानतः तथा अन्य रसों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

सं० १७९४ में सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' नामक एक बड़े ग्रन्थ की रचना की जिसमें काव्य-कला के प्रायः सभी अंगों का वर्णन है। रघुनाथ सं० १७९६ वि० में अलंकारों पर 'रसिक मोहन' तथा सं० १८०२ वि० में भाव, रस, तथा नायिका भेद पर 'काव्यकलाधर' नामक ग्रन्थों की रचना की है। दूलह—का 'कविकुल कंठाभरण' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चन्द्रा-लोक' के आधार पर लिखा अलंकार ग्रन्थ है। बेनी प्रवीण ने 'नवरसतरंग', 'शृंगार भूषण' तथा 'नाना रावप्रकाश' ग्रन्थ लिखे। प्रथम ग्रन्थ नायिकाभेद, रस, भाव आदि पर लिखा गया है और अन्य दोनों में भी प्रायः यही विषय रखे गये हैं। पद्माकर का 'पद्माभरण' सं० १८७७ वि० में लिखा गया जिसमें अलंकारों का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ बड़ा

सुन्दर बन पड़ा है। प्रतापसाहि का स्थान आचार्यों में बड़े महत्व का है। इन्होंने काव्य-शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' शब्द शक्तियों पर सं० १८८७ वि० में तथा सं० १८८६ वि० में युगल 'नखशिख' और 'काव्यविलास' ग्रन्थों की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'शृंगारमंजरी' (सं० १८३२), 'शृंगार शिरोमणि' (सं० १८३७) तथा 'अलंकारचिन्तामणि' (सं० १८३९ वि०) की रचना की है। काव्य के प्रायः सभी अंगों पर इन्होंने प्रकाश डाला है और काव्य-शक्ति के साथ ही साथ इनमें आचार्यत्व की कमी नहीं थी। इसके अतिरिक्त सेवक का नायिका भेद पर 'वाग्विलास' और बरवै छन्द में नखशिख, गिरधरदास का अलंकारों पर लिखा 'भारती भूषण' तथा 'सरदार' का ऋतुओं पर ऋतुविन्यास ग्रन्थ 'साहित्यसुधाकर' आदि काव्य-शास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इस प्रकार कृपाराम से लेकर 'पद्माकर' के बाद तक हिन्दी काव्य-शास्त्र ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है। हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करने के लिये काल-क्रम की सूची दे देना अनुचित न होगा।

संवत् (रचनाकाल)		आचार्य कवि	संवत् (रचनाकाल)			आचार्य कवि
१५९८	...	कृपाराम	१७०७ के लगभग		...	चिन्तामणि
१६१६	...	गंग	१७१६	,,	...	मतिराम
१६१६	...	मोहन लाल	१७३०	,,	...	भूषण
१६२०	...	मनोहर	१६९५		...	जशवन्तसिंह
१६२०	...	गंगाप्रसाद	१६९१		...	तोषनिधि
१६३७	...	करनेस	१७२७		...	कुलपति मिश्र
१६४०	...	बलभद्र मिश्र	१७४६		...	देव
१६४०	...	रहीम	१७६८		...	सुरति मिश्र
१६५०	...	केशवदास	१७१७		...	श्रीपति
१६५०	...	मोहनदास	१७९९		...	भिखारीदास
१६५१	...	हरिराम	१७९४		...	सोमनाथ
१६५७	...	बालकृष्ण	१७९६		...	रघुनाथ
१६६०	...	मुबारक	१८७८		...	बेनीप्रवीण
१६७६	...	लीलाधर	१८६७		...	पद्माकर
१६८८	...	सुन्दर	१८८२		...	प्रतापसाहि
१७००	...	सेनापति				

हिन्दी काव्य-शास्त्र का स्वरूप

पूर्व में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी के काव्य-शास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में किसी प्रकार की नवीन उद्भावनायें नहीं की गयी हैं, बल्कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर

शास्त्रीय ज्ञान को सुलभ बनाने का प्रयत्न हिन्दी आचार्यों द्वारा हुआ है। यही कारण है कि हिन्दी में आचार्य और कवि का भेद मिटकर दोनों धर्म एक ही व्यक्ति में आ गये जिससे हिन्दी का आचार्य, कवि और आचार्य दोनों हैं। हिन्दी में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी जितनी भी सामग्री प्राप्त होती है उन्हें मुख्यतः चारवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे हैं जिनमें काव्य-शास्त्र के समस्त अधिकांश, या एकाध अङ्गों का वर्णन मिलता है। इन्हें ही वास्तविक काव्य-शास्त्र ग्रन्थ समझना चाहिये। किन्तु स्वस्थ शास्त्रीय परम्परा के अभाव में दूसरे वे भी ग्रन्थ हैं जो केवल अलंकार पर ही लिखे गये हैं। तीसरे प्रकार के ग्रन्थ केवल रसों के वर्णन के लिये लिखे गये हैं और चौथे वे 'ग्रन्थ हैं जिनमें केवल शृंगार रस यानी नायिका अथवा दोनों का वर्णन पाया जाता है। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य के कवियों एवं आचार्यों की प्रवृत्ति नायक-नायिका भेद तथा अलंकार ग्रन्थ प्रस्तुत करने की ओर ही विशेष रही है। जिससे इन्हीं विषयों से सम्बन्धित अधिकांश रचनायें प्रस्तुत की गयी हैं।

नायक-नायिका-भेद सम्बन्धित ग्रन्थों की अधिकाधिक रचनायें इस काल में हुई हैं जिनमें अधिकांश ग्रन्थों में सहारा राधा और कृष्ण का लिया गया है, किन्तु वर्णन में प्रणीत लौकिकता ही है। इस प्रसंग की विस्तारपूर्वक चर्चा आगे मतिराम के नायिका-भेद प्रसंग में की जायगी।

अलंकार शास्त्र

हिन्दी में काव्य-शास्त्र के नाम पर मुख्यतः अलंकार शास्त्र की ही रचना की गयी है। अलंकार शास्त्र के सम्प्रदाय रूप की चर्चा पहले हो चुकी है। जहाँ तक हिन्दी अलंकार शास्त्र के ऐतिहासिक विकास का प्रश्न है उसे जानने के लिये अलंकार शास्त्र के वास्तविक इतिहास को जानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि हिन्दी में इस शास्त्र का मौलिक रूप से विकास नहीं हुआ है, बल्कि संस्कृत के अलंकार शास्त्रों के आधार पर ही इसका विकास हुआ है। इस प्रसंग की चर्चा मतिराम के अलंकार वर्णन के साथ की जायगी।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के मध्यकाल का आरम्भ ही एक प्रकार से अलंकृत काव्यों का भी आरम्भ है। अपभ्रंश अथवा ग्रामीण प्रयोगों से मुक्ति मिलते ही हिन्दी कविताओं का स्वाभाविक झुकाव संस्कृत साहित्य की ओर हुआ जिससे प्रभावित होने के कारण संस्कृत के अलंकृतकाव्यों का भी प्रभाव उसने ग्रहण किया। कवियों की इस प्रवृत्ति कि संस्कृत साहित्य में अक्षुण्ण सामग्रियों को हिन्दी कविताओं के माध्यम से सर्वसुलभ बनाया जाय, संस्कृत के साहित्य-शास्त्र ग्रन्थों को भी हिन्दी काव्य-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। मुस्लिम दरबारों तथा सामन्तों की बैठकों ने हिन्दी प्रबन्धकाव्यों तथा प्रबन्धमुक्तकों में पाई जाने वाली अलंकरणवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन देकर सुन्दर अलंकृत मुक्तकों की प्रभूतमात्रा में सृष्टि होने में पूर्ण योग दिया और परिणामस्वरूप इस काल में हिन्दी कविताओं के माध्यम से जितनी श्रेष्ठ एवं संख्या में अधिक अलंकृत काव्यों की सृष्टि हुई उतनी अलंकृत कविताओं की सृष्टि आज तक सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सब मिलाकर नहीं हो सकी है।

काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों को लक्ष्य करके भी ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कविशिक्षा, नायक-नायिका भेद तथा अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रमुख हैं। आचार्यत्व की अपेक्षा काव्यत्व की ओर आचार्य कवियों का ध्यान विशेष रहा जिससे कविशिक्षा अथवा नायिका-भेद के उदाहरणों में भी अलंकृत तत्व का ही प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। सहज स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का अभाव तो इस काल में अवश्य दिखलाई पड़ता है किन्तु मतिराम तथा घनानन्द आदि कुछ कवि ऐसे हैं जिनमें इसका नितान्त अभाव नहीं है। महाकवि मतिराम में तो प्रौढ़ आचार्य एवं सरस कवि के गुणों का अद्भुत समन्वय दिखलाई पड़ता है।

वंश-परिचय

मतिराम ने अपनी रचनाओं में कहीं भी अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है और न तो ग्रन्थों में रचनाकाल ही दिया है कि उसके आधार पर उनके जन्म तथा रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकें।

कवि की कृतियों से जब उसके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिल पाती तो हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि उसके समकालीन कवियों तथा कृतियों का अध्ययन करें क्योंकि अधिक सम्भव है कि दूसरे कवियों की रचनाओं में समकालीन होने के नाते हमें कुछ ऐसे प्रसंग मिल जाँय जो उक्त कवि के जीवन पर प्रकाश डालते हों। इसके अतिरिक्त एक और भी महत्वपूर्ण स्रोत बच रहता है जिसके द्वारा कवियों के जीवन परिचय जाने जा सकते हैं, वह है राजाओं और सामन्तों का दरबार जहाँ हिन्दी के मध्य-कालीन कवियों को आश्रय मिलता रहा। कुछ को छोड़कर हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन प्रमुख कवि किसी न किसी दरबार की छत्रछाया में ही अपनी कृतियों का प्रणयन करते रहे हैं और उनमें से अधिकांश ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में ग्रन्थ भी रचे हैं। महाकवि मतिराम को भी आश्रय मिला था, जिसका परिचय उनकी कृतियों से मिलता है। उनके समकालीन कवियों की एक भी रचना ऐसी नहीं मिलती जिसमें कि मतिराम के जीवन पर प्रकाश पड़ता हो और जो मिलती भी हैं उनकी प्रामाणिकता पर अब तक सन्देह बना हुआ है। हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों को प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं और हो सकता है कि भविष्य में कोई ऐसी रचना मिल जाय जिससे मतिराम के जीवन-सम्बन्ध में कुछ अधिक निश्चय के साथ कहा जा सके।

विद्वानों द्वारा उल्लेख

मतिराम की काव्य प्रसिद्धि के कारण विद्वान् इस ओर आकर्षित अवश्य रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। जब कभी भी किसी विद्वान ने हिन्दी के मध्य कालीन कवियों अथवा इतिहास के सम्बन्ध में कुछ लिखा है तो 'मतिराम' का सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है। मतिराम का सर्वप्रथम उल्लेख प्रसिद्ध कवि के रूप में 'गार्सा-द-तासी' ने अपने 'हिन्दवी' के इतिहास में किया है।[१] 'तासी' के बाद का सबसे प्राचीन उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' का है जिसे आधार

MATIRAMA

१. Excellent poete Hindi a qui on doit le Raca-Raja ouvrage cite par ward et par colebrooke, et dout je possede un exemplaire en caracteres Devanagari que je does a dantitie du savant et Zele secretairede la Society de Calcutta M. J. Prinsep. Je Reviendrai. Daus mon second Volume, Sur cet important ouvrage. p. 552.

मानकर सर जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल आदि इतिहासकारों ने वर्णन किये हैं। 'शिवसिंह सेंगर' को दो एक ग्रन्थ और ऐसे देखने को मिले थे जिसमें 'मतिराम' विषयक चर्चायें थीं जिनका संकेत उन्होंने 'शिवसिंह सरोज' के उपक्रम में किया है। 'सरोज' कार को इतिहास लिखने की प्रेरणा भी 'मतिराम' के जीवन परिचय के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों से ही मिली, जिसे उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है। सं० १९३३ में हमने दो एक ग्रन्थ भाषा कवि लोगों के जीवन चरित्र विषयक ऐसे देखे जिनमें मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि वे महापात्र भाट असनी के हैं और इसी भाँति बहुत सी बातें देख हमसे चुप नहीं रहा गया, हमने सोचा कि अब कोई ग्रन्थ ऐसा बनाना चाहिये जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन चरित्र सहित सन्-सम्वत् और जाति, निवास और कविताई के ग्रन्थों समेत विस्तार पूर्वक होवे।'[1] इस प्रकार उन्होंने प्रकाशित पुस्तकों की अपेक्षा जनश्रुतियों को अधिक महत्व देकर 'शिवसिंह सरोज' का निर्माण किया जिसमें उन्होंने लिखा है कि—

'मतिराम त्रिपाठी टिकमापुर जिला कानपुर के (सं० १७३८ में उ०) महाराज भाषा के आचार्यों में गिने जाते हैं हिन्दुस्तान में बहुधा बड़े राजों-महाराजों के इहाँ थोरे-थोरे दिन रहे और राजा उदोतचंद, कुमाऊ नरेश और भाऊसिंह हाड़ा छत्रसाल राजा कोटा बूँदी और शम्भुनाथ सुलंकी इत्यादि के इहाँ बहुत दिनों तक रहे। 'ललित-ललाम' अलंकार ग्रन्थ राव भाऊसिंह कोटा वाले के नाम से बनाया और छन्दसार पिंगल फतेसिंह बुन्देल श्रीनगर के नाम से रचा और 'रसराज ग्रन्थ' नायिका-भेद का बहुत सुन्दर बनाया है[2]।'

शिवसिंह सरोज में मतिराम तथा उनके भाइयों के सम्बन्ध में अनेक नई बातें लिखी गयी हैं। इसमें यह उल्लेख मिलता है कि इनके पिता दुर्गापाठ करने नित्य देवी जी के स्थान में जाते थे, वे देवी जी बनकी भुंइयाँ कहाती हैं। टिकमापुर से एक मील के अन्तर है। एक दिन महाराज राजेश्वरी प्रसन्न है चारि मुँड दिखाय बोलीं वही तेरे चार पुत्र होंगे निदान ऐसा ही हुआ कि १. चिंतामणि, २. भूषण, ३. मतिराम, ४. जटाशंकर या नीलकंठ चारि पुत्र उत्पन्न हुए इनमें केवल नीलकंठ महाराज तो एक सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुए शेष तीनों भाई संस्कृत काव्यों को पढ़ि ऐसे पण्डित हुए कि उनका नाम प्रलय तक बाकी रहेगा[3]।' जार्ज ग्रियर्सन ने शिवसिंह सरोज के वर्णन को अधिकतर आधार माना है। जिसके अनुसार 'मतिराम त्रिपाठी टिकमापुर, जिला कान्हपुर के (१६५०-१६८२ ई० के लगभग) उपस्थित थे। यह चिन्तामणि त्रिपाठी के भाई थे। यह एक दरबार से दूसरे दरबार में जाते रहे और भ्रमणशील जीवन बिताते रहे। इनके श्रेष्ठतम ग्रन्थ हैं—(१) 'ललित-ललाम' अलंकारसम्बन्धी ग्रन्थ जिसको इन्होंने बूँदी के राव भावसिंह (१६५८–१६८२ ई० देखिये टाड, भाग २, पृ० ४८१, कलकत्ता संस्करण भाग २, पृ० ५२७) के नाम पर लिखा। (२) 'छन्दसार'—श्रीनगर के फतहसिंह बुंदेला के नाम पर पिंगलग्रन्थ

१. 'शिवसिंह सरोज' उपक्रम।
२. शिवसिंह सरोज, चौथा संस्करण, पृ० ४३२-४३३।
३. वही, पृ० ३०५।

और (३) 'रसराज' (रागकल्पद्रुम) नायिका भेद ग्रन्थ। दे० गार्सा द तासी, भाग १, पृ० ३३२।'[1]

'सन् १८९२ ई० में कविकीर्ति कलानिधि (प्रथम कला) नामक पुस्तक नकछेद तिवारी कृत जिनका उपनाम 'अजान' कवि था, प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने कवियों का संक्षिप्त परिचय और विरचित ग्रन्थों की सूची दी है। इस पुस्तक में उन्होंने कवियों के नामों को सजाकर क्रम से रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें मतिराम को २१६ वां स्थान दिया गया है और उनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि 'मतिराम त्रिपाठी' चिन्तामणि के भाई टिकमापुर कान्हपुर सम्वत् १७३८ ग्रन्थ ३[2]।'

'वृत्तकौमुदी' नाम से लिखी मतिराम कविकृत एक पुस्तक भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित ने खोज निकाली है जिसके आधार पर उन्होंने त्रिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में कुछ नई बातें कहनी चाही हैं जिसका समर्थन श्यामसुन्दर दास ने हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का 'संक्षिप्त विवरण' नाम से प्रकाशित एक पुस्तक की भूमिका में किया है, जिसका प्रबल तर्कों द्वारा खंडन मयाशंकर जी याज्ञिक ने 'मतिराम और भूषण' नामक माधुरी पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में किया है। भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित के नवीन अनुसन्धानों के सम्बन्ध में श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि 'इस अनुसंधान के अत्यंत महत्वपूर्ण होने के कारण तथा इस खोज से अत्यन्त प्रचलित बातों का कैसे संशोधन होता है, इसे दिखाने के उद्देश्य से हम इस बात का उल्लेख यहाँ करते हैं।' दीक्षित जी ने इस विवरण में दो नवीन बातों का उल्लेख किया है, वे हैं—(१) मतिराम, भूषण, नीलकंठ तथा चिन्तामणि परस्पर भाई नहीं थे, हिन्दी संसार में जो इन्हें भाई माना जाता है, यह भूल है। (२) भूषण छत्रपति शिवाजी के राजकवि नहीं थे, किन्तु उनके पौत्र साहू जी के दरबार में थे। भूषण ने 'शिवराज भूषण' शिवाजी के नाम पर बनाकर साहूजी को भेंट किया था[3]।' दीक्षितजी की इन सब बातों का आधार 'वृत्तकौमुदी' ही है जिसमें उन्होंने मतिराम को बनापुर निवासी वत्स्यगोत्रीय त्रिपाठी पं० विश्वनाथ का पुत्र माना है।' पं० नन्दकुमार देव शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'वीर केसरी शिवाजी' में चिन्तामणि, भूषण और मतिराम इन तीन ही भाइयों का वर्णन किया है[4]।'

'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धुविनोद' मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखी दो ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें हिन्दी कवियों का परिचय दिया गया है। इन दोनों ही पुस्तकों में मतिराम के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'हिन्दीनवरत्न' में मतिराम के सम्बन्ध में लिखा गया है कि

---

१. द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान—डा० सर जार्ज ग्रियर्सन अनुवादक किशोरी लाल गुप्त (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास) प्र० सं०, पृ० १५७।
२. कविकीर्तिकलानिधि, अजान कवि, प्र० सं०, पृ० १६।
३. माधुरी पत्रिका—'मतिराम और भूषण' नामक लेख से उद्धृत ले० याज्ञिकबन्धु (मयाशंकर याज्ञिक, जीवनशंकर याज्ञिक, भवानीशंकर याज्ञिक) आषाणा २०० पु० सं०, पृ० ७३५।
४. वही।

'आप भूषण' के छोटे भाई और हिन्दी के परम प्रसिद्ध कवि हैं। आपका समय सं० १६९६ से १७७३ पर्यन्त समझ पड़ता है। इनके मुख्य ग्रन्थ 'ललितललाम', रसराज और 'मतिराम सतसई' हैं। बूँदी दरबार ने गज-ग्रामादि से आपका मान किया[१]।' मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार 'कविताकाल' १७१०। ये महाकवि तिकवांपुर जिला कानपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र और प्रसिद्ध कवि भूषण के सगे भाई, कान्यकुब्ज ब्राह्मण त्रिपाठी वंश में सं० १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका स्वर्गवास अनुमान से सं० १७७३ में होना समझ पड़ता है[२]।'

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय मिश्रबन्धु विनोद द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्री का सर्वाधिक उपयोग किया है जिससे उन्होंने मतिराम विषयक बातें प्रायः विनोदकार की स्वीकार कर ली हैं। उन्होंने लिखा है कि 'ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं और चिंतामणि तथा भूषण के भाई परम्परा से प्रसिद्ध हैं ये तिकवांपुर (जिला कानपुर) में सं० १६७४ के लगभग उत्पन्न हुये थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे। ये बूँदी महाराव भाऊसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अपना 'ललित-ललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच बनाया। इनका 'छन्दसार' नामक पिंगल का ग्रन्थ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रन्थ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षणशृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक मतिराम सतसई भी बनाई जो हिन्दी पुस्तकों की खोज में मिली है।'

कृष्णबिहारी मिश्र ने भी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में कवि के वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि 'महाकवि मतिराम' के वंश आदि के विषय में अब तक जो मत प्रच-लित हैं, उसका सारांश यह है कि ये चार सगे भाई टिकमापुर जिला कानपुर के रहने वाले थे। चारों भाइयों का नाम भूषण, मतिराम, चिंतामणि तथा जटाशंकर है। इनके पिता का नाम रत्नाकर जी था और चारो पुत्र श्री देवी जी के आशीर्वाद से हुए थे। भूषण जी ने देवी जी पर अपनी जिह्वा चढ़ाकर कवित्व शक्ति प्राप्त की थी। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनका कश्यप गोत्र में जन्म हुआ था, तथा ये 'त्रिपाठी' उपाधि से विभूषित थे[३]।'

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने लिखा है कि 'त्रिपाठी बन्धुओं में मतिराम और भूषण विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनके बड़े भाई चिन्तामणि थे और छोटे नीलकंठ उपनाम जटाशंकर[४]।' हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मतिराम के चार सहोदर भाइयों को स्वीकार करते हुए रत्नाकर त्रिपाठी को उनका पिता माना है और लिखा है कि 'इतिहास में कानपुर जिले के तिकवांपुर गाँव निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के समान भाग्यशाली पिता बहुत कम होंगे। इनके चार पुत्र थे चारो कवि[५]।'

---

१. संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, मिश्रबन्धु—च० सं०, पृ० १०७।
२. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग—वि० सं०, पृ० ४४३-४४।
३. मतिराम ग्रन्थावली, कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० २१८।
४. हिन्दीभाषा और साहित्य का विकास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वि० सं०, पृ० ३५८।
५. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य' प्र० सं०, पृ० ३११।

परिचय

मतिराम के वंशपरिचय के सम्बन्ध में जो उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है, बाद के अधिकांश विद्वानों ने उसी आधार पर इनका वंश परिचय दिया है। मतिराम ने स्वयं अपने वंश परिचय के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। परम्परा से मतिराम, भूषण, चिन्तामणि और जटाशंकर अथवा नीलकंठ परस्पर सहोदर और पं० रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र प्रसिद्ध हैं जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण तिकवांपुर गांव (जिला कानपुर) के निवासी थे। पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि 'शिवसिंह सरोज' में मतिराम को चार भाई माना गया है, जिसके आधार पर मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णविहारी मिश्र, तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि जिन विद्वानों ने इन्हें परस्पर भाई माना है उन सब ने एक स्वर से रत्नाकर त्रिपाठी को त्रिपाठी बन्धुओं का पिता कहा है। रत्नाकर त्रिपाठी का पिता होना तथा उनका कान्यकुब्ज कश्यप गोत्रीय त्रिपाठी अथवा तिकवांपुर का निवासी आदि होना महाकवि 'भूषण' के एक दोहे से प्रमाणित होता है—

'दुज कनौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत धीर,
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि-तनूजा-तीर।' (शिवराज भूषण)

उपरोक्त दोहे में स्पष्टरूप से भूषण ने अपने को कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण रत्नाकर का पुत्र स्वीकार कर लिया है। इसी दोहे के आधार पर कहा जा सकता है कि मतिराम 'भूषण' के सगे भाई होने के नाते रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे।

'भूषण' के उपरोक्त वंश परिचय सम्बन्धी दोहे का पाठान्तर प्रस्तुत करके विश्वनाथ मिश्र ने 'रत्नाकर' के स्थान पर 'रतिनाथ' को 'भूषण' का पिता कहा है और अन्त में यह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है कि हो सकता है 'रत्नाकर' और 'रतिनाथ' में एक नाम उपनाम हो। यह दोहा उन्हें 'काशिराज' के सं० १८१८ वाली प्रति में मिला है—

'द्विज कनौज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा जमुना कंठ सुठार।'

'इस दोहे के अनुसार इनके पिता का नाम रतिनाथ था। मतिराम के पिता का नाम भी रतिनाथ था, ऐसा मतिराम के वंशजों के परिचय से पता चलता है[1]।' इसके समर्थन में विश्वनाथजी ने मतिराम के वंशज शिवसहाय तिवारी आदि द्वारा लिखित उनके वंशपरिचय को उद्धृत किया है[2]।' ये लोग मथुरा की तीर्थ यात्रा करने गये थे और

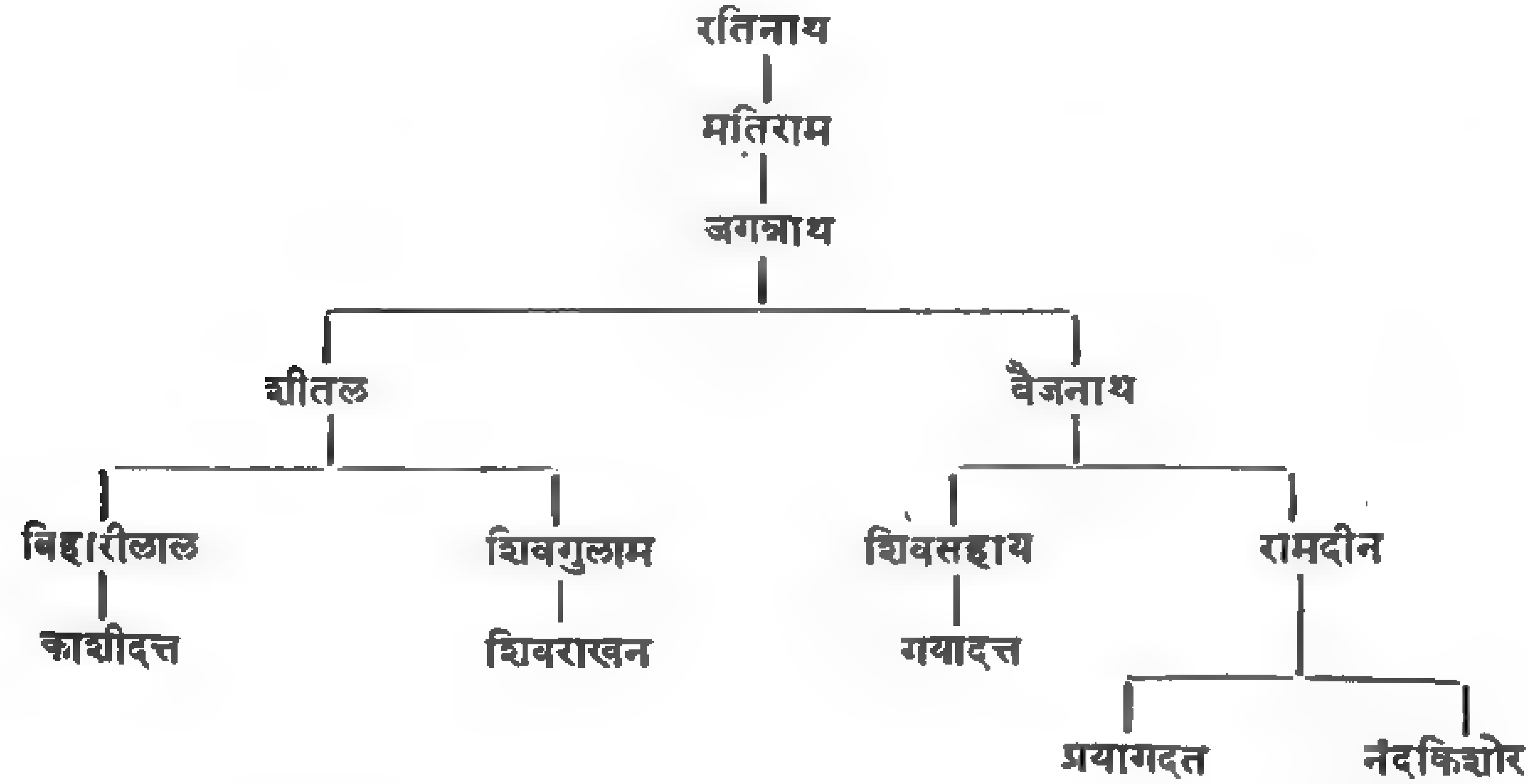
---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'भूषण' प्र० सं०, पृ० ९६।

२. 'शिवसहाय, श्री भाई बिहारीलाल तथा शिवगुलाम तथा रामदीन। बैजनाथ के बेटा दुइ, शिवसहाय व रामदीन, सीतल जू के बेटा दुइ, बिहारीलाल व शिवगुलाम। जगन्नाथ के नाती, मतिराम कवि के पंती, रतिनाथ के परपंती। शिवसहाय के बेटा गयादत्त, रामदीन के बेटा दुइ प्रागदत्त व नन्दकिशोर, बिहारीलाल के बेटा काशीदत्त, शिवगुलाम के बेटा शिवराखन तिवारी गूदर पुर के मुलवास तिकवाँपुर—परा बीरबलक अकबरपुर, म० गदरपुर पट्टी [illegible]। सं० १८६९ भादो सु० ८।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'भूषण' प्र० सं०, पृ० ९७।

प्रथानुसार उन्होंने चौबों की बही (कन्हैयालाल छगनलाल, मानिक चौक-मथुरा—कनौजियों के मुडे) में अपना वंशपरिचय अपने ही हाथों लिखा है। जिसके परिचय की प्रतिलिपि विश्वनाथजी को पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदी द्वारा प्राप्त हुई है। इस आधार पर उन्होंने मतिराम का वंश वृक्ष बनाया है :—



उपरोक्त वंश के बिहारीलाल बड़े अच्छे काव्य मर्मज्ञ हुए हैं। जिन्होंने प्रसिद्ध विक्रम-सतसई पर 'रसचन्द्रिका' नाम से टीका की है। बिहारीलाल ने जो अपना वंशवृक्ष दिया है वह उपरोक्त वंशवृक्ष से मेल खा जाता है—

'बसत त्रिविक्रमपुर नगर, कालिंदी के तीर।
बिरच्यो भूप हमीर जनु, मध्यदेस को हीर॥
भूषन चिंतामनि तहाँ कवि भूषन मतिराम।
नृप हमीर सनमान तें कीन्हें निज निज धाम॥
है पंती मतिराम के, सुकवि बिहारीलाल।
जगन्नाथ नाती विदित, सीतल-सुत सुमचाल॥
कस्यप बंस कनौजिया, विदित त्रिपाठी गोत।
कबिराजन के बृंद में, कोबिद सुमति उदोत॥' (रसचन्द्रिका)

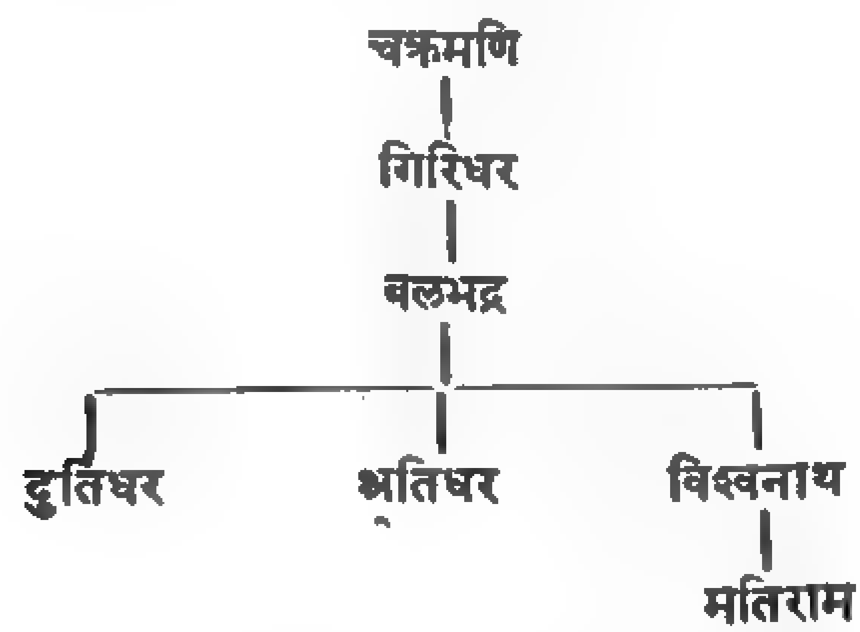
रसचन्द्रिकाकार को ही यदि हम रतिनाथ के वंश का मान लें तो भी कई बातें साफ नहीं होतीं। प्रथम तो शिवसहाय आदि द्वारा लिखित वंश-परिचय में चिन्तामणि और भूषण ऐसे प्रसिद्ध कवियों का नाम नहीं आया है और न तो बिहारीलाल के वंश परिचय में मतिराम के पिता का नाम दिया है। इसके अतिरिक्त भी यह अस्पष्ट ही रह जाता है कि भूषण, मतिराम तथा चिंतामणि परस्पर भाई थे अथवा नहीं। इसकी चर्चा आगे की जायेगी। प्रतिलिपियों में पाठान्तर मिलने के कारण प्रतिलिपिकार हैं। यदि उपनाम वाली

विश्वनाथ जी की कल्पना मान लें[1] तो भी रत्नाकर त्रिपाठी को ही मतिराम का पिता कहना उचित जान पड़ता है क्योंकि प्रचलित प्रमाणिक नाम रत्नाकर ही रहा होगा और यदि 'रति-नाथ' नाम रहा होगा भी तो घर का बुलाने वाला नाम रहा होगा क्योंकि यह नाम पंडो की बही में है जो धर्मभीरु इनके वंशजों का लिखा हुआ है। घर या परिवार में लोग पुकारने वाले नाम से ही परिचित रहते हैं।

भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने 'मतिराम को' विश्वनाथ का पुत्र कहा है जिसके लिए उन्होंने 'वृत्त कौमुदी' नामक पुस्तक से मतिराम कविकृति वंश परिचय उद्धृत किया है—

तिरपाठी बनपुर बसैं, वत्सगोत्र सुठि गेह।
विबुध चक्रमणि पुत्र तहँ, गिरिधर गिरिधर देह॥
भूमिदेव बलभद्र हुअ, नितहिं तनुज मुनि-गान।
मंडित पंडित-मंडली, मंडन मही महान॥
तिनके तनय उदार मति, विस्वनाथ हुअ नाम।
दुतिधर श्रुतिधर कौ अनुज, सकल गुननि कौ धाम॥
तासु पुत्र मतिराम कबि, निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को, बरन्यो सुजस अपार॥ (वृत्तकौमुदी)

अतः वंशवृक्ष इस प्रकार होगा—



इस वंशवृक्ष को प्रामाणिक मानकर विश्वनाथ को मतिराम का पिता इसलिये नहीं माना जा सकता कि पुस्तक अनेक दृष्टियों से अप्रामाणिक है जो भूषण तथा चिन्तामणि के भाई मतिराम की कभी भी लिखी नहीं हो सकती, जिसकी चर्चा आगे विस्तार-पूर्वक की जायगी। किसी भी प्राप्त सामग्री से इस पुस्तक के वंशपरिचय का मेल नहीं खाता। अतः जब तक और कोई प्रामाणिक ग्रन्थ न मिल जाय, रत्नाकर त्रिपाठी को ही मतिराम का सौभाग्यशाली पिता मानना चाहिये।

---

१. रतिनाथ और रत्नाकर। हस्तलेखों में पाठ ही भिन्न हैं और यह संभावना नहीं है कि 'रतिनाथ' का स्थानापन्न 'रत्नाकर' पद हो सके या इसका विपर्यास। अतः दोनों के सम्बन्ध में यह कल्पना की जा सकती है कि एक नाम और दूसरा उपनाम। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूषण, प्र० सं०, पृ० १०५।

जन्म तथा कविताकाल

मतिराम के जन्म तथा कविता काल के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्रियों की संगति अथवा असंगति की विवेचना करने के पूर्व आवश्यक जान पड़ता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा दी हुई तिथियों की तालिका प्रस्तुत की जाय जिससे आगे विवेचना करते समय समझने में विशेष सुविधा होगी।

लेखक	ग्रन्थ	संस्करण तथा पृष्ठ	जन्मतिथि
शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज	चौ० सं०, पृ० ४३२	सं० १७३८ में उ०
सर जार्ज ग्रियर्सन	हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	अनु० किशोरीलाल गुप्त प्र० सं०, पृ० १५७	१६५०-१६८२ के लगभग उपस्थित
नकछेद तिवारी	कविकीर्ति कलानिधि	प्र० सं०, पृ० १६	सं० १७३८
मिश्रबन्धु	सं० हिन्दीनवरत्न	च० सं०, पृ० १७७	सं० १६९६–१७७३
मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धुविनोद द्वि० भा०	द्वि० सं०, पृ० ४४४	सं० १६७४ के लगभग अनुमान से।
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दीसाहित्य का इतिहास	सं० २००३ वि० सं०, पृ० २५२	सं० १६७४
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य	प्र० सं०, पृ० ३१३	सन् १६१३ ई० पूर्व भूषण से उमर में बड़े।
कृष्णबिहारी मिश्र	मतिराम ग्रन्थावली	तृ० सं०, पृ० २३०	सं० १६६० के आसपास
याज्ञिक बन्धु (मयाशंकर याज्ञिक, जीवनशंकर याज्ञिक, भवानीशंकर याज्ञिक)	माधुरी पत्रिका	९ जुलाई १९२४ ई०	सं० १६६४ के लगभग
नागरीप्रचारिणी सभा	खोज रिपोर्ट पृ० १४४ (सन् १९१२–१३–१४)	पृ० ७३८	सन् १६१७ ई०

उपरोक्त विवरण से महाकवि मतिराम के जन्मकाल के सम्बन्ध में मिलने वाले मतभेदों का अनुमान लगाया जा सकता है। शिवसिंह सरोज में जन्मकाल न देकर उपस्थित काल दिया गया है जिसे नकछेद तिवारी ने जन्मकाल मान लिया है और जार्ज ग्रियर्सन ने उपस्थित काल दिया है। रामचन्द्र शुक्ल का आधार मिश्रबन्धु विनोद है और मिश्रबन्धुओं ने मतिराम का जन्मकाल अनुमान कर लिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल यह कहकर कि मतिराम भूषण से उमर में बड़े थे इस विवाद को टाल दिया है। द्विवेदी जी का 'हिन्दी साहित्य' सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ जबकि कृष्णबिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रन्थावली' निकल चुकी थी जिसमें मतिराम का जन्म सम्वत् १६६० के लगभग माना गया है जिससे ये महाकवि भूषण से उमर में बड़े ठहरते हैं। इसके अतिरिक्त मयाशंकर याज्ञिक तथा उनके बन्धुओं ने ९ जुलाई, १९२४ ई० की माधुरी पत्रिका में एक संयुक्त लेख 'मतिराम और भूषण' नाम से लिखा जिसमें उन लोगों ने त्रिपाठी बन्धुओं (चिन्तामणि, मतिराम 'भूषण' तथा जटाशंकर या नीलकंठ) के जीवन तथा वंश परिचय पर गम्भीर एवं खोजपूर्णविचार

किया है। यह लेख बा० श्यामसुन्दरदास जी के एक लेख की प्रतिक्रिया में लिखा गया है जिसे याज्ञिक बन्धुओं ने स्वीकार किया है। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक पुस्तक का बाबू श्यामसुन्दर दास ने सम्पादन किया है जिसकी भूमिका में उन्होंने ने पण्डित भागीरथ प्रसाद दीक्षित का लिखा हुआ एकमत उद्धृत किया है और उसके प्रति किसी अंश तक आस्था भी प्रकट की है जिसमें त्रिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में प्रचलित बातों पर प्रश्नवाची चिन्ह लगाये गये हैं जिसकी चर्चा आगे की जायगी। याज्ञिक जी ने उठाई गयी भ्रान्तियों का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है जिसमें उन्होंने 'भूषण' का जन्म संवत् १६७४ के लगभग माना है। उन्होंने लिखा है कि 'इसके विरुद्ध अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। हमने सुदृढ़ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भूषण संवत् १७१४ से पहले कविता करते थे और उनका जन्म संवत् १७३८ नहीं, १६७४ के लगभग है[१]।' इसके अतिरिक्त 'याज्ञिक' जी ने मतिराम का जन्मकाल संवत् १६६४ के लगभग स्वीकार किया है जिससे ये 'भूषण' से उमर में बड़े हुए। इस लेख का प्रभाव 'मतिराम ग्रन्थावलीकार' पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पर भी अवश्य पड़ा है और ये दोनों मत 'हिन्दी साहित्य' कार डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्मुख थे, जिससे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्यकारों के मतों के प्रतिकूल 'मतिराम' को उमर में 'भूषण' से बड़ा स्वीकार कर लिया है। प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकों की प्रामाणिकता भी जब तक असंदिग्ध न हो जाय तब तक उनमें उल्लिखित तिथियों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में मतिराम की रचनाओं में आये उनके आश्रयदाताओं के ऐतिहासिक तथ्यों का ही आधार बच रहता है जिनकी सहायता से महाकवि मतिराम के जन्म तथा कविताकाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

'फूल-मंजरी' नामक एक छोटी सी पुस्तक 'मतिराम' की रची बतलाई जाती है जिसका उल्लेख कृष्णबिहारी मिश्र ने भी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में किया है[२]। जो मयाशंकर जी याज्ञिक को भरतपुर-राज्य में मिली है[३]। इस पुस्तक के आधार पर विद्वानों ने कवि के कविताकाल तथा जन्मकाल का अनुमान लगाना चाहा है। 'हिन्दी नवरत्न' लिखते समय यह पुस्तक मिश्रबन्धुओं के सम्मुख नहीं आ पाई थी क्योंकि यह याज्ञिक बन्धुओं द्वारा बाद में प्रकाश में लाई गयी। यही कारण है कि उन्होंने 'मिश्रबन्धुविनोद' से २२ वर्ष बाद जन्मकाल अनुमान से माना है और 'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रकाशन तक 'फूल-मंजरी' का अस्तित्व हिन्दी साहित्य के सम्मुख प्रकट हो चुका था। 'फूल-मंजरी' का अस्तित्व हिन्दी साहित्य के सम्मुख प्रकट हो चुका था। फूल मंजरी के अन्तिम दोहे से विदित होता है कि यह पुस्तक बादशाह जहाँगीर की प्रेरणा से बनाई गई थी—

> 'हुकुम पाय जहँगीर को, नगर आगरे धाम,
> फूलन की माला करी, मति सो कवि मतिराम।'

---

१. माधुरी पत्रिका (वर्ष २, खण्ड २, ९ जुलाई १९२४ ई०)।

२. मतिराम ग्रन्थावली, पृ० सं०, पृ० २२८।

३. माधुरी पत्रिका ९ जुलाई १९२४, पृ० सं० ७१७।

उपरोक्त ग्रन्थ में साठ दोहे हैं जिसका प्रत्येक दोहा एक-एक फूल के नाम पर है, जिसमें उस फूल के साथ नायिका का या तत्सम्बन्धी वर्णन है। जहाँगीर की मृत्यु संवत् १६८३-८४ में हुई थी। इससे यह स्वीकार करना होगा कि यह रचना संवत् १६८४ के पूर्व की है। याज्ञिक जी के अनुसार यह ग्रन्थ इतना साधारण है कि कवि की आरम्भिक रचना जान पड़ती है, जिस आधार पर उन्होंने उस समय कवि की अवस्था कम से कम २०[1] वर्ष की अनुमान से मानी है। इस प्रकार मतिराम का जन्म लगभग संवत् १६६४ या पूर्व ठहरता है। कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है कि काव्यरचना की एक विशेष आयु होती है जिसका आरम्भ न तो उससे पूर्व हो सकता है और न तो उसके बाद कविता करने की शक्ति रह जाती है। इसी आधार पर लोगों ने 'फूलमंजरी' के आधार पर अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने जिस 'वृत्तकौमुदी' का पता दिया था उसका रचनाकाल सम्वत् १७५८ है। यदि मतिराम का जन्म सं० १६६२ या १६६४ मान लें तो 'वृत्तकौमुदी' की रचना के समय कवि की अवस्था ९८ अथवा ९४ वर्ष की हो जाती है। ९० या उससे ऊपर की अवस्था में काव्य-रचना की सामर्थ्य नहीं रह पाती ऐसा बहुधा विद्वानों का मत है। अस्तु, जो वृत्तकौमुदी को 'मतिराम' की रचना मानते हैं वे मतिराम की जन्म-तिथि १६६०–१६६४ से बहुत आगे खींच ले जाते हैं। दूसरी ओर याज्ञिक जी और कृष्ण-बिहारी मिश्र वृत्तकौमुदी को मतिराम की रचना स्वीकार नहीं करते और फूलमंजरी को उनकी प्रामाणिक रचना मानकर मतिराम की जन्मतिथि सं० १६६० और १६६४ मानते हैं। मिश्रबन्धु न तो फूलमंजरी को मतिराम की रचना मानते हैं न तो वृत्तकौमुदी को ही। इसी कारण उन्होंने मतिराम का जन्मकाल सं० १६७४ और १६९६ स्वीकार किया है।

फूलमंजरी का आरम्भ आगरे में अवश्य ही किसी विशेष अवसर पर हुआ होगा, जिसे अनुमान से कृष्णविहारी मिश्र ने जहाँगीर के शासन-काल का १६वाँ जुलूसी वर्ष माना है, जिसे जहाँगीर ने बड़ी धूमधाम से मनाया था और उत्सव की जिन शृंगारसामग्रियों की चर्चा जहाँगीर नामा में मिलती है उनमें 'नूरअफशां बाग'[2] की भी चर्चा है। हो सकता है बादशाहीमन पुष्पों के सौंदर्य पर लट्टू होकर कवि 'मतिराम' को काव्य-रचना के लिये प्रेरित कर बैठा हो और 'फूलमंजरी' की रचना इसी समय हुई हो तथा पुस्तक में जिन फूलों का वर्णन आया है वे इसी 'नूरअफशाँ बाग' के हों। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि महाकवि 'मतिराम' का जन्मकाल सं०१६६० के पूर्व नहीं हो सकता क्योंकि १८ वर्ष से कम वय के व्यक्ति का काव्यपुस्तक लिख डालना सम्भव नहीं जँचता।

---

१. 'माधुरी पत्रिका', ९ जु०, १९२७, पृ० सं० ७३७।

२. बुधवार को बेगम के साथ नाव में बैठकर हम नूरअफशाँ बाग में गये और रात्रि में वहीं रहे। यह बाग नूरजहाँ बेगम के अधिकार में था इसलिये गुरुवार ४थी को उसने शाही जलसा किया और भारी भेंट उपस्थित की। भेंट किये हुए रत्नों, जड़ाऊ आभूषणों तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं में से हमने एक लाख रुपये मूल्य की वस्तुएँ पसन्द कर स्वीकृत कीं।

(जहाँगीरनामा—सोलहवाँ जलूसी वर्ष, पृ० ७१०, अनुवादक ब्रजरत्नदास, प्र० सं०)।

'रसराज' को छोड़कर क्योंकि इसमें रचनाकाल नहीं दिया गया है। शेष जिन किसी पुस्तकों में रचनाकाल मिलता है वे इसके बाद की हैं। 'वृत्तकौमुदी' ऐसी रचना है जिसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसे 'मतिराम' ने लिखा था जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यदि उसे भी 'फूलमंजरीकार' की रचना मान लें तो इसकी रचना कवि ने ९४-९५ वर्ष की उमर हो जाने के पश्चात् कि जिसे 'भूषण' के सम्बन्ध में 'वृत्तकौमुदी' के समर्थक पण्डित भागीरथ प्रसाद दीक्षित स्वयं असम्भव मानते हैं कि ९० वर्ष के बाद उत्तम रचना की जा सके[1]। यदि भूषण ९० वर्ष तक ओजस्विनी कविता नहीं लिख सकते तो 'मतिराम' कैसे उत्तम कविता लिख सकते हैं।

'मतिराम' का कविता-काल निश्चित करने में 'वृत्तकौमुदी' किसी भी दृष्टि से सहायक नहीं हो सकती। 'फूलमंजरी' की रचना जहाँगीर के १६ वें जलूसी वर्ष पर या उसके पश्चात् हुई होगी जो सम्वत् १६७८ अर्थात् सन् १६२१ ई० में मनाया गया था। जिससे इनका कविताकाल सन् १६२१ ई० के पश्चात् ही मानना चाहिये। अतः इनका जन्म सम्वत् १६६० और सम्वत् १६६४ के बीच अथवा सन् १६०५ ई० के लगभग हो सकता है।

'महाकवि मतिराम' की कृतियों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि इन महाकवि को दीर्घआयु मिली थी और बहुत दिनों तक ये अपने काव्य-रत्नों से हिन्दी काव्य का कोष भरते रहे। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में मतिराम का परलोकवास अनुमान से सं० १७७३ माना है[2]। इस प्रकार ये १०९ वर्ष के होकर परलोकवासी हुए। १०९ वर्ष की उमर पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु मिश्रबन्धुओं ने जिस आधार को मानकर इनका रचनाकाल संवत् १७१० और मृत्युकाल संवत् १७७३ मान लिया है वह किसी भी प्रकार दृढ़ नहीं जान पड़ता। 'रसराज' को 'ललितललाम' के बाद की रचना मानकर मिश्रबन्धुओं ने इनके मृत्युकाल को आगे बढ़ा दिया है किन्तु 'रसराज' की रचना 'ललितललाम' के बाद की नहीं बल्कि पहले की जान पड़ती है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इसी प्रकार 'मतिराम सतसई' के सम्बन्ध में भी लोगों का कहना है कि यह सब ग्रन्थों के बाद बनी किन्तु इसमें भी सत्यता का अंश नहीं है। 'मतिराम सतसई' के दोहों की रचना एक साथ नहीं हुई होगी, वे दोहे विभिन्न समय की रचनायें हैं जिनमें से अधिकांश युवाकाल में रचे जान पड़ते हैं। 'राव भाऊ सिंह' का स्वर्गवास संवत् १७४५ में हो गया जिनके लिये 'ललितललाम' की रचना हुई थी और इसके पश्चात् 'मतिराम' के बूँदी राज्य में रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस राजाश्रय के समाप्त हो जाने के पश्चात् उन्होंने अलंकार पंचाशिका को छोड़कर फुटकल दोहे भले ही लिखे हों जो 'मतिराम सतसई' में

---

१. दीक्षितजी ने स्वयं ही भूषण के विषय में लिखा है। भूषण को महाराज शिवाजी के दरबार का राजकवि मानने से उनका कविताकाल ९० वर्ष से अधिक ठहरता है। परन्तु इतने समय तक कविता करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

—माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई, १९२४, पृ० सं० ७३७-३८।

२. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४४।

जोड़ दिये गये हों किन्तु किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण नहीं मिलता। जिससे संवत् १७७३ तक निष्क्रिय रहकर जीने की बात नहीं जँचती। उनकी मृत्यु ८ या १० वर्ष बाद अवश्य हो गई होगी जिसे संवत् १७६० अथवा सन् १७०३ ई० के बाद का न होना चाहिये।

'अलंकार पंचाशिका' ही उनका एक ऐसा ग्रन्थ जान पड़ता है जिसे सबसे बाद की रचना कही जा सकती है। कवि ने इसे कुमायूँ के राजा उद्योतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिये लिखा था। उद्योतचन्द का राज्यकाल सन् १६७८ से सन् १६९८ तक अथवा सं० १७३५ से सं० १७५५ तक माना जाता है।[1] इस बीच मतिराम का कुमायूँ के राजाश्रय में रहना एक प्रकार से निश्चित है। ऐसा भी माना जाता है कि मतिराम सतारा गढ़ साहू महाराज के राजकवि थे और वहीं से कुमायूँ आये। इस प्रसंग में उन्हें मतिराम नहीं बल्कि मनिराम नाम से सम्बोधित किया गया है। इसकी चर्चा आगे की जायगी कि ये मनिराम नहीं बल्कि 'महाकवि मतिराम' ही हैं जो भ्रमण करते सतारागढ़ से कुमायूँ पहुँचे हैं। हो सकता है कि सं० १७४५ के पश्चात् राव भाऊ सिंह के स्वर्गवासी हो जाने पर मतिराम बूँदी से सतारगढ़ चले आये हों जहाँ भूषण के रहने का उल्लेख मिलता ही है और वहीं से कुछ दिनों बाद राजा उद्योतचन्द के आश्रय में आये। 'अलंकार पंचाशिका' ज्ञानचंद को अलंकारों की शिक्षा देने के लिए ही बनी अथवा उसे कवि ने ज्ञानचन्द के सम्मानार्थ लिखा कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। दोनों ही परिस्थितियों में वह ज्ञानचंद के राजा होने के पूर्व बनी होगी ऐसा जान पड़ता है क्योंकि पिता के शासन-काल में ही वे यशस्वी हो गये थे जिसकी विस्तार पूर्वक चर्चा अलंकार पंचाशिका की प्रामाणिकता के प्रसंग में की जायगी। अतः सं० १७५५ तक अलंकार पंचाशिका निर्माण हो चुका था जिसके बाद की कोई ऐसी सामग्री नहीं मिलती जिसके आधार पर उनकी मृत्यु-तिथि का अनुमान लगाया जा सके। मतिराम के जीवित रहने की तिथि को अधिक से अधिक सं० १९५५ तक ले जाया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि ये महाकवि ९२ वर्ष तक जीवित रहे। अतः ९२ वर्ष से अधिक आयु मतिराम को मिली होगी, स्वीकार करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

महाकवि मतिराम के सहोदर

इधर कुछ दिनों से ऐसा भी कहा जाने लगा है कि चिन्तामणि, भूषण, मतिराम तथा जगशंकर परस्पर भाई नहीं थे। जिसका संकेत हमें शुक्ल जी के इतिहास में भी मिल जाता है। यद्यपि उन्होंने चिंतामणि और मतिराम के सहोदर होने पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं प्रकट किया है जिससे उनके कथन के आधार पर अन्य भाई भूषण के सम्बन्ध में ही विवाद जान पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि 'कुछ दिनों से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न॰ शिवाजी के दरबार में थे।'[2] चिंतामणि,

1. 'कहते हैं कि सतारा गढ़ साहू महाराज के राजकवि मनिराम राजा के पास अल्मोड़े में आये थे। उन्होंने राजा की प्रशंसा में यह कवित्त बनाकर राजा को सुनाया। राजा ने १०,०००) तथा एक हाथी इनाम में दिये।

कुमायूँ का इतिहास, बद्रीदत्त पांडे, प्र० सं०, पृ० ३०२।

2. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० २००३ वि०, पृ० २४२।

भूषण, मतिराम और जटाशंकर या नीलकण्ठ को परस्पर भाई न मानने वालों में भागीरथ प्रसाद दीक्षित का नाम प्रमुख है। उन्होंने कहा है कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को भ्रम 'शिवसिंह सरोज' के कारण हुआ है। किन्तु शिवसिंह सरोज से पूर्व के रचे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनसे कम से कम इतना तो मिल ही जाता है कि चिंतामणि और मतिराम सहोदर थे।

त्रिपाठी बन्धुओं के सहोदर न होने की जो बात उठाई गयी है उसके मूल में उनके जन्म तथा रचनाकाल सम्बन्धी प्राप्त तिथियों का अनिश्चित होना ही है। प्राप्त तथ्यों के प्रति सन्देह प्रकट किये जाने के कारण ही उनके परस्पर छोटे तथा बड़े होने के सम्बन्ध में विभिन्न मत सामने आये हैं। चिंतामणि के पश्चात् भूषण तत्पश्चात् मतिराम और जटाशंकर का सबसे छोटा होना परम्परासिद्ध है। इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों ने चिन्तामणि के पश्चात् मतिराम का होना स्वीकार किया है। ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने 'भूषण' को सबसे बड़ा और चिंतामणि को सबसे छोटा माना है जिनकी विवरण सूची सुविधा के लिये नीचे प्रस्तुत की जा रही है। कुछ तत्कालीन प्राचीन ग्रन्थों के प्राप्त हो जाने के कारण इस निर्णय पर भी पहुँचा गया है कि नीलकंठ या जटाशंकर त्रिपाठी बन्धुओं में से नहीं थे।

परस्पर भाई का न होना—

पं० भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित (वृत्तकौमुदी के आधार पर)

जटाशंकर या नीलकंठ भाई नहीं थे—

सूर्यमल्ल—(वंशभास्कर)

लज्जाराम मेहता—(पराक्रमी हाड़ाराव)

मुंशी देवीप्रसाद जो—मुंसिफ जोधपुर

बिहारीलाल जी—(रसचंद्रिका टीका)

गुलामअली (तज़किरा सर्व आजाद हिन्द)

पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका।

याज्ञिक बन्धु, माधुरी पत्रिका ९ जुलाई, १९२४ ई०।

(मयाशंकर याज्ञिक), (जीवनशंकर याज्ञिक), (भवानीशंकर याज्ञिक)।

जटाशंकर मतिराम के भाई थे अथवा नहीं तथा उनके अन्य भाइयों के परस्पर बड़े-छोटे होने आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं जिन्हें हम उनके दिये हुए क्रम के अनुसार देते हैं—

१—सूर्यमल्ल (वंशभास्कर)
भूषण, मतिराम, चिंतामणि

२—लज्जाराम मेहता (पराक्रमी हाड़ाराव)
भूषण, मतिराम, चिंतामणि

३—मुंशी देवीप्रसादजी (मुंसिफ़)
भूषण, मतिराम, चिंतामणि

४—हरिदान (रसराज की टीका, मनोहर प्रकाश, सं० १९५२ का छाप)
चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जटाशंकर

५—शिवसिंह (शिवसिंह सरोज)
चिंतामणि , भूषण, मतिराम, जटाशंकर ।
६—पं० नन्दकुमार देव शर्मा (वीर केशरी शिवाजी)
चिंतामणि, भूषण, मतिराम
७—पं० रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास)
चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जटाशंकर
८—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र (मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका)
चिंतामणि, मतिराम, भूषण
९—याज्ञिक बन्धु (मयाशंकर याज्ञिक, जीवनशंकर याज्ञिक, भवानीशंकर याज्ञिक), माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई, १९२४ ई० ।
१०—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य)
चिंतामणि, मतिराम, भूषण, जटाशंकर ।
११—नागरी प्रचारिणी सभा (खोज रिपोर्ट—१९००)
मतिराम के तीन भाई चिंतामणि, भूषण और जटाशंकर उपनाम नीलकंठ थे ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ विद्वानों ने जटाशंकर या नीलकंठ को मतिराम का भाई माना ही नहीं है, कुछ ने मतिराम को सब भाइयों से बड़ा तथा चिन्तामणि को सबसे छोटा स्वीकार किया है और कुछ ने उन्हें चिन्तामणि से छोटा और भूषण से बड़ा माना है। इसके अतिरिक्त प्रचलित परम्परा के आधार पर जैसा कि कई विद्वानों ने स्वीकार किया है चिन्तामणि तथा भूषण के बाद मतिराम का नम्बर आता है। प्रायः ऐसा मिलता है कि जिन विद्वानों ने चिन्तामणि, मतिराम, भूषण तथा जटाशंकर चारों को परस्पर सहोदर स्वीकार किया है उन सभों ने चिन्तामणि को चारों में बड़ा अवश्य स्वीकार किया है। इस स्वीकार का आधार और मुख्य कारण शिवसिंह का 'शिवसिंह सरोज' है जिसमें उन्होंने 'मतिराम' के अन्य तीन यशस्वी सहोदर तथा उनमें चिन्तामणि को सबसे बड़ा स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों में जो मतिराम और भूषण के परस्पर सम्बन्धों में मतभेद मिलते हैं, वे नवीनतम खोजों के अर्द्ध प्रभाव के कारण ही।

'शिवसिंह सरोज' में 'बिहारीलाल'[2] नामक एक कवि का सरोजकार ने उल्लेख

1. 'The famous poet Mati Rama who attended, the Court of Aurangzeb He had three brothers viz. Chintamani, Bhushan and Jata Shanker alias Nilkantha.
(Annual Report and the Search for Hindi manuscripts for the year 1900 by S. S. Das).

२. '२ लाल कवि २ बिहारी लाल त्रिपाठी, टिकमापुर वाले, सं० १८८५ । ये कवि मतिराम वंशी कवि बड़े भारी कवि थे। इस कुल में कविता इन्हीं तक रही। पीछे जो रामदीन, सीतल इत्यादि हुए, वे सामान्य कवि थे।'
शिवसिंह सरोज, पृ० ४९२, सं० तृतीय ।

किया है, जिसे वे 'मतिराम' के वंश का बताते हैं। 'शिवसिंह जी' ने बिहारीलाल जी का जन्म सं० १८८५ माना है जो नवीन सामग्रियों के प्राप्त हो जाने के कारण गलत प्रमाणित हो गया है। पण्डित कृष्णबिहारी जी मिश्र को इस सम्बन्ध में एक उद्धरण[1] संवत् १९७९ के 'कवि' नामक मासिक पत्रिका के तृतीय वर्ष की ज्येष्ठ वाली तृतीय संख्या में मिला है, जिसे उन्होंने 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में उद्धृत किया है। इस उद्धरण द्वारा 'मतिराम के वंश परिचय' के सम्बन्ध में कुछ बातें प्रकाश में आई हैं। यह उद्धरण मूलरूप में विक्रम सतसई नामक, चरखारी के महाराज द्वारा रचित पुस्तक का है जिसकी 'बिहारीलाल' जी ने संवत् १८७२ में 'रसचन्द्रिका' नाम से टीका की थी। जिसके अनुसार 'मतिराम' जी के पुत्र का नाम जगन्नाथ, पौत्र का नाम शीतल और प्रपौत्र का बिहारीलाल था। किन्तु बिहारीलाल जी के छन्द से यह स्पष्ट नहीं होता कि भूषण, चिंतामणि और मतिराम सगे भाई थे। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि इन महाकवियों को कहीं से लाकर 'हम्मीर राजा' ने सम्मानपूर्वक बसाया था। इसे आधार मानकर पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने अनुमान लगाना चाहा है कि इन तीनों कवियों के घर अलग-अलग थे। ये भाई थे या नहीं, इस सम्बन्ध में बिहारीलाल भी कुछ नहीं कहते[2]। किन्तु इससे यह भी तो अनुमान लगाया जा सकता है कि इन तीनों भाइयों का यहाँ जन्म नहीं हुआ था बल्कि कहीं और हुआ था किन्तु इनके पिता इन्हें लेकर यहाँ चले आये थे और बस गये। जो हो इस छन्द द्वारा दो बातें तो स्पष्ट हो ही जाती हैं कि चिन्तामणि, भूषण और मतिराम एक साथ टिकवाँपुर में रहते थे तथा जटाशंकर नाम के कोई व्यक्ति इनके साथ नहीं थे।

कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जिसमें 'मतिराम' का टिकवाँपुर में रहना प्रमाणित नहीं होता। यही कारण है कि त्रिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में फैले मत-मतान्तरों को अत्यधिक बल मिल गया है। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी खोज रिपोर्ट में प्राप्त

१.
बसत त्रिविक्रमपुर नगर, कालिंदी के तीर।
बिरच्यो भूप हमीर जनु, मध्यदेस को हीर॥
भूषन चिंतामनि तहाँ, कवि भूषन मतिराम।
नृप हमीर सनमानते, कीन्हे निज-निज धाम॥
है पंसी मतिराम के, सुकवि बिहारीलाल।
जगन्नाथ नाती विदित, सीतल सुत सुभचाल॥
कस्यपवंश कनौजिया, विदित त्रिपाठी गोत।
कविराजन के वृंद में, कोविद सुमति उदोत॥
विविध भाँति सनमान करि, ल्याए चक्रि पहिपाल।
आये विक्रम की सभा, सुकवि बिहारीलाल॥

मतिराम ग्रन्थावली, पृ० सं० २२०, संस्करण तृतीय।

२. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, तृतीय संस्करण, पृ० सं० २२१।

मतिराम कृत 'रसराज' ग्रन्थ के विवरण में उन्हें ग्राम असनी[1] जिला फतेहपुर का निवासी माना गया है। इसके अतिरिक्त १९२३-२४-२५ की खोज रिपोर्ट में दिये गये मतिराम के 'ललित-ललाम' नामक पुस्तक का विवरण देते हुए उन्हें ग्राम बनपुरा[2] जिला कानपुर का निवासी माना गया है। पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने 'वृत्तकौमुदी' नामक एक ग्रन्थ को मतिराम की रचना मानकर यह निर्णय किया है कि मतिराम न तो चिंतामणि अथावा भूषण के भाई ही थे और न तो वे ग्राम टिकवांपुर (कानपुर) के निवासी ही थे। उन्होंने मतिराम को बनपुरा निवासी माना है और प्रमाण दिया है कि 'उनको असनी-निवासी पं० कन्हैया लाल भट्ट महापात्र के यहाँ, जो महाकवि नरहरि महापात्र के वंशज थे, 'वृत्तकौमुदी' नामक एक ग्रन्थ खोज में मिला है। यह ग्रन्थ मतिराम का रचा हुआ है। इसका निर्माण काल संवत् १७५८ वि० है। इस ग्रन्थ में मतिराम ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वह बनपुरा-निवासी वत्स्य गोत्रीय पं० चक्रमणि त्रिपाठी के पुत्ररत्न पं० गिरिधर के प्रपौत्र, पं० बलभद्र के पौत्र, पं० विश्वनाथ के पुत्र और पं० श्रुतिधर के भतीजे थे[3]।'

यदि हम 'वृत्तकौमुदी' को प्रामाणिक रचना मान लेते हैं तो बिहारी लाल द्वारा किया गया 'रसचन्द्रिका' में मतिराम वंश-परिचय से इसका मेल नहीं खाता। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि या तो मतिराम नाम के दो कवि हुए हैं जिनका एक दूसरे से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था, अथवा दोनों में से कोई न कोई एक सामग्री अप्रामाणिक अवश्य है। बिहारीलाल कृत 'विक्रमसतसई' की टीका 'रसचन्द्रिका' 'वृत्तकौमुदी' की अपेक्षा इसलिये अधिक विश्वसनीय है कि 'विक्रम सतसई' का उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि सभी ग्रन्थों में मिलता है। 'विक्रमसतसई' की टीका हुई थी इसके भी प्रमाण मिलते हैं। बिहारीलाल[4] कवि का उल्लेख शिवसिंह ने किया है। ऐसी स्थिति में सम्भव हो सकता है कि 'विक्रमसतसई' के टीकाकार 'बिहारीलाल' ही रहे हों और वह टीका 'रसचन्द्रिका' ही हो। जहाँ तक 'वृत्तकौमुदी' और उसके कवि का प्रश्न है दोनों ही इसलिए संदिग्ध जान पड़ते हैं कि उपरोक्त पुस्तक अभी तक पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित को छोड़कर अन्य किसी विद्वान के देखने में नहीं आई। पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका' में इसकी चर्चा की है और प्रयत्न करने पर भी उन्हें भागीरथ प्रसाद

---

१. "The famous poet Matirama...He had three brothers...They are Kanyakubja Brahmans (Tripathis) of the village Asani (District Fatehpur) Annual Report on the Search for Hindi Manuscripts for the year 1900 by S. S. Das.

२. No. 276 (b) Lalit Lalama by Matirama of Banapura (Cownpore)— The Twelth report on the Search of Hindi Manuscript for the year 1923-24-25.

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००१ वि. पृ० सं० ३२८।

४. शिवसिंह सरोज, पृ० सं० ४७४।

जी दीक्षित की वह पुस्तक नहीं मिली, जिसे उन्होंने असनी में ढूँढ निकाला है।[१] जब तक यह पुस्तक प्राप्त नहीं हो जाती तब तक तो हम यही कह सकते हैं कि यह सब दीक्षित जी की कल्पना की उपज है। और ऐसा भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने अर्थ और यशप्रशस्ति की इच्छा से जाली पुस्तक तैयार कर दी हो जो एक बार दीक्षित जी के सामने आकर पुनः न आ सकी हो। इसे आधार मानकर दीक्षित जी ने मतिराम के सम्बन्ध में जो मान्यतायें स्थापित की हैं उससे भी ऐसा लगता है कि या तो यह पुस्तक जाली है अथवा पुस्तक का रचयिता अन्य कोई 'मतिराम' है जिसका 'रसराज'-कार से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि हम 'वृत्तकौमुदी'-कार की बातों को प्रामाणिक मान लें तो भूषण और मतिराम सगे भाई नहीं हो सकते, क्योंकि महाकवि 'भूषण' ने अपने 'शिवराज भूषण' में अपने को त्रिविक्रम (तिकवापुर-कानपुर) निवासी कश्यप गोत्रीय पं० रत्नाकर का पुत्र लिखा है—

> 'दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुतधीर।
> बसततिविक्रम पुर सदा, तरनि तनूजा तीर[२] ॥२६॥ (शिवराज भूषण)

इस प्रकार 'भूषण' के गोत्र और पिता का नाम 'मतिराम' से भिन्न ठहरता है। इसके अतिरिक्त दीक्षित जी ने नीलकंठ (जटाशंकर) को भी 'भूषण' का सगा भाई नहीं माना है जिसके प्रमाण में उन्होंने पं० नन्दकुमार देव शर्मा के एक ग्रन्थ 'वीरकेशरी शिवाजी'[३] का नाम लिया है। दूसरा प्रमाण उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' में दिये गये त्रिपाठी बन्धुओं के कार्यकाल के आधार पर प्रस्तुत किया है[४]। दीक्षित जी का केवल यह प्रमाण

---

१. 'वृत्तकौमुदी' रसराज के रचयिता की ही बनाई है या नहीं, इस बात की भली-भाँति से छानबीन करने के लिए हमने सम्पूर्ण 'वृत्तकौमुदी' ग्रन्थ देखने का विचार किया, और इसलिये पं० भागीरथ प्रसाद जी से उसके मँगा देने की प्रार्थना की तथैव जहाँ उन्होंने ग्रन्थ के होने का पता दिया था, वहाँ को पत्र लिखे और दो आदमी भी भेजे, पर हमको ग्रन्थ न मिला। इतना ही नहीं हमारे भेजे हुए आदमियों ने तो हमें यह उत्तर दिया कि जिन महाशय के यहाँ उक्त ग्रन्थ बतलाया जाता है, उनका कहना है कि हमारे यहाँ ग्रन्थ नहीं है। दीक्षित जी का भी कहना है, अब ग्रन्थ नहीं मिल रहा है।

मतिराम ग्रन्थावली, तृतीय संस्करण, पृ० सं० २३५-३६।

२. भूषण ग्रन्थावली, चौथा संस्करण, पृ० सं० १०।
(सं० पं० रामनरेश त्रिपाठी)।

३. पं० नन्दकुमार देव शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'वीर केशरी शिवाजी' में चिंतामणि, भूषण और मतिराम, इन तीन ही भाइयों का वर्णन किया है।

४. 'मिश्रबन्धु विनोद' में वर्णित है कि नीलकंठ ने संवत् १६९८ में 'अमरेश विलास' रचा था, उस समय उनकी अवस्था २५–३० वर्ष से कम नहीं होगी। इस कारण उनका जन्म-संवत् १६७० के लगभग पड़ता है। भूषण यदि नीलकंठ के बड़े भाई

कि 'भूषण' १३० वर्ष तक जीवित रहकर ओजस्विनी कविता नहीं कर सकते थे, अधिक तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार उन्होंने 'भूषण' और 'चिन्तामणि' को भी परस्पर भाई नहीं स्वीकार किया है। इस प्रकार मतिराम, भूषण, चिन्तामणि और नीलकंठ को परस्पर भाई न स्वीकार करते हुए उन्होंने परम्परा से चली आती इस भ्रांति धारणा के मूल में ठा० शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' को माना है कि जिसके कारण बाद को हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इन्हें परस्पर सहोदर के रूप में स्वीकार कर लिया है। किन्तु कुछ ऐसी सामग्रियाँ उपलब्ध हो गई हैं जिससे यह प्रमाणित हो गया है कि 'शिवसिंह सरोज' की रचना हाने के पूर्व ही हिन्दी संसार में यह बात प्रचार पा गई थी कि 'चिंतामणि', 'मतिराम' और 'भूषण' परस्पर सहोदर हैं। जिससे कोई प्रबल कारण शेष नहीं रह पाता कि हम पं० भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित के तर्कों को सत्य रूप में स्वीकार कर लें।

दीक्षित जी के विचारों में कहीं भी स्थिरता नहीं प्रतीत होती। कहीं तो वे अपने मति की पुष्टि करने के लिये 'शिवसिंह सरोज' की बातों को स्वीकार कर लेते हैं जैसा कि उन्होंने 'भूषण' तथा 'चिन्तामणि' के सहोदर होने की बाधाओं[1] के लिये किया है और कहीं उसे भ्रांतिमूलक बताने लग जाते हैं।

पण्डित मयाशंकर याज्ञिक ने यह स्पष्ट करने के लिये कि 'सरोजकार' के पूर्व भी लोग चिन्तामणि, मतिराम और भूषण को परस्पर भाई मानते थे, दो ग्रन्थों[2] का उल्लेख

थे, तो उनका जन्म-संवत् १६६८ से ही होना चाहिये। भूषण का संवत् १७९७ में जीवित रहना 'दीक्षित' जी प्रमाण सिद्ध मानते हैं और लिखते हैं कि यह कभी संभव नहीं कि भूषण १३० वर्ष जीवित रहकर वैसी ओजस्विनी भाषा में कविता करते रहे हों, जैसी उन्होंने 'शिवराज भूषण' में की है।

(माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४, पृ० ७२५–२६)

१. दीक्षित जी ने भूषण और चिन्तामणि को भी परस्पर भाई नहीं माना है। कारण यह बतलाया है कि 'भूषण' का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १७३८ है, और 'मिश्रबन्धुओं' के अनुसार चिंतामणि का जन्म संवत् १६६६ में हुआ था। इस प्रकार दोनों भाइयों के जन्मकाल में ७० वर्ष का अन्तर होता है, जो सहोदर भाइयों में सम्भव नहीं है। (माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४, पृ० सं० ७२६)

२. हम 'शिवसिंह सरोज' से भी प्राचीन दो ग्रन्थों का प्रमाण पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं, जिससे विदित होगा कि शिवसिंह जी से बहुत पहले लोग चिन्तामणि, 'मतिराम' और 'भूषण' का परस्पर भाई होना जानते थे। पहला ग्रन्थ है बूँदी निवासी प्रसिद्ध विद्वान सूर्यमल्ल जी का बनाया हुआ 'वंश भास्कर।' यह ग्रन्थ संवत् १८९७ में अर्थात् 'शिवसिंह सरोज' के छपने से ४३ वर्ष पूर्व बना था। सूर्यमल्ल जी का स्वर्गवास शिवसिंह सरोज प्रकाशित होने के २३ वर्ष पहले हो गया था, 'वंश भास्कर' में नीलकण्ठ का नाम ही नहीं है। बड़ा भाई भूषण को, मध्य भाई मतिराम को और कनिष्ट भाई 'चिन्तामणि' को किया है। दूसरा ग्रन्थ है

किया है जो 'शिवसिंह सरोज' से बहुत पूर्व के हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वंशभास्कर' जिसकी रचना 'शिवसिंह सरोज' से ४३ वर्ष पूर्व हुई थी, के लेखक तथा 'तज करए सर्व आजाद' के लेखक 'मीर गुलाम अली' जिन्होंने अपनी रचना लगभग 'शिवसिंह सरोज' से १३२ वर्ष पूर्व की थी, को यह ज्ञात था कि 'चिन्तामणि', 'मतिराम' और 'भूषण' परस्पर भाई थे।

'शिवसिंह सरोज' को छोड़कर और कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे हम नीलकण्ठ (जटाशंकर) को 'चिन्तामणि', 'मतिराम' और 'भूषण' का भाई स्वीकार करें। 'शिवसिंह सरोज' के तथ्यों की प्रामाणिकता में अनेक प्रश्नवाची चिन्ह लगे हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज पत्रिका में जो 'नीलकण्ठ' को 'मतिराम' का भाई माना गया है उसके साथ भी सम्भव[१] शब्द लगा हुआ है जिससे लगता है कि उस समय भी इस पर एकमत नहीं हो पाया था इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर उन्हें 'मतिराम' का भाई मान लिया है उन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। 'चिन्तामणि' 'मतिराम' और 'भूषण' को परस्पर भाई न मानने का कोई प्रबल कारण नहीं सामने आ पाता और जब तक कोई और सबल प्रमाण न मिल जाय तब तक प्राप्त सामग्रियों के आधार पर 'नीलकण्ठ' या 'जटाशंकर' को 'मतिराम' का सहोदर स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये कवि कोई और ही थे जिन्होंने 'अमरेश विलास' रचा।

मतिराम सब भाइयों से अवस्था में बड़े थे ?

त्रिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में जन्मकाल सम्बन्धी जितनी नवीनतम सूचनायें प्राप्त हो सकी हैं, उन्हें यदि मान लें तो मतिराम के जन्मकाल के सम्बन्ध में मैंने जो अनुमान लगाया है उससे मतिराम अवस्था में अपने शेष भाइयों से बड़े ठहरते हैं। यद्यपि इसे अनुमान ही कह सकते हैं निश्चय नहीं। विद्वानों की स्थापनाओं में तथ्य से अधिक अनुमान को स्थान मिला है। मयाशंकर जी याज्ञिक ने कुछ ऐसी कविताओं को उद्धृत किया है कि जब तक उन्हें अप्रामाणिक नहीं सिद्ध कर दिया जाता तब तक उन्हें प्रामाणिक मानना ही

'मीरगुलाम अली' का 'तज किरए सर्व आजाद' जिसके बारे में स्वर्गीय मुंशी देवी प्रसाद ने हमारे पत्र के उत्तर (मार्च सन् १९२३) में इस प्रकार लिखा—'मतिराम' औरंगजेब के समय में थे। तज करए सर्व आजाद फारसी में, जो सन् ११६६ हिजरी का बना है, ऐसा लिखा है कि 'चिन्तामणि' 'कवित्त-विचार' का कर्ता कोड़े जहानाबाद का रहने वाला था। इसके दो भाई 'भूषण' और 'मतिराम' थे, जो अच्छे शायर थे। (माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४ ई०, पृ० ७२६)

१. No 1—Amareshvilasa—Translation of 108 Slokas of Amrusataka made by the poet Nilakantha in Vikrama Samvat 1698 (1641 A. D.) this Nilkantha was probably the brother of the great poet Chintamani, Bhushan and MatiRama.

—The annual Report on the Search for Hindi manuscripts for the year 1903—p. 5.

पड़ेगा। 'शिवसिंह सरोज' से पूर्व की रचना 'वंश भास्कर'[1] में भूषण को सबसे पहले स्थान दिया गया है, दूसरा स्थान 'मतिराम' को मिला है और अन्त में चिन्तमणि का नाम आता है। किन्तु इससे उनके अवस्था के सम्बन्ध में नहीं बल्कि प्रसिद्धि के सम्बन्ध में संकेत मिलता है। बाद की रचनाओं को हम इसलिये अत्यधिक महत्व नहीं दे रहे हैं क्योंकि उन रचनाओं की अनुमान भूमि 'शिवसिंह सरोज' है जो स्वयं किसी तथ्य पर आधारित नहीं है। हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी प्रमुख इतिहास लेखक और विद्वानों[2] ने भूषण का जन्मकाल सं० १६७० अथवा १६७० के पश्चात् ही स्वीकार किया है और महाकवि 'मतिराम' के सम्बन्ध में हम इस निर्णय पर पहुँच चुके हैं, कि उनका जन्मकाल संवत् १६७० के पूर्व ही समीचीन जान पड़ता है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि 'भूषण' से महाकवि 'मतिराम' उमर में बड़े थे। महाकवि भूषण वीर रससिद्ध कवि थे, आचार्य नहीं। यही कारण है कि उनके लक्षण ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' में लक्षण तथा उदाहरण सम्बन्धी असंगतियाँ पाई जाती हैं किन्तु मतिराम में कवि और आचार्य दोनों की प्रतिभा पाई जाती है, जैसा कि उनके 'रसराज' और 'ललित-ललाम' से स्पष्ट है। मतिराम के बड़े होने का एक यह भी आधार जान पड़ता है कि भूषण ने 'ललित-ललाम' के बहुत से अलंकार लक्षणों को थोड़े अन्तर के साथ ज्यों का त्यों ले लिया है। संकोच उन्हें इसलिये नहीं हुआ होगा कि दोनों सहोदर थे। मतिराम ने भूषण का अनुकरण किया होगा, ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण दे देना पर्याप्त होगा—

मालोपमा—

जहाँ एक उपमेय को होत बहुत उपमान,
तहाँ कहत मालोपमा कवि 'मतिराम' सुजान। (ललित-ललाम, पृ० ३२)
जहाँ एक उपमेय के होत बहुत उपमान,
ताहि कहत मालोपमा, 'भूषन' सुकवि सुजान। (शिवराज भूषण)

उल्लेख—

कै बहुते कै एक जहँ, एकहि को उल्लेख,
बहुत करत उल्लेख तहँ, कहत सुकवि स विशेष। (ललित-ललाम)
कै बहुते कै एक जहँ, एक वस्तु को देखि,
बहुविधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेखि। (शिवराज भूषण)

---

1. 'इनही दिनन कछु पीछे पहिले वा इतर
बुंदेलन भूमे ब्रजभाषा कवि-विप्रतीन।
जेठो भ्राता 'भूषण स मध्य, मतिराम तीजो
चिंतामणि विदित भए ये कविता-प्रवीन।' (वंश भास्कर)

2. क—मिश्रबन्धु विनोद—'मिश्रबन्धु' संवत् १६७०।
ख—पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० १६७०।
ग—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य,' सं० १६७० (सन् १६१३ ई०)
घ—पं० मयाशंकर याज्ञिक, संवत् १६७४ के लगभग (माधुरी पत्रिका १ जुलाई १९२४, पृ० ७३९)

पं० मयाशंकर याज्ञिक ने अपने तर्कों के द्वारा प्रमाणित किया है कि 'चिन्तामणि' भूषण से उमर में छोटे थे, जिससे 'मतिराम' से भी छोटे हुए। जिस प्रमाणों को काशिक जी ने प्रस्तुत किया है यदि वे अप्रामाणिक सिद्ध नहीं हो जाते तो निश्चय ही 'चिन्तामणि' जी अपने भाइयों में सबसे छोटे थे।

'याज्ञिक' जी मानते हैं कि 'चिंतामणि' जो अपने को 'मणि' भी लिखते थे, 'शाहशुजा' और 'शाहजी' के दरबार में उपस्थित हुए थे, जिसके प्रमाण में उन्होंने कुछ छन्द उद्धृत किये हैं[1]—

शाहशुजा के सम्बन्ध में—

'सहज सिकारि साहि 'मनि' साहिसुजा जू के,
छोनी पर छार है पहार पुंज छटि गए,
कच्छ की मसकि पीठि धरनि धसकि गई,
जामि गये महामद, कीरीटीहू कटि गए।
प्रबल अभंग अति नगर उदंगल ज्यों,
जंगल भजत बैरी बाल-वृद्ध लटि गये,
जंग बैरी नटि गे, समुद्द सातो अटि गे,
सुदिग्गज दबटि गे, फनीस फन फटि गए।'

साहू जी की प्रशंसा में—

'कविन को राजा भोज, ओज को सरोज बंधु,
दीन को दयाल, दानसिंधु, सील को जहाज,
कोटि काम-सुंदर है, साहिबी पुरंदर है,
मंदर है बैरि-बल-बारिधि मथन काज।
जंगमद्धि जालिम, अवलंब कुल आलम को,
बाल्म धरा को, सब सुरन को सिरताज,
विक्रम अपार, सत्य सुजस को पारावार,
भारी भार थंभन समत्थ साहू महाराज,

× × ×

गादे-गादे गढ़गज धकन ढहावत, न
पावत प्रताप-समताहि सक अकवै,
'चिंतामनि' भनत गनत घने गुन गन,
सारदा, गनेस, सेस, थकत अयकवै।
नीरधि ज्यों महिमा गंभीर, महाधीर, बीर।
पावक प्रताप छीर-छीरधि को पकवै,
थप्पन उथप्पन समत्थ पात साहन को,
साहू नरनाह चाहूँ चकन को चकवै।'

---

१. माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई, १९२४—पृ० सं० ७४०—४१।

इस आधार पर उन्होंने प्रमाणित किया है[1] कि चिंतामणि जी उम्र में भूषण से छोटे थे। और यह तो निर्विवाद है कि महाकवि 'मतिराम' महाकवि 'भूषण' से उम्र में लगभग ५ वर्ष से अधिक बड़े थे।

महाकवि मतिराम के आश्रयदाता

महाकवि मतिराम अत्यन्त भ्रमणशील थे जिसका संकेत ग्रियर्सन ने किया भी है। इन्हें अनेक दरबारों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था किन्तु 'राव भाऊसिंह' के आश्रय को छोड़कर कहीं अधिक दिन तक टिके नहीं, ऐसा उनके सम्बन्ध में प्राप्त सामग्रियों से जान पड़ता है। मुगल बादशाहों की साहित्य तथा कलाप्रियता के कारण कवि एवं कलाकारों के लिये, दिल्ली तथा आगरा, जहाँ मुगल सम्राटों की सरकारें लगतीं, आकर्षण का प्रधान केन्द्र बन गया था। यश एवं अर्थलाभ की इच्छा से प्रत्येक कवि एवं कलाकार मुगलों की सरकार तक पहुँचने का प्रयत्न करता था। अपने कविता काल के आरम्भिक काल में 'मतिराम' ने भी ऐसा प्रयत्न किया था और परिणाम स्वरूप 'जहाँगीर' बादशाह की आज्ञा से उन्होंने 'फूल मंजरी' नामक ग्रन्थ भी लिखा, किन्तु जहाँगीर के दरबार में टिकने का उनके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनके प्रधान आश्रयदाता बूँदी के महाराव भाऊसिंह थे जहाँ वे अधिक काल रहे और उन्होंने 'महाराव' के आश्रय में ही अपना प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ 'ललितललाम' लिखा। यहाँ पर 'मतिराम' को काफी सम्मान मिला था, ऐसा इनके अलंकार ग्रन्थ 'ललितललाम' से जान पड़ता है। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपने आश्रयदाता एवं उसके नगर बूँदी का वर्णन अत्यन्त रस लेकर मनोहर रूप में किया है। इस ग्रन्थ में महाराव भाऊसिंह की प्रशंसा में प्रायः सौ पद रचे गये हैं। मतिराम श्रीनगर के फतेह साहि बुन्देला के यहाँ भी रहे और इन्हीं के नाम से आपने 'छन्दसार पिंगल' नामक एक ग्रन्थ रचा। शिवसिंह सेंगर ने कुमायूँ नरेश उद्योतसिंह के यहाँ भी इनका रहना बताया है। उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है, परन्तु यह माननीय नहीं। शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह कोटा के राजा थे, परन्तु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे। 'ललित-ललाम' में मतिराम ने भाऊसिंह के पूर्वजों का इस प्रकार वंश-वर्णन किया है 'बूँदी नरेश सुरजनराव के पुत्र, भोजसिंह उनके रतनसिंह और उनके गोपीनाथ सिंह हुए। गोपीनाथ के

---

१. शाहशुजा का संवत् १७१६ में औरंगजेब से युद्ध होना और संवत् १७१७ में आराकान में सिंह से मारा जाना इतिहास सिद्ध है। इसलिये 'चिंतामणि' का कविताकाल संवत् १७१७ से पीछे का नहीं, पहले का ही हो सकता है। यदि शाहशुजा की सरकार में पहुंचने तक 'चिंतामणि' की आयु ३० वर्ष की हो, तो उनका जन्म संवत् १६८७ के लगभग अनुमान से सिद्ध होता है। चिंतामणि के कुछ छन्द साहू जी की प्रशंसा में मिलते हैं। साहू जी संवत् १७६४ में दिल्ली से छुटकारा पाकर सितारा पहुँचे थे।

यदि चिंतामणि उनके यहाँ इसी समय गये हों तो संवत् १७६४ तक उनकी आयु ७७ वर्ष की होती है। इसीकारण हमारे विचार से चिंतामणि भूषण से छोटे थे।

(माधुरी पत्रिका ९ जुलाई १९२४ ई०, पृ० ७४०)

पुत्र हुए छत्रसाल और उनके भाऊसिंह[1] जो कवि के आश्रयदाता थे। राव भाऊसिंह के हाथियों का मतिराम ने बड़ा सजीव वर्णन किया है जिसके आधार पर मिश्रबन्धुओं ने अनुमान लगाया है कि भाऊसिंह के दरबार में हाथियों की संख्या अधिक थी और उनमें अच्छे किस्म के हाथी रखे गये थे। बूँदी के 'वंश भास्कर' ग्रन्थ में लिखा है कि मतिराम को उस दरबार से ४०००) तथा ३२ हाथी और रिड़ो-चिड़ी नामक दो गांव मिले[2]।' मतिराम का कुमायूँ के राजा उद्योतचन्द के यहाँ रहना एक प्रचलित किंवदन्ती के आधार पर भी प्रमाणित हो जाता है। वह यह कि महाकवि भूषण एक बार शिवा जी महाराज के यश-विस्तार का समाचार प्राप्त करने के लिये देशाटन को निकले और उसी समय अपने भाई मतिराम के आश्रयदाता कुमायूँ नरेश राजा उद्योतचन्द सिंह के यहां भी गये। उद्योतचन्द के यहाँ यथोचित सम्मान न होने के कारण कुछ धन रत्नादि भेंट लिये बिना ही वे वहां से चले आये। इस घटना का प्रभाव ऐसा हुआ कि कुमायूँ नरेश मतिराम से भी कुछ रुष्ट रहने लगे जिन्हें प्रसन्न करने के लिए इस आशय का छन्द[3] सुनाया कि यदि कोई एक हाथी अंकुश न माने तो राजे महाराजे अपने यहां से सभी हाथियों को निकाल थोड़े ही देते हैं ?

'राखी हिन्दुआनी हिन्दु आन को तिलक राख्यो' इत्यादि छन्द को मिश्रबन्धुओं ने 'भूषण' का मानकर यह घोषित कर दिया है कि मतिराम महाराज शिवा जी के दरबार में नहीं पहुँचे थे। किन्तु शिवा जी महाराज की प्रशंसा में 'मतिराम' के कुछ छन्द और मिले हैं जिससे उनके दरबार में महाकवि का जाना निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है—

'मोह-मद छाके बिरचे ते बर बाँके ऐसे
बकसे सिवाके कवि राज लिए जात हैं,
धावत धरनि धराधर धुक धकन सों,
चिक्करत जिन्हें देखि दिग्गज परात हैं।
तामसी तरुन ताम रस तोरि 'मतिराम',
गगन की गंगा में करत उतपात हैं,
मंद-गति सिंधुर मदंध में बिलंदु बिन्दु,
शान अरविंद कंद चंदहि चबात हैं।'[4]

---

१. हिन्दी नवरत्न, पंचम संस्करण, पृ० सं० ४३० (मिश्रबन्धु)
२. हिन्दी नवरत्न, पंचम संस्करण, पृ० सं० ४३० (मिश्रबन्धु)
३. 'करन के विक्रम के भोज के प्रबन्ध सुनो, कैसी भांति कविन को आगो कीजियतु है,
कवि 'मतिराम' मजलिस के सिंगार राज-वचन-पियूष आठो जाम पिजियतु है।
एकके गुनाह नरनाह श्री उदोत चन्द, एतो कहा कविन पै रोष कीजियतु है,
काहू मतवारे एक अंकुस न मान्यो तो दुरद दरबारन ते दूरि कीजियतु है ?
४. माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४ ई०, पृ० सं० ७४१।

'बान अरजुन को बखानै 'मतिराम' कवि,
गदा भीमसेन की सदा ही जस काज की,
बासव को वज्र बासुदेव जू को चक्र,
बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की।
दंड दंड धर को अदंडन के दंडिबे को,
नखन की पांति नरसिंह सिरताज की,
संभु को त्रिसूल, संभु-सिस्य को कुठार,
संभु-सुत की सकति, समसेर सिवराज की।'[1]

पं० मयाशंकर याज्ञिक ने अपने 'मतिराम और भूषण' नामक माधुरी पत्रिका में लिखे लेख में एक ऐसा भी छंद उद्धृत किया है जिससे मतिराम का बुंदेला छत्रसाल के यहाँ जाना भी प्रमाणित होता है। ये छत्रसाल बुन्देला बूँदीपति इसलिये नहीं हो सकते कि इसमें उन्हें दिल्ली पति के द्रोही राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर बूंदीपति तो 'दिल्ली के ढाल थे, 'दाहन वाल नहीं'—

कवि 'मतिराम' कहै रति ते अनूप बनी,
रूप धरे राजै मानों कोकन की कारिका,
धार सुने बार-बार नीर भरि आवतु है,
नीरज की आखिन नलिन ऐसी तारिका।
आगरे-दिली में छत्रसाल तेरी धाकनितैं,
आयो, आयो, बोलत मुखन सुख-सारिका,
चौंकि चलि सकै न चरन जुगलनि लाल,
गुलनि के रंग मुगुलनि की कुमारिका[2]।'

कविवर 'मतिराम' किसी 'भोगराज' राजा के सम्पर्क में भी आये थे, जिनकी प्रशंसा उन्होंने 'मतिराम-सतसई' में की है। इसके अतिरिक्त इसका भी उल्लेख मिलता है, कि कुमायूँ आने के पूर्व ये सतारागढ़ के महाराज साहू के यहाँ थे जहाँ से महाराज उद्योतचन्द के दरबार में आये[3] किन्तु मतिराम की रचनाओं में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। महाकवि भूषण के कुमाऊँ आने की जो बात कही जाती है उसका उल्लेख कुमाऊँ के उस इतिहास में नहीं मिलता जिसमें मतिराम का आना सतारागढ़ से बतलाया गया है। राजा उद्योतचंद और भूषण की कथा का सम्बन्ध इतिहासकार ने किसी 'मदन' कवि के साथ जोड़ा है।[4]

---

१. माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४।
२. माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४ ई०।
३. 'कहते हैं कि सतारागढ़ साहू महाराज के राजकवि मतिराम राजा के पास अल्मोड़े में आये थे।'
(कुमाऊँ का इतिहास, बदरीदत्त पांडे, पृ० ३०३)
४. कुमाऊँ का इतिहास, बदरीदत्त पांडे, प्र० सं०, पृ० ३०३।

चतुर्थ अध्याय

मतिराम के ग्रन्थ और उनके रचना-काल

आरम्भ में मतिराम के ग्रन्थ संख्या में बहुत कम उपलब्ध हो सके थे और ज्यों-ज्यों खोज करने पर मिलते गये, विद्वानों ने त्यों-त्यों उन पर विचार करना आरम्भ किया है। कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों के ही नाम पहले गिनाये गये थे। गार्सा-द-तासी ने अपने 'हिंदुवी के इतिहास' में 'रसराज' का उल्लेख किया है[1]। शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में उनके 'ललित-ललाम', 'छन्दसारपिंगल' और 'रसराज' तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है[2]। जिसे जार्ज ग्रियर्सन ने और नकछेद तिवारी उपनाम 'अजान कवि' ने भी स्वीकार कर लिया है। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में 'ललित ललाम', 'रसराज', 'छन्दसार पिंगल', 'साहित्य-सार', 'लक्षण शृंगार' और 'अलंकार पञ्चाशिका' का नाम दिया है, किन्तु 'साहित्यसार' और 'लक्षण शृंगार' के सम्बन्ध में लिखा है कि ये ग्रन्थ हमारे देखने में अभी नहीं आये तथा 'अलंकार पञ्चाशिका' की सूचना भर ही दी है[3]। इसके पहले 'हिन्दी नवरत्न' में इतने ग्रन्थों के नाम नहीं आये हैं। हिन्दी नवरत्न के चतुर्थ संक्षिप्त संस्करण में 'मतिराम सतसई' का भी नाम आया है। मतिराम कवि कृत 'फूल मंजरी' की सूचना भर 'मिश्रबन्धु-विनोद' में दे दी गयी है, वस्तुतः 'फूलमंजरी' और 'वृत्तकौमुदी' को ये मतिराम की रचना स्वीकार नहीं करते। 'वृत्तकौमुदी' को सामने लाने वाले भागीरथ दीक्षित तथा 'फूल मंजरी' को मयाशंकर याज्ञिक हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने 'ललित ललाम', 'छन्दसार पिंगल', 'रसराज', 'साहित्यसार', 'लक्षण-शृंगार' और 'मतिराम सतसई' को महाकवि मतिराम की रचना माना है। कृष्ण-बिहारी मिश्र ने शुक्ल जी के अतिरिक्त 'फूल मंजरी' को भी मतिराम की रचना मानी है और 'वृत्तकौमुदी' को किसी और मतिराम की लिखी अथवा अप्रामाणिक कहा है।

इस प्रकार महाकवि मतिराम द्वारा रचित 'फूलमंजरी', 'रसराज', 'छन्दसार', 'ललित ललाम', 'मतिराम सतसई', 'साहित्यसार', 'लक्षण-शृंगार' तथा 'अलंकार पंचाशिका' आठ ग्रन्थ प्रमाणित माने जाने लगे हैं। इसके अतिरिक्त 'वृत्तकौमुदी' नामक एक और ग्रन्थ 'मतिराम' के नाम से लिखा मिलता है जिसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

'फूलमञ्जरी'

'महाकवि मतिराम' द्वारा रचित ६० दोहों का 'फूलमंजरी' नामक एक छोटा ग्रन्थ हाल में मिला है। कवि ने इस ग्रन्थ को बादशाह जहाँगीर की प्रेरणा अथवा आज्ञा से

---

१. गार्सा-द-तासी, भाग १, पृ० ३२२।

२. शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, चौ० सं०, पृ० ४१३।

३. मिश्रबन्धु-विनोद, द्वि० भाग, द्वि० सं०, 'मिश्रबन्धु' पृ० ४४५।

बनाया था। संभवतः इस ग्रन्थ को लेकर ही 'मतिराम' ने सर्वप्रथम साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया। कवि की प्रारम्भिक रचना होने के कारण इसका साहित्यिक महत्व तो उतना नहीं है जितना कि ऐतिहासिक, क्योंकि कवि ने जिस वस्तु को इस ग्रन्थ में काव्य का विषय बनाया है, वह अत्यन्त साधारण और प्रयोगार्थ लिया जान पड़ता है। उनकी बाद की रचनाओं की भाँति न तो उन कविताओं में काव्य सौष्ठव ही है और न तो कलात्मकता ही। सीधी-सरल भाषा में लिखी गई इस ग्रन्थ की कविताओं में भावों की तीव्रता एवं कसावट का भी अभाव है जो 'मतिराम' की काव्यगत प्रमुख विशेषता है। उदाहरण के लिये हम देख सकते हैं—

कमल नैन लीनें कमल कमलमुखी के ठाऊं
तन न्योछावरि राज की यहि आवनि बलि जाऊं।
निस कारी भारी हुती तरसत मेरो जीव।
फूलनि वारी को सरस, वारी तुम पर पीव।[1]

इसके ६० दोहों में से ५९ दोहों में फूलों का वर्णन किया गया है जिनमें प्रत्येक दोहे में एक फूल का वर्णन है और अन्तिम दोहे में कवि ने ग्रन्थ लिखने के कारण को स्पष्ट किया है जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना जहाँगीर बादशाह की आज्ञा से ही किसी समय हुई थी।[2]

'फूलमंजरी' की अनेक प्रतियों के न मिलने के कारण इसके सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन द्वारा कोई एक निश्चित समाधान नहीं उपस्थित किया जा सकता कि इसकी रचना कब हुई। जो साधन हमारे पास उपलब्ध हैं उन्हीं को दृष्टि में रखकर ही अनुमान लगाया जा सकता है जैसा अनेक विद्वानों ने किया है। 'फूलमंजरी' का अस्तित्व हिन्दी संसार के सम्मुख पं० भवानीशंकर जी याज्ञिक की कृपा से ही आया है जिसकी तीन प्रतियों का उन्होंने उल्लेख किया है[3]। ये प्रतियाँ उन्हें भरतपुर राज्य में हिन्दी-पुस्तकों की खोज में मिली हैं। इन तीनों प्रतियों में केवल एक प्रति ऐसी है, जिसमें उसका प्रतिलिपि काल

---

१. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, द्वि० सं०, पृ० २३० (पं० कृष्ण बिहारी मिश्र) जिनको श्रीयुत भवानी शंकर जी याज्ञिक की कृपा से फूलमंजरी प्राप्त हुई।

२. हुकुम पाय जहँगीर को नगर आगरे धाम,
फूलन की माला करी मति सों कवि मतिराम।

३. भरतपुर राज्य में हिन्दी-पुस्तकों की खोज करने से हमको मतिराम का एक छोटा सा ग्रन्थ 'फूलमंजरी' मिला है। कवि ने इस ग्रन्थ में ६० दोहे लिखे हैं। प्रत्येक दोहा एक एक फूल के नाम पर है, जिसमें उस फूल के साथ नायिका का या तत्सम्बन्धी वर्णन है। इस पुस्तक की तीन प्रतियाँ मिली हैं। जिनमें से एक संवत् १८५० की लिखी हुई है। अन्त के दोहे से विदित होता है कि यह पुस्तक जहाँगीर के लिये बनाई गई थी।

माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई सन् १९२४, पृ० ७२७।

संवत् १८५० दिया हुआ है, शेष के प्रतिलिपि काल का कोई पता नहीं। इस ग्रन्थ के प्राप्त हो जाने के कारण महाकवि 'मतिराम' के जन्म काल तथा रचना काल को निश्चित करने में बड़ी सहायता मिली है। जैसा अनुमान किया गया है, कि इस ग्रन्थ का आरम्भ 'मतिराम' ने उस समय किया, जिस समय जहाँगीर बादशाह ने आगरे नगर में अपने १६ वें जुलूसी वर्ष का उत्सव किया था और वह 'नूरजहाँ' के 'नूरअफशाँ' बाग में उसके द्वारा दिये गये भोज में सम्मिलित हुआ था।

जहाँगीर बादशाह के १६ हवें जुलूसी वर्ष का उत्सव सम्वत् १६७८ अर्थात् १६२१ ई० में हुआ था क्योंकि जहाँगीर संवत् १६६२ में सिंहासनारूढ़ हुआ था। संवत् १६७८ हिजरी का सन् १०३० था, जिसमें सोमवार को शुभ मुहूर्त में यह ऐतिहासिक उत्सव आरम्भ हुआ।[1] अतः 'फूलमंजरी' का भी शुभारम्भ इसी दिन अथवा संवत् १६७८ के बाद ही हुआ होगा। इसकी कविताओं के आधार पर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि इस पुस्तक की रचना उस समय हुई होगी जिस समय कवि की अवस्था २० वर्ष से अधिक नहीं रही होगी। यह अवस्था पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने[2] १८ वर्ष के लगभग स्वीकार की है और पं० मयाशंकर याज्ञिक तथा उनके बन्धुओं ने इसे २० वर्ष के लगभग माना है।[3] इस प्रकार यदि इसका आरंभ जहाँगीर बादशाह के ठीक १६ हवें जुलूसी वर्ष के समय हो गया था तो प्रथम अनुमान के आधार पर इसे कवि ने २ वर्षों में और दूसरे के अनुसार ४ वर्षों में पूरा किया। कवि ने 'शाह' की आज्ञा के साथ ही साथ तो रचना आरम्भ नहीं की होगी क्योंकि कुछ काल तो ऐसे बीते ही होंगे जिनमें उसने काव्य के विषय के चुनाव एवं अभिव्यंजना पर मनन किया होगा। एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि हो सकता है कि 'फूलमंजरी' की रचना उस समय हुई जब जहाँगीर सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में इसकी रचना

---

१. सोमवार २७ वीं रबीउल् आखिर सन् १०३० हि० को सूर्य ने जो संसार को कृपायें देने वाला है, मीन राशि के सौभाग्य स्थान को अपने विश्व-प्रकाश, से प्रकाशित कर दिया और संसार तथा उसके निवासियों को प्रसन्न कर दिया। अल्लाह के वख्त के इस प्रार्थी के जुलूस का सोलहवां वर्ष प्रसन्नता तथा विजय के साथ आरम्भ हुआ और हम राजधानी आगरे में शुभ साइत तथा अच्छे समय में राजसिंहासन पर बैठे।

जहाँगीर नामा-अनु० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ७१०।

२. हमारा विचार है कि 'फूलमंजरी' में जैसी कविता पाई जाती है, उसको ध्यान में रखते हुये इस पुस्तक को उस समय की बनी मानना चाहिये, जब कवि की अवस्था १८ वर्ष के लगभग थी।

मतिराम ग्रन्थावली, तृ० सं०, पृ० २२९।

३. जहाँगीर का संवत् १६८३-८४ में परलोकवास हुआ था। उस समय मतिराम की इतनी अवस्था थी कि उन्होंने जहाँगीर के दरबार तक पहुंच कर उसकी आज्ञा से 'फूलमंजरी' ग्रन्थ बनाया। यदि यह अवस्था बीस वर्ष की मानी जाय तो 'मतिराम' का जन्म संवत् १६६४ होता है।

माधुरी, ९ जुलाई, १९२४ ई०, पृ० ७३७।

संवत् १६२६ और १६८४ के बीच कभी भी हो सकती है। किन्तु इस रचना में जो जहाँगीर शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है, वह बादशाह का असली नाम नहीं है बल्कि उसने ताजपोशी के बाद यह पदवी धारण की थी, जिससे यह उसके राज्यकाल से पूर्व की रचना नहीं हो सकती। अर्थात् इसकी रचना संवत् १६६२ और १६८४ के बीच की ही हो सकती है।[1] इस बीच में जैसा कि मैंने पूर्व ही कह दिया है, एक ही ऐसी घटना सोलहवें जुलूसी वर्ष के समय घटती है, जिस समय के बाद की रचना इसे कहा जा सकता है। इससे इस रचना का आरम्भ सम्वत् १६७८ और अन्त १६८४ के बीच ही हुआ होगा। आरम्भिक रचना होने पर भी मतिराम ऐसे प्रतिभाशाली कवि को 'फूलमंजरी' ऐसी पुस्तक रचने के लिए एक वर्ष से अधिक का समय क्या चाहिये ! ऐसी स्थिति में यदि इसका आरम्भ सम्वत् १६७९ के आसपास मान लें तो इसकी पूर्णाहुति अधिक से अधिक संवत् १६८१ तक हो जानी चाहिये जबकि कवि की आयु लगभग १९ वर्ष से अधिक नहीं रही होगी।

रसराज

प्राप्त प्रतिलिपियाँ—(रसराज) के प्राप्त होने का विवरण काशी नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित (१९२३–२४–२५) हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट में दिया गया है। ये प्रतिलिपियाँ सम्वत् १७८० या सन् १७२३ की लिखी हुई हैं। अब तक की प्राप्त प्रतिलिपियों में सम्भवतः एक सबसे प्राचीन है[2]। इसके बाद की लिखी दूसरी ५३ पृष्ठों की प्रतिलिपि सम्वत् १८४८ (सन् १७९१ ई०) की है। यह प्रतिलिपि ५½ इंच चौड़े और ६½ इंच लम्बे देशी मोटे कागज पर की गई है। प्रत्येक पृष्ठ में १४ या १५ लिखित लाइनें हैं और सब मिलाकर इसमें ८०० छन्द या श्लोक हैं। देखने में प्रतिलिपि नयी प्रतीत होती है जो देवनागरी प्रतिलिपि में है और नान्हूराम ब्रह्मभट्ट (जोधपुर) के यहाँ सुरक्षित है[3]।

---

१. जहाँगीर का जन्म ३० अगस्त सन् १५६९ ई० बुधवार अर्थात् संवत् १६२६ वि० में हुआ, उसकी ताजपोशी ३६ वर्ष की आयु में सन् १६०५ अर्थात् संवत् १६६२ में हुई, जब वह पदवी धारण कर सलीम से जहाँगीर हुआ और उसका सोलहवाँ जुलूसी वर्ष सम्वत् १६७८ तथा मृत्यु सम्वत् १६८४ में हुई।

२. 276—Mati Rama—Mati Rama is the well known poet of Tikmapur in the Cownpore district. Ten manuscripts of his works have been found as follows :—

(a) Ras Raja—5 manuscripts.

.........One of the five manuscripts of Ras Raja is very old, having been written in samvat 1780 or 1723 A. D.

(The twelth report on the search of Hmdi manuscripts for the year 1923, 24, 25., p. 96-97.)

३. No. 67 Ras Raja verse...—substance country made thick paper-leaves 53 size 5½ × 6½ inches, lines 14-15 on a page. Extent–800 slokas appearance new complete, character Deva Nagri place of deposit Brahm Bhatt Nanu Ram, Jodhpur, manuscript is dated samvat 1848 (1791 A. D.) (The search of Hindi manuscripts for the year 1901, p. 58.)

१९०० की खोज रिपोर्ट में बनारस निवासी बाबू काशी प्रसाद के यहाँ सुरक्षित एक 'रसराज' की प्रतिलिपि का वर्णन दिया गया है किन्तु इसमें प्रतिलिपि काल नहीं है। देवनागरी में लिखी यह पूर्ण एवं अशुद्ध प्रतिलिपि है। स्वदेशी कागज पर लिखी हुई ११५ पृष्ठों की प्रतिलिपि ५ इञ्च लंबी और साढ़े तीन इञ्च चौड़ी है। सब लिखे हुये इसके छन्दों की संख्या १०३५ है और प्रत्येक पृष्ठ पर ११ लाइनें लिखी हैं। देखने से अत्यन्त साधारण प्रतीत होती है।[१] इसके अतिरिक्त इसी विवरण में एक दूसरी प्रतिलिपि का भी जिक्र आया है। जो संवत् १९२५ की लिखी हुई राधाकृष्ण लाल (कालपी) के यहाँ सुरक्षित बताई जाती है।

दतिया राज्य-पुस्तकालय में जिस प्रति का पता चलता है, उसमें सम्पूर्ण ९९० श्लोक हैं।[२] 'रसराज' की चार हस्तलिखित प्रतियाँ मैंने भी देखी हैं जो मुझे नागरीप्रचारिणी-सभा की कृपा से प्राप्त हुई थीं। ये प्रतिलिपियां नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा हस्तलेख सं० १७४ पर सुरक्षित हैं। एक प्रतिलिपि १२ इञ्च लम्बी और १० इञ्च चौड़ी स्वदेशी खुरदुरे कागज पर पुरानी लिपि में लिखी हुई अपूर्ण है। आरम्भ में ग्रन्थकर्ता का नाम मतिराम दिया हुआ है किन्तु न तो इसमें निर्माण काल है और न प्रतिलिपि काल ही। प्रतिलिपिकार तथा

---

१. No. 40—रसराज verse—substance-country made paper, leaves 115 size 5x3½ inches lines. 11 on a page—extent—1035 slokas appearance ordinary complete—In correct—character—Devanagri—place of deposit Babu Kasi Prasad Banarasi,.........A second Manuscript of Rasa Raja (copied in Samvat 1925) was noticed at Kalpi in the possession of Lala Radha Krisna.

Beginning:—

अथ श्री रसराज ग्रन्थ लीख्यते।

होत नायका नायक ही या लंवित सींगार।
ताते बरन्यो नायका नायक मती अनुसार॥

॥ नायक लछन ॥ दोहा ॥ १ ॥

उपजत जाही बीलोकी के चीत बीच रस भाई॥
तही बखानत नायका जे प्रवीन कवी राई॥२॥

दोहा—अनमील लोचन बाल के याते नन्द कुमार॥
मीचु गई जरी बीच ही बिरहानल की झार॥२०॥
समूझी समूझी सब रीझी है सज्जन सुकवी समाज।
रसिकन के रस कों कीयो भयो ग्रन्थ रसराज॥४२१

इति श्री सुकवी मतीराम बीरंचीते या रसराज ग्रन्थ समाप्त (पृ० ३८-३९)

(Annual report on the search for Hindi manuscripts for the year 1900 by S. S. Das.)

२. No. 196 (a) 990 slokas—Rasa Raja place of deposit. State library Dattia—(search for the Hindi mans. 1906-7-8 p. 311).

सम्पादक आदि का भी नाम नहीं है। आरम्भ के एक से लेकर छः तक के छन्द नहीं लिखे हैं। लिखित छन्दों का क्रम छन्द नम्बर सात से ही चला है—

छं० ७—'ज्यों-ज्यों निहारिय नेरे ह्वै नयननन त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई ॥'

वाला छन्द पं० कृष्णबिहारी द्वारा सम्पादित 'मतिराम ग्रन्थावली' का छठाँ छन्द है और 'ग्रन्थावली' का सातवाँ छन्द हस्तलिखित प्रति का आठवाँ छन्द है—

'तरुनि-अरुन एँड़ीन की किरनि-समूह उदोत।
बैनी मंडन मुकुत के पुंज गुंज दुति होत ॥

हस्तलिखित का अन्तिम छन्द और 'ग्रन्थावली' का अन्तिम छन्द एक ही है। इसके सम्पूर्ण पृष्ठों की संख्या ५१ है।

'रसराज' की दूसरी हस्तलिखित प्रति में उसका लिपि-काल १८९३ वि० दिया हुआ है। यह प्रति खंडित नहीं है और इसी प्रतिलिपि के साथ बिहारी-सतसई की टीका भी है जो एक ही प्रतिलिपिकार के द्वारा की गई या लिखी गई है। इस हस्तलिखित प्रति का आकार 'रजिस्टर' का है जिसमें लिखे 'रसराज' के पृष्ठों की संख्या ३१ है। देखने से यह नई जान पड़ती है, क्योंकि रोशनाई की चमक अभी बाकी है। इसमें आया हुआ छन्द नम्बर १ तो 'मतिराम ग्रन्थावली' का ही है, किन्तु दूसरा छन्द—

श्री गुरुचरण मनाय को............सुकबिन को सुखदाई ॥ का है जो मतिराम ग्रन्थावली में नहीं पाया जाता। इस छन्द के आ जाने से आरम्भ का क्रम एक संख्या से बढ़ता है, किन्तु इसके अन्तिम छन्द की संख्या ४२७ और छन्द वे ही हैं जो ग्रन्थावली के हैं। ऊपर जिस खंडित प्रतिलिपि का विवरण दिया गया है इसका क्रम उसी से मिलता जान पड़ता है, परन्तु उसके आरम्भ के ६ छन्द न मिलने के कारण निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

तीसरी हस्तलिखित प्रतिलिपि का कागज नया है और 'रजिस्टर-साइज़' में लिखी गयी है। इसमें नीली और लाल रोशनाई का प्रयोग किया गया है। यह बाद की लिखी जान पड़ती है और इसमें लिपिक का नाम नहीं है। इसके आरम्भ के कुछ अंश नहीं हैं। इसे 'श्रीगणेशाय नमः' से आरम्भ किया गया है। प्रथम छन्द—

होत नायका नायकहिं आलंबति सिंगार।
तातैं बरनौं नायका-नायक मति अनुसार ॥ १ ॥

जो 'मतिराम ग्रन्थावली' का चौथा है। इसमें लिखे कुल छन्द ४२६ और पृष्ठ ७६ हैं। यह प्रति हस्तलिखित पुस्तकों में ९६८ संख्या की है।

चौथी 'रसराज' की प्रति अत्यन्त अपूर्ण है। यह एक अत्यन्त जीर्ण प्रति है जो आदि और अन्त दोनों ओर से फट गई है, जिसके आधार पर कुछ अनुमान लगाना कठिन है। इसके कवर पृष्ठ पर नं० ३१४८।१९८८ लिखा हुआ है।

रचनाकाल

'रसराज' की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं अथवा जिनका विवरण किसी भी प्रकार मिल सकता है उनमें से किसी भी प्रति या विवरण से इस ग्रन्थ के रचनाकाल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यही कारण है कि विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में अनुमान लगाया है। 'शिवसिंह सरोज' जो एक प्रकार से हिन्दी में लिखा हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है, उसमें 'रसराज' के रचनाकाल पर किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया गया है। सब ग्रन्थों का नाम गिना जाने के बाद उन्होंने अन्त में लिख दिया है कि (रसराज ग्रन्थ नायिका-भेद का बहुत सुन्दर बनाया है[1]।) मिश्रबन्धुओं को छोड़कर आगे के हिन्दी साहित्य के लेखक इस प्रश्न को टाल-से गये हैं अथवा उन लोगों ने इसे महत्वपूर्ण ही नहीं समझा। किन्तु 'फूल-मंजरी' और 'वृत्तकौमुदी' नामक दो ग्रन्थों के प्रकाश में आ जाने के कारण 'रसराज' के रचनाकाल का अनुमान लगाना अति आवश्यक हो गया है।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धुविनोद' तथा 'हिन्दी-नवरत्न' में 'रसराज' को 'ललितललाम' के बाद की रचना माना है। इनके अनुमान का आधार 'मतिराम' का बूँदी राज्य से सम्बन्ध विच्छेद[2] तथा 'रसराज' की प्रौढ़ता और 'रसराज' में 'ललितललाम' के कुछ छन्दों का आ जाना है[3]। इस प्रकार अनुमान लगाना मिश्रबन्धुओं के लिये आवश्यक ही था, क्योंकि इनके सबके सब अनुमान की आधार-भूमि 'शिवसिंह सरोज' है। 'शिवसिंह सरोज' में 'रसराज' का नाम बाद में आया है जिससे इनके लिये आवश्यक हो गया कि वे इसे कम से कम 'ललितललाम' के बाद की रचना तो सिद्ध अवश्य ही करें। इसके लिये ही उन्होंने उपरोक्त कल्पना एवं अनुमान का सहारा लिया है। अन्यथा इनकी कल्पना अथवा अनुमान का कोई ठोस धरातल नहीं दिखाई पड़ता, जिस पर हमारा निश्चय खड़ा हो सके।

---

१. 'शिवसिंह सरोज', चौथा संस्करण, पृ० ४३३।

२. देवकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त 'रसराज' से अच्छा भाव-भेद किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं वर्णित है......यह ग्रन्थ सम्भवतः सं० १७६७ के लगभग बना होगा। उस समय जान पड़ता है बूँदी नरेशों से इनका सम्बन्ध टूट चुका था, क्योंकि 'ललितललाम' की भाँति यह ग्रन्थ किसी के नाम पर नहीं बना।

—हिन्दी नवरत्न, पंचम सं०, पृ० ४२२।

३. मतिराम जो बूँदी के महाराज भाऊसिंह के यहाँ रहते थे और उन्हीं के यश-वर्णन में इन्होंने 'ललितललाम' ग्रन्थ अलंकार का बनाया...काव्य-प्रौढ़ता से यह मतिराम का प्रथम ग्रन्थ समझ पड़ता है।......इसके कुछ बढ़ियाँ छन्द मतिराम ने छाँट-छाँट कर 'रसराज' में भी रख दिये हैं।.........मतिराम का सम्बन्ध बूँदी से रावबुद्ध के राजत्व काल में छूटा। यह समय सं० १७६५ के लगभग है सो 'रसराज' इसके पीछे बना होगा।

(मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वि० सं०, पृ० ४४४–४४६)

इतना तो वे विद्वान् भी स्वीकार करते हैं जिन्होंने 'रसराज' को 'मतिराम' की बाद की रचना माना है कि यह अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। 'रसराज' की प्रौढ़ता इसकी अलंकारिता के लिये नहीं बल्कि रसमयता के लिये है। यह अलंकार ग्रन्थ नहीं है कि कवि के सम्मुख कोई लक्षणों की सीमा थी जिस नुस्खे पर उसे छन्द रचने थे, बल्कि भावनाओं की तरङ्गों ने ही कल्पना का सहारा लेकर 'रसराज' की कविता का महल खड़ा किया है। कवि के हृदय की सरसता को ही इसमें अभिव्यक्ति मिली है। कवि-कल्पना का विलास जिस सौंदर्य के मोहक स्वरूप का स्पर्श कर काव्य के धरातल पर उतरा है वह है नायक-नायिकाओं का आकर्षक रङ्ग-रूप, जो तत्कालीन वातावरण का एक अङ्ग बन गया था। कल्पना की उड़ान भी बहुत दूर तक वास्तविकता को छोड़कर नहीं जा सकती, उसके लिये भी यथार्थ की पृष्ठभूमि आवश्यक है। यही कारण है कि कवि की कल्पना में जो चित्र आये हैं वे नायक-नायिकाओं के ही हैं किन्तु उनमें बुद्धि, कल्पना तथा ज्ञान की अपेक्षा हृदय का अंश अधिक है। वास्तविक 'कविता एक कल्पित इतिहास का दूसरा नाम है जो गद्य या पद्य किसी रूप में लिखी जाती है। इस कल्पित इतिहास की उपयोगिता इस बात में है कि इसके द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की उन वृत्तियों को तृप्ति मिलती है जिसे प्रदान करने की क्षमता प्रकृत-वस्तु में नहीं है। बाह्य संसार आत्मा से कहीं अधिक क्षुद्र तथा अल्प है, उसमें मानव-आत्मा के अनुरूप महनीयता या भव्यता नहीं। यही कारण है कि मनुष्य की आत्मा से मेल खाने वाली एक उच्चतर महनीयता, उच्चतर औचित्य और विविधता का अस्तित्व है जो प्रकृत वस्तुओं में नहीं पाई जाती।'[1] सत्-काव्य के कारण मानव जीवन के स्वर्णिम क्षणों से ही उत्पन्न होते हैं, जिसे जीवन का वरदान युवावस्था कहते हैं। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि कविता युवावस्था की ही सृष्टि है। जीवन के प्रौढ़तम भाग में पहुँचकर तो कवि अनुभवों से पलाट कर कविता नहीं बल्कि शास्त्र की रचना करता है, क्योंकि तब तक जवानी की घटाओं के उमड़े घन बिखरे रहते हैं और बुद्धि तथा ज्ञान का आकाश निर्मल दिखलाई पड़ने लग जाता है। शृंगारिकता के लिए युवावस्था से बढ़कर दूसरा समय नहीं होता और 'रसराज' मतिराम की इन्हीं युवा उमंगों की सृष्टि है जिसके लिये कवि की कल्पना शृंगार लोक में विचरती रही। बाद को कवि ने इसे तत्कालीन परम्परा में बिठाने के लिए लक्षणों की सृष्टि की होगी। प्रौढ़ता के आधार पर इसे कभी भी 'ललितललाम' के बाद की रचना नहीं माना जा सकता।

जहाँ तक काव्य-कला की प्रौढ़ता का प्रश्न है यदि इसे कवि की आरम्भिक रचना माना जाता तो सन्देह के लिये कुछ स्थान था भी, किन्तु 'फूलमंजरी' के प्राप्त हो जाने के कारण अब इस सन्देह के लिये भी कोई स्थान नहीं रह गया है। अनेक कवियों के प्रमाण दिये जा सकते हैं कि उनकी बाद की रचनायें पहले से अच्छी नहीं हुई हैं। 'कविजन की अधिक शृंगारमयी कविता युवावस्था में ही बनती है। कई कवियों के प्रेम-ग्रन्थ शृंगार सम्बन्धी हैं। केशवदास की रसिकप्रिया और दास जी का शृंगार निर्णय ऐसे ही ग्रन्थ हैं। 'ललितललाम' की अपेक्षा 'रसराज' विशेष शृंगारमय है। 'मति

1. देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० 33।

राम' जी ने संभवत: रसराज युवावस्था में बनाया और यह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। फिर भी वह 'ललितललाम' से प्रौढ़ है, इसका कारण कवि की अवस्था, रुचि और विषय की अनुकूलता है। प्रथम रचना भी कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना हो सकती है, जैसे गोस्वामी 'तुलसीदास' का रामचरितमानस।"[1]

कुछ विद्वानों के अनुसार यह कहना कि 'रसराज' और 'ललितललाम' के कुछ छंद मिलते हैं जिन्हें अवश्य ही कवि ने 'ललितललाम' से लेकर 'रसराज' में लिख दिये हैं, अत्यन्त दुर्बल प्रमाण है। इसी को उलट कर उतनी ही जोरदार भाषा में कहा जा सकता है कि 'रसराज' से लेकर सुन्दर-सुन्दर छन्द बाद की रचना 'ललितललाम' में भी रख दिये गये हैं। दोनों ग्रन्थों में आये हुए छन्दों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वे छन्द उदाहरण के लिये 'ललितललाम' में उतने सटीक नहीं बैठते जितने कि 'रसराज' में, जिससे सन्देह का कोई कारण ही नहीं रह जाता कि वे छन्द 'रसराज' के लिये नहीं लिखे गये थे। वे 'रसराज' के लिये ही लिखे गये थे, अच्छा समझकर कवि ने उन्हें 'ललितललाम' में भी उद्धृत कर दिया। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं प्रमाण के लिये हम एक उदाहरण ले सकते हैं—

'मोहन लला कौं मनमोहिनो बिलोकि बाल,
कसि करि राखति है उमगे उमाह कौं,
सखिन की दीठी कौं बचाय के निहारत है,
आनंद प्रवाह बीच पावति न थाह कौं।
कवि 'मतिराम' और सबही के देखत हूँ,
ऐसी भाँति देखति छिपावति उछाह कौं,
वेही नैन रूखे से लगत और लोगन को,
वेई नैन लागत सनेह-भरे नाह कौं॥

उपरोक्त छन्द 'ललितललाम' में प्रथम व्याघात के उदाहरण में दिया गया है जिसमें जो वस्तु जैसी होती है दूसरों को उसके प्रतिकूल प्रतीत होती है। यहाँ केवल 'वेही नैन रूखे से लगत और लोगनि कौं' और 'वेई नैन लागत सनेह भरे नाहकौं' से प्रथम व्याघात के उदाहरण का कार्य पूर्ण हो जाता है किन्तु पूरा का पूरा छन्द उठाकर दे दिया गया है। यह 'रसराज' में 'साक्षात् दर्शन उदाहरण' के लिये प्रयुक्त हुआ है जहाँ पर रसिकनायक अपनी प्रिया के सम्मुख आ गया है जो अन्य लोगों से घिरी बैठी है। अपनी परिस्थितियों की सीमाओं के बीच नायिका किस प्रकार अपने प्रियतम के सलोने स्वरूप का रस नयनों से पान कर रही है जिससे दूसरों की आँखें वंचित हैं आदि का सजीव चित्र उपरोक्त छंद में खींचा गया है। जिसे देखकर कोई भी सहृदय कह सकता है कि इसकी रचना 'रसराज' के लिये हुई है, न कि 'ललितललाम' के लिये।

मिश्रबन्धुओं का यह कल्पना कर लेना कि 'मतिराम का सम्बन्ध बूंदी राज्य से 'भाऊसिंह' के बाद तक रहा और वह राव बुद्धसिंह के समय या उनके बाद छूटा

---

१. पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, द्वि० सं०, पृ० २४५।

और 'रसराज' सम्बन्ध छूट जाने के बाद रचा गया, क्योंकि वह किसी को समर्पित नहीं किया गया[1] आदि सभी मनमानी और अकेले मस्तिष्क की उपज है।' मिश्र-बन्धुओं की कल्पना का कोई प्रमाण 'मतिराम' की रचनाओं से नहीं मिलता। पता नहीं किस आधार पर उन लोगों ने यह अनुमान लगा लिया कि 'मतिराम' का सम्बन्ध बूंदी राज्य से राव बुद्धसिंह के समय से ही छूटा। राव भाऊसिंह के समय में 'मतिराम' का सम्बन्ध बूँदी से था इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है जिनका परलोकवास संवत् १७४५ में हो चुका था। इसके पश्चात् बूंदी में 'मतिराम' के रहने का कोई प्रमाण 'विनोद' कार ने नहीं दिया है और न तो कहीं मिलता ही है। ऐसी स्थिति में कैसे यह स्वीकार किया जा सकता है कि इनका सम्बन्ध बूंदी से राव बुद्धसिंह के समय से संवत् १७६५ तक था। 'मतिराम' का सम्बन्ध इस राज्य से राव भाऊसिंह की मृत्यु के बाद संवत् १७४५ या उसके बाद ही छूटा होगा। जिससे 'मिश्रबन्धुओं' के कथन में कोई सार नहीं दिखलाई पड़ता। इतना स्वीकार किया जा सकता है कि 'रसराज' की रचना ऐसे समय में हुई होगी जब 'कवि' का सम्बन्ध किसी राजदरबार से न रहा होगा, क्योंकि इसमें किसी राजा का नाम नहीं आया है। पर क्या यह समय राव भाऊसिंह की मृत्यु तथा बूंदी नगर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के बाद का ही हो सकता है, पहले का नहीं जब कि कवि को किसी राजा का आश्रय नहीं मिला था।

निश्चित ही 'रसराज' के रचना-काल का वही समय है जब कि 'मतिराम' किसी राज्याश्रय में नहीं गये थे। इस प्रौढ़ साहित्यिक कृति के कारण सम्मान बढ़ जाने पर ही इनके मन में यह भाव उठा होगा कि उनकी विद्वत्ता की कद्र किसी राज-दरबार में हो सकती है। उस काल के दरबारों की रुचि मार्मिकता से अधिक चमत्कार की ओर रही, जहाँ को प्रत्येक गतिविधि में एक निश्चित शास्त्रीय विधान था जैसा हम पहले बता आये हैं। यही कारण है कि 'मतिराम' को अपने आश्रयदाता को प्रसन्न रखने के लिये अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी चमत्कार प्रधान ग्रन्थ 'ललितललाम' की रचना करनी पड़ी। 'ललितललाम' के अन्तिम दोहे को यदि ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो इससे ग्रन्थ के रचना-कारण पर प्रकाश पड़ता है। इस दोहे में कवि ने पुस्तक के महत्व पर प्रकाश डाला है—

'कंठ करै सो सभनि मैं सोभै अति अभिराम।
भयो सकल संसार-हित कविता 'ललितललाम' ॥'४०१॥

राजसभाओं में सम्मान प्राप्त करने के लिये 'ललितललाम' ऐसे आलंकारिक ग्रन्थ की आवश्यकता थी न कि 'रसराज'। इसका अनुभव कवि को हुआ था, ऐसा जान पड़ता है। नहीं तो वह कभी भी बेखटके ऐसी घोषणा न कर बैठता कि अब किसी को भटकना नहीं पड़ेगा, क्योंकि अब लोगों का काम 'ललितललाम' को याद कर लेने मात्र से ही चल जायगा। 'रसराज' रसिक-सहृदयों के लिये लिखा गया था जो 'कवि' को दरबारों तक नहीं पहुँचा सका—

1. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय सं०, पृ० ४९६।

'समुझि-समुझि सब रीझि हैं सज्जन सुकवि समाज
रसिकन के रस को कियौ नयो ग्रन्थ 'रसराज' ॥' ४२७ ॥

'रसराज' द्वारा अर्जित ख्याति वह सीढ़ी है जिसके माध्यम से कवि राज-दरबार में पहुँच कर 'ललितललाम' ऐसे ग्रन्थ की रचना कर सका, क्योंकि किसी भी नौसिखुये कवि को राजसम्मान मिलना सम्भव नहीं है और 'रसराज' लिखने के पूर्व जब कि 'ललितललाम' की भी रचना नहीं हुई थी, वे अत्यन्त नौसिखुये ही थे।

'रसराज' को 'ललितललाम' के बाद की रचना मानने में एक और भी आपत्ति है। वह यह कि 'मतिराम' का जन्म संवत् १६६२ के लगभग माना गया और 'ललितललाम' की रचना राव भाऊसिंह के राज्यकाल में लगभग संवत् १७१९ के आसपास हुई, जब कि 'कवि' की आयु ५७ या ५८ वर्ष की हो चुकी थी। यदि 'रसराज' को 'ललितललाम' से दो वर्ष बाद की भी रचना मानें तो 'मतिराम' की आयु लगभग ६० वर्ष को पहुँचती है और यह वृद्धावस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर 'रसराज' ऐसे रसीले भावों की रचना कवि करेगा, थोड़ा खटकता है। 'घोर शृङ्गारी कवि भी ५० वर्ष की अवस्था के बाद क्रम से शृङ्गार से विरक्ति प्रदर्शित करने लगते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित भूषण ग्रन्थावली में दिए भूषण के समय पर जिस कोटि क्रम से विचार किया है, उससे रसराज की रचना 'मतिराम' की सत्तर और अस्सी वर्ष की अवस्था के बीच ठहरती है। हमारी राय में 'रसराज' कवि की इस अवस्था में नहीं बना[1]।' निश्चित ही इसका रचनाकाल कवि की युवावस्था है जो 'ललितललाम' के पूर्व की है।

'रसराज' पर बख्तेश, प्रतापसाहि-कृत, रसराज-तिलक तथा 'हरिदान' जी कृत मनोहर प्रकाश आदि टीकायें भी उपलब्ध हैं जिनसे भी इस ग्रन्थ के रचनाकाल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता और जितनी 'रसराज' की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ तथा विवरण मिले हैं उनमें भी रचनाकाल सम्बन्धी कोई सन्-संवत् नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में अनुमान का ही सहारा रह जाता है। ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि 'ललितललाम' के पूर्व ही 'रसराज' की रचना हुई जब कि कवि पूर्ण युवा था। 'मतिराम' के प्रथम ग्रन्थ 'फूलमंजरी' का निर्माणकाल मैंने लगभग सं० १६८१ माना है, जिसकी कविताओं से चलकर 'रसराज' तक पहुँचने में कवि को १० वर्षों से कम क्या लगेगा। कवि की जिस प्रतिभा का अंकुरण 'फूलमंजरी' में हुआ है, 'रसराज' उसी का पूर्ण विकास है। 'फूलमंजरी' के प्रत्येक छन्द में जो एक-एक फूल का वर्णन किया गया है, उनमें कहीं-कहीं तत्सम्बन्धी नायिका का भी वर्णन है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि 'फूलमंजरी' के बाद 'रसराज' की रचना हुई। यदि इसे १० वर्ष के बाद की भी रचना मान लें तो यह समय १६९१ के आसपास ठहरता है। यह समय 'ग्रन्थ' का आरम्भ काल नहीं बल्कि समाप्ति काल है। 'रसराज' एक समय की क्रमबद्ध रचना नहीं हो सकती। इसकी रचना कवि की मस्ती के अनुसार समय-समय पर होती रही जिसे लगभग

---

१. पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रंथावली, सू० सं०, पृ० २७५।

संवत् १६९१ के आसपास ग्रन्थ का स्वरूप मिला होगा। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने भी इसकी रचना का अनुमान सं० १६९० और १७०० के बीच लगाया है[1]।

ललितललाम

'ललितललाम' महाकवि मतिराम कृत अलंकारशास्त्र पर लिखी एक प्रौढ़ रचना है। कवि ने इस ग्रन्थ को अपने सहृदय आश्रयदाता बूँदी नरेश राव भाऊसिंह के लिये लिखा था। एक सुप्रसिद्ध राजा के दरबार में लिखी होने के कारण इस ग्रन्थ के रचनाकाल में उतना मतभेद नहीं है जितना कि 'रसराज' के सम्बन्ध में उठाया गया है। कवि ने स्वयं ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं लिखा है और न तो अभी कोई ऐसी हस्तलिखित इसकी प्रतिलिपि ही मिली है जिसमें इसका रचनाकाल दिया हो। 'ललितललाम' की कई हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ मिली हैं जिनमें से कई तो सर्व सुलभ भी हैं। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाली हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट (१९२३, २४, २५) में भी इसकी तीन हस्तलिखित प्रतिलिपियों का जिक्र आया है[2]।

१९०३ की खोज रिपोर्ट में प्राप्त हुई जिस प्रतिलिपि का विवरण दिया गया है, वह स्वदेशी कागज पर लिखी १०¾ इंच लम्बी, ६¾ इंच चौड़ी ४६ पृष्ठों की पुस्तक है। प्रत्येक पृष्ठ पर १६ लाइन और सब मिलाकर ७२० श्लोक हैं। छन्द के दो लाइनों को श्लोक मानकर ही यह संख्या लिखी जान पड़ती है जैसा पूर्ववर्णित 'रसराज' के सम्बन्ध में भी किया गया है। देवनागरी में लिखी यह पुस्तक देखने में अत्यन्त प्राचीन लगती है जो महाराजा बनारस के पुस्तकालय रामनगर में सुरक्षित है। लिपिक तथा लिपिकाल का संकेत इस प्रति में नहीं है।[3] खोज रिपनार्ट १९२३-२४-२५ में दिये गये विवरण की प्रति में ८०० 'श्लोकों' का जिक्र किया गया है। इसका लिपिक काल संवत् १८७० या सन् १८१३ ई० है जो पं० सुखनन्दन जी वाजपेयी, कुतुब नगर सीतापुर में सुरक्षित है।[4] इसके अतिरिक्त पं० कृष्णबिहारी मिश्र के यहाँ रक्षित संवत् १९३४ या सन् १८७७ ई० की लिखी प्रति का भी वर्णन

---

१. ऐसा जान पड़ता है कि 'रसराज' की रचना उस समय हुई, जब मतिराम जी पूर्ण युवा थे। यह समय सं० १६९० और १७०० के बीच में होगा।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र, 'मतिराम ग्रन्थावली', तृ० सं०, पृ० २४७।

२. Ten manuscripts of his works have been found as followes—
............(b) Lalita Lalam 3 manuscripts. The twelth report on the search of Hindi manuscripts for the year, 1923-24-25.

३. No. 67 'ललितललाम'—verse-substance, countrymade paper, leaves, 46, size-10¾ × 6¾-inches lines 16 on a page extent-720 slokas appearence old complete correct-character—Devanagri place of deposit-Library of Maharaj of Banaras. (Report on the search of Hindi manuscripts for the year 1903)

४. No 276 (a) Lalit Lalama by Mati Rama 800 slokas Date of manuscript Samvat 1870 or A.D. 1813, place of Deposit Pandita Sukha Nanandan

है जिसमें 'मतिराम' को बनपुरा, कानपुर का निवासी बतलाया गया है।[१]

दो हस्तलिखित 'ललितललाम' की प्रतिलिपियाँ मेरे देखने में भी आईं। महाराज बनारस के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति का विवरण खोजरिपोर्ट नागरी प्रचारिणी सभा में तदनुरूप ही है। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की कृपा से प्राप्त जो प्रति मेरे देखने में आई उसका लिपिकाल सं० १९८३ जे०, कृ० १० है। आरम्भ में श्रीगणेशाय नमः लिखकर उसके नीचे पुस्तक का नाम 'ललितललाम' लिखा है। मंगलाचरण के दोहे या छन्द ठीक वही हैं जो पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित मतिराम ग्रन्थावली में उद्धृत हैं। जिनकी सम्पूर्ण संख्या ५ है। मंगलाचरण के पश्चात् २२ संख्या तक बूँदी नगर का वर्णन और ३७ तक राव भाऊसिंह नृपवंश वर्णन है। सम्पूर्ण छन्दों की संख्या ४०१ है। ठीक यही क्रम और संख्या मतिराम ग्रन्थावली में संग्रहीत 'ललितललाम' के पदों की भी है।

रचनाकाल

'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने 'ललितललाम' का नाम 'मतिराम' के अन्य ग्रन्थों से पहले लिया है। उन्होंने लिखा है कि 'मतिराम' ने इस ग्रन्थ की रचना राव भाऊसिंह कोटा वाले के नाम से की[२]।' 'सरोजकार' के निर्णय ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं हैं, उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें सुनीसुनाई लिख दी हैं जिनका मेल इतिहास से नहीं खाता। राव भाऊसिंह का कोटा से कोई सम्बन्ध नहीं था।' शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह कोटा के राजा थे, परन्तु वास्तव में वे केवल बूँदी पति थे[३]। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद' में[४] 'ललितललाम' का रचनाकाल संवत् १७१६ और १७२८ के बीच

---

ji Vajapey. Kutub Nagara, Sitapur. (Search report for the year 1923 24-25- Nagri Pracharini Sabha, Varanasi)

१. No 276 (b) Lalit Lalama by Mati Rama of Banpura (Cownpore) 800 slokas Date of manuscript Samvat 1934 or A.D. 1877 place of deposite Pt. Kri hna Bihari Mishra-editor, Madhuri Patrika.

२. यह महाराज भाषा काव्य के आचार्यों में गिने जाते हैं, हिन्दुस्तान में बहुधा बड़े राजों महाराजों के यहाँ थोरे-थोरे दिन रहे और राजा उदोत चन्द कुमाऊँ नरेश और भाऊ सिंह हाड़ा, छत्रशाल राजा कोटा बूँदी और सम्भुनाथ सुलंकी इत्यादि के यहाँ बहुत दिनों तक रहे ललितललाम अलंकार ग्रन्थ राव भाऊसिंह कोटा वाले के नाम से बनाया।

शिवसिंह सरोज, चौथा संस्करण, पृ० ४६२।

३. उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है, परन्तु यह माननीय नहीं। शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह कोटा के राजा थे, परन्तु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे।

हिन्दी नवरत्न, पंचम संस्करण, पृ० ४१०।

४. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वि० सं०, पृ० ४७७।

तथा हिन्दी नवरत्न में संवत् १७३१ के लगभग माना है ।[1] मिश्रबन्धुविनोद की यह बात किसी सीमा तक मान्य हो सकती है कि 'ललितललाम' का रचनाकाल संवत् १७१६ और १७३८ के बीच का है, क्योंकि यही 'मतिराम' के आश्रयदाता राव भाऊसिंह का राज्यकाल है जिनके नाम से ग्रन्थ की रचना हुई है किन्तु हिन्दी नवरत्न में यह मान लेना कि सम्भवतः 'ललितललाम' की रचना संवत् १७३१ में हुई तर्कसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसकी पुष्टि के लिये कोई सशक्त प्रमाण नहीं उपस्थित किया गया है । मिश्रबन्धु विनोद के आधार पर ही पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने इस काल को और बढ़ाकर संवत् १७१६ से १७४५ मान लिया है, क्योंकि राव भाऊसिंह की मृत्यु संवत् १७४५ में हुई थी । पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १७१९ माना है ।[2]

ललितललाम के वे छन्द जो राव भाऊसिंह की प्रशंसा में लिखे गये हैं, ऐतिहासिक वास्तविक घटनाओं की ओर संकेत करते हैं । राव भाऊसिंह का मध्यकालीन भारतीय इतिहास में बड़े महत्व का स्थान रहा है । उनके जीवन के साथ कुछ ऐसी चिरस्मरणीय घटनाएँ संबद्ध हैं जिनके लिये हिन्दू समाज में उनका नाम सदैव आदर के साथ लिया जायगा । नृपवंश वर्णन में मतिराम ने राव भाऊसिंह के पूर्वजों के जिन कार्यों की प्रशस्ति की है, वे सब सत्य ऐतिहासिक घटनाएँ हैं । इससे स्पष्ट होता है कि इस सहृदय नृपवंश द्वारा किए गए जितने भी उत्तम ऐतिहासिक कार्य मतिराम को ग्रन्थ लिखते समय ज्ञात थे उन सबका संक्षिप्त वर्णन कवि ने ललितललाम में दिया है । राव भाऊसिंह के कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यों का जो संकेत ग्रन्थ में नहीं मिलता, इससे जान पड़ता है कि उसकी रचना उन घटनाओं के पूर्व हो चुकी थी ।

ललितललाम के १५ छंद कवि ने नृपवंश वर्णन में लगा दिये हैं और लगभग ६० छंद ऐसे आए हैं जिनमें राव भाऊसिंह के ऐसे कार्यों की प्रशंसा है जो या तो उनके इतिहास प्रसिद्ध स्वभाव से संबंध रखते हैं अथवा ऐतिहासिक घटनाओं से । नृपवंश का वर्णन इस प्रकार किया गया है, 'सुरजन राव बूँदी नरेश के पुत्र भोज सिंह, उनके रतन सिंह तथा उनके गोपीनाथ सिंह हुए । गोपीनाथ के पुत्र छत्रसाल, जो राव भाऊसिंह के पिता थे ।' कवि मतिराम ने नृपवंश वर्णन करते समय हाड़ा तथा दीवान शब्द का प्रयोग किया है । यह भी एक ऐतिहासिक रहस्य है । राजपूतों की जो शाखा आज बूँदी में वर्तमान है उसे 'चौहान' नाम से जाना जाता है । इन चौहानों के आदि पुरुष का नाम 'अस्थिपाल' था जिन्हें अस्थि शेष रह जाने के बाद देवी की कृपा से पुनर्जीवन प्राप्त करने के कारण यह नाम मिला था । अस्थि का पर्याय 'हड्डी' है, सो इनके वंशज बाद को 'हाड़ा' कहलाने लगे[3] ।' अस्थिपाल के वंशज बीरसिंह जी ने संवत् १३०० के लगभग 'मीना' जाति के सरदार से 'बूँदी' छीन ली । तभी से वह चौहानों की

---

१. हिन्दी नवरत्न, पं० सं०, पृ० ४२० ।

२. मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ० २५० ।

३. 'मतिराम ग्रन्थावली', पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० २०० ।

राजधानी हो गई है। बूँदी के चौहानों के साथ यदि वीरता के लिये किसी का नाम लिया जाता है तो उदयपुर के सिसोदिया वंश का ही।

बूँदी के महाराजाओं के लिये 'दीवान' पदवी अत्यन्त गौरव की वस्तु है, जिससे उनके उस ऐतिहासिक वीरता का परिचय मिलता है जिसे वीरसिंह जी के वंशजों में नारायण दास जी ने राणा संग्राम सिंह के युद्ध-जीवन में अर्जित किया था। तभी से 'दीवान' पदवी बूँदी-राववंश के लिये गौरव की वस्तु बन गई है[1]। इससे स्पष्ट है कि यश वर्णन में मतिराम ने ऐतिहासिक संगतियों का ध्यान रखा है।

'भोजबली रतनेस भए 'मतिराम' सदा जस चाड़न ही मैं,
नाथ सता समरत्थ दुहूनि दले अरि तेज सों ताड़न ही मैं।
भाऊ नरिंद के धाक धुके अरि जाय गिरे गिरि-गाड़न ही मैं।
जीत महीपति हाड़न ही महँ जोत दधीच के हाड़न ही मैं ॥ १४७ ॥

× × ×

पंडित-सुकवि-भाट-चारन को गुन,
समुझैया सावधान सदा सुजस विधान मैं।
कवि 'मतिराम' जाको तेज पुंज दिनकर,
दुजन को दाह कर दसहू दिसान मैं।
'गोपीनाथ' नंद चित चाही बकसीसनि सों,
जाचक धनेस कीनें सकल जहान मैं।
शान मैं दिवान सत्रु साल सुव गुरु,
साहिबी मैं सुरपति,सुर-तरवर दान मैं ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार की ऐतिहासिक संगतियाँ राव भाऊसिंह के सम्बन्ध में लिखे अन्य 'ललितललाम' के छन्दों में भी मिलती हैं। बूँदी नृपवंश वृक्ष के मूल महाराज सुरजन हैं जिनका वर्णन मतिराम ने ललितललाम में किया है। इन्होंने संवत् १६११ से लेकर संवत् १६४१ तक बूँदी राज्य की प्रजा का पालन किया। रणथंमौर के युद्ध में इन्होंने अकबरी सेना को जिस वीरता के साथ असफल कर दिया उसकी प्रशंसा सभी इतिहासकारों ने एक

---

१. वीरसिंह के वंशजों में नारायणदास बड़े ही शक्तिशाली और वीर पुरुष थे। यह चित्तौड़ के राणा के प्रधान सहायक थे। एक बार राणा जी का बाबर युद्ध होने वाला था, साथ में नारायणदास जी भी थे। बाबर की सेना को अधिक शक्ति-सम्पन्न समझ कर राणा जी ने हट जाना ही मुनासिब समझा, पर नारायणदास को यह बात पसन्द न पड़ी। उन्होंने राणा जी से स्पष्ट कहा कि आप 'दीवान' पदवी न लजाइए। तब राणा जी ने कहा कि यह 'दीवान' पदवी आप ही को मुबारक हो। नारायणदास जी ने निडर होकर कहा, ऐसा ही होगा, और युद्ध से न हटे। उसी समय से बूँदी के महाराज लोग 'दीवान' कहलाते हैं।

(पं० कृष्णबिहारी मिश्र, 'मतिराम ग्रन्थावली', भू० से०, पृ० २०७।)

स्वर से की है। महान् राजनीतिज्ञ सम्राट अकबर ने संधि की चाल चलकर इस वीर राजा को सदा के लिये अपना बना लिया था, जो युद्ध में विजयी होकर न कर पाता। जिसका यह परिणाम हुआ कि सुरजन के पश्चात् भी दिल्ली और बूँदी का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार बना ही रहा। इसका विस्तृत विवरण पं० कृष्णविहारी मिश्र जी ने मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका में दिया है[1]। इनकी जिन शर्तों को अकबर ने स्वीकार किया उनके अनुसार उसने 'सात परगने सुरजन जी को दिये। इन्होंने भी बादशाह की इच्छा के अनुकूल रणथंभौर का किला खाली कर दिया। इसके बाद सुरजन जी ने बादशाह के लिये गोंडवाना विजय किया। बादशाह ने प्रसन्न होकर इनको रावराजा की पदवी दी और बहुत से नये परगने इनके सुपुर्द कर दिये जिसमें काशी जी भी सम्मिलित थी। काशी के इनके अधीन हो जाने से धार्मिक हिन्दुओं को बड़ा सुबीता हो गया। इनका शासन न्याय उदारता और दया के लिये प्रसिद्ध है। इन वीर

---

१. रणथंभौर दुर्ग के सम्बन्ध में सम्राट अकबर के साथ इनका घोर युद्ध हुआ, परन्तु लाख उपाय करने पर भी जब अकबर को दुर्ग जीतने में सफलता न प्राप्त हो सकी तो उसने सन्धि द्वारा इस कार्य को सम्पादन करने का विचार किया, इसके लिये जयपुर नरेश भगवान दास और मानसिंह को दुर्ग में भेजा और स्वयं भी वेश बदल कर उनके साथ गया। सुरजन जी अनुभवी और चतुर योद्धा थे। उन्होंने अकबर को पहचान लिया यदि सुरजन जी उस समय चाहते तो अकबर को बन्दी बना सकते थे परन्तु उन्होंने वह काम किया जिससे अकबर क्षण भर के लिये किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। सुरजन जी ने अकबर की बाँह पकड़ कर उनको अपने स्थान पर बैठा लिया। क्षण भर में संधि की शर्तें तय हो गईं। उदार हृदय अकबर ने बूँदी नरेश की शर्तें स्वीकार करके राजपूताने के इस प्रभावशाली राज्य को सदा के लिये अपना वशवर्ती बना लिया। यहाँ के नरेशों की बदौलत आगे चलकर मुगल बादशाहों को बड़े-बड़े काम पहुँचे। सुरजन जी की जो शर्तें अकबर ने स्वीकृत की थीं, वे ये हैं—

(१) हम (सुरजन) अपनी लड़की बादशाह को न देंगे।
(२) हमारे रनिवास की स्त्रियाँ नौरोज पर बादशाह के जनाने में न जायँगी।
(३) अटक-नदी पार करने पर दबाव हम पर न डाला जायगा।
(४) हम बादशाह के आमतौर खास दरबार में शस्त्र बाँधकर आ सकेंगे।
(५) दिल्ली नगर और लालकोट तक हमारा नक्कारा बजेगा।
(६) हमारे घोड़ों पर दाग न करेंगे।
(७) हम किसी राजा के अधीन होकर युद्ध में न जायँगे।
(८) हमसे जुजिया न लिया जायगा।
(९) हमारे पवित्र मंदिरों की प्रतिष्ठा की जायगी।
(१०) जैसे दिल्ली बादशाह के किये हैं वैसे ही बूँदी हाकों के लिये होगी।

कुछ इतिहासज्ञ बूँदी के सुलहनामे को जाली बतलाते हैं।

(मतिराम ग्रंथावली, तृतीय संस्करण, पृ० २०८, ९)

महाराज ने काशी में २० घाट और ४४ मन्दिर बनवाये, जिनमें राजमंदिर परम प्रसिद्ध है।'' इतिहास इस प्रकार सुरजन के सम्बन्ध में हमें जो कुछ अवगत कराता है, मतिराम की प्रशस्तियों में वे सभी बातें किसी न किसी रूप में पायी जाती हैं—

एक धर्म गृह-खेम, जैभ रिपु रूप अवनि पर।
एक बुद्धि-गंभीर, धीर, बीराधि बीरवर॥
एक ओज अवतार, सकल सरनागत-रक्षक।
एक जासु करवाल, निखिल खल-कुल कहँ तक्षक॥
'मतिराम' एक दातानि-मनि जग जस अमल प्रगट्टियउ,
चहुवान-वंश-अवतंश इमि, एक राव सुरजन भयउ॥ २३॥

महाराज सुरजन की धर्मपरायणता, युद्ध कौशल तथा सम्राट अकबर ऐसे सबल शत्रु को भी हाथ आया पाकर भी मित्रवत व्यवहार को देख कर उपरोक्त छन्द में किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती बल्कि उनके ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश ही पड़ता है।

महाराज सुरजन के काशी में संवत् १६४१ में स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् उनके यशस्वी पुत्र 'भोज' सिंहासनारूढ़ हुए जो संवत् १६६४ तक प्रजा पालन करते रहे। इनके सम्बन्ध में लिखा कविवर मतिराम का निम्नलिखित छंद भी एक ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत करता है—

'भयौ भोज सुरजन-तनै अतुल ओज की खानि।
हिन्दुन की राखी सरम निज मूँछन मैं आनि॥ २५॥
जेते ऐड़दार दरबार-सिरदार सब,
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो,
मतिराम कहै करवार के कसैया केते
गाड़र-से मूँड़े जग हाँसी को प्रसंग भो।
सुरजन-सुत रज-लाज-रखवारो एक,
भोज ही तैं साहि को हुकुम-पग पंग भो,
मूंछनि सो राव मुख लाल रंग देखि, मुख
औरनि को मूँछनि बिना ही स्याम रंग भो॥ २६॥

कहा जाता है कि इन्होंने भी अपने पिता सुरजन की भाँति अकबर बादशाह से कई महत्वपूर्ण शर्तें करवाईं। अहमद नगर (दक्षिण) में सम्राट अकबर का बनवाया भोज बुर्ज इनकी वीरता का प्रतीक है जिसे उसने इनके चाँद सुल्तान के मान-मर्दन के उपलक्ष में बनवाया था। उपरोक्त छंद में जिस ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत किया गया है, वह यह है कि 'एक बार अकबर बादशाह ने अपनी एक प्रिया हिन्दू बेगम की मृत्यु पर समस्त दरबारी जनों को शोक में दाढ़ी मूँछ बनवाने का आदेश दिया था जिसका

१. मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० २०९।

पालन केवल 'भोज' जी ने नहीं किया[१] । इसी घटना का अवलम्ब लेकर मतिराम जी ने अपने ललितललाम के नृपवंश वर्णन में दो बड़े ही ओजपूर्ण छन्द (नं० २५, २६) लिखे हैं।

राव भाऊसिंह के यशस्वी पितामह का नाम महाराज 'रतन' था जो रावराजा भोज के पुत्र थे। इनकी दिल्लीपति जहाँगीर से बड़ी मित्रता थी और कई बार उन्होंने युद्धों में जहाँगीर की सहायता की थी। जिस समय खुर्रम अर्थात् शाहजहाँ ने अपने पिता जहाँगीर के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा किया था और जहाँगीरी डगमगा गई थी उस समय भी इन्होंने बादशाह की सहायता की जिसका वर्णन इतिहासकारों ने किया है[२]। इनके संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपने इकलौते लड़के 'गोपीनाथ' के हत्यारे एक ब्राह्मण को इसलिये क्षमा कर दिया था कि भूल लड़के की ही थी, क्योंकि उसने ब्राह्मण-पत्नी से उसके घर पर जाकर सहवास किया था[३]।' इन महाराज की इस न्यायप्रियता के कारण ही मतिराम ने जो बूँदी राज्य को कलियुग में सतयुग लाने वाला कहा है, यथार्थ ही इन्हीं महाराज के लिये लिखा है—

'जगत बिदित बूँदी नगर सुख संपति को धाम।
कलि जुगहूँ मैं सत्यजुग तहाँ करत बिश्राम ॥' ६ ॥

रावरत्न ने दिल्लीश्वर से यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि उनके शिविरों के निकट गो-वध न होने पायेगा। जिसकी ध्वनि मतिराम के निम्नलिखित छन्द से निकलती है—

'जोर दल जोरि साहिजादो, साहिजहाँ जंग

× × ×

गायनि कौं बकसि कसाइनि की आयु सब
गायनि की आयु सो कसाइनि को बकसी ॥'

राव भोज के पौत्र गोपीनाथ के पुत्र तथा कवि के आश्रयदाता राव भाऊ के पिता छत्रसाल की वीरता इतिहास प्रसिद्ध है। इनकी प्रशस्ति में लिखा शत्रुशल्य नामक एक संस्कृत ग्रन्थ भी मिलता है, इसके अतिरिक्त कविवर भूषण एवं लाल ने कई छन्द इनकी प्रशंसा में लिखा है। 'दारा, शिकोह और औरंगजेब के भयंकर युद्ध में शाहजहाँ की आज्ञा से इन्होंने औरंगजेब से युद्ध किया था और जब तक वीरगति को नहीं प्राप्त हुए, विजयश्री औरंगजेब के हाथ नहीं लगने दी[४]।' इस भयंकर युद्ध को लक्ष्य करता हुआ मतिराम का छन्द द्रष्टव्य है—

---

१. मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ० २१०।
२. 'शीघ्र ही जहाँगीर ने महावत खाँ, खानखाना के अधीन विशाल सेना शाहजहाँ को रोकने को भेजी। इस सेना में मारवाड़ नरेश गज सिंह, आमेर नरेश जयसिंह, रावरत्न हाड़ा, वीर सिंह देव बुन्देला आदि क्षत्रिय वीर अधिक थे। (जहाँगीरनामा, अनु० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ६८)
३. 'मतिराम ग्रन्थावली', पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० २१२।
४. 'मतिराम ग्रन्थावली', पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० २१४।

'औरंग-दारा जुरे दोऊ युद्ध भए भट क्रुद्ध विनोद बिलासी।
मारू बजे, 'मतिराम' बखाने, भई अति अस्त्रनि की बरषा सी।
नाथ तनै तिहि ठौर भिर्यौ, जिय जानि कै छत्रिन को रन कासी।
सीस भयौ हर-हार-सुमेरु, छता भयो वायु सुमेर को बासी।'

बूँदी नगर में इनके द्वारा बनवाई गई इमारतें तथा पाषाण-मूर्तियाँ इनकी विशिष्ट रुचि की परिचायिका हैं। इसके अतिरिक्त इनका बनवाया 'छत्र महल' अत्यन्त ही अद्भुत है। इनकी संवत् १७१५ में मृत्यु हो गई जिससे संवत् १७१५ में महाराव राव भाऊ सिंहासनारूढ़ हुए।

मैंने बूँदी नरेशों के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं और 'ललितललाम' में आये तत्सम्बन्धी छन्दों का तुलनात्मक सिंहावलोकन इसलिये प्रस्तुत कर दिया है जिससे मतिराम की रचनाओं में आई हुई ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता प्रमाणित हो जाय। राव भाऊ के सम्बन्ध में लिखे ललितललाम के छन्दों की संख्या ६० है जिनमें उनके आरम्भिक राज्यकाल की सत्य घटनाओं का ही अधिकांश वर्णन है। जिन छन्दों में किसी प्रकार की घटनाओं का वर्णन नहीं किया गया है उनमें कवि ने अपने आश्रयदाता का गौरव-गान किया है। ललितललाम के इन[1] छन्दों में महाराज की दान-वीरता तथा युद्ध-कौशल एवं उनके प्रभावों का सजीव चित्रण किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम छन्द में कवि अपने आश्रयदाता को आशीर्वाद दिया है।

'जब लगि कच्छप कोल सहस मुख धरनि भार धर।
जब लगि आठौं दिसनि दिग्घ सोभित दिग्गज बर।
जब लगि कवि 'मतिराम' सगिरि सागर महि मंडल।
अनिल अनल जब लग्गि जोति मंडल आखंडल।
नृप सत्रुसाल नन्दन नवल भावसिंह भूपाल मनि।
जग चिरंजीव तब लगि सुखद, कहत सकल संसार धनि' ॥४००॥

इतना तो एक प्रकार से स्पष्ट हो ही जाता है कि ललितललाम की रचना राव भाऊसिंह के लिये और उनके जीवन काल में ही हुई थी जो समय उनके मृत्यु काल तक कोई भी हो सकता है। उनका राज्य काल संवत् १७३८ तक रहा। संभवतः वह संवत् १७३८ तक ग्रंथ का निर्माण हो गया था, क्योंकि अंतिम आशीर्वाद का छन्द इसका द्योतक है। इस संबंध में एक प्रकार की शंका की जा सकती है, वह यह कि कोई आवश्यक नहीं है कि ललितललाम की रचना राव भाऊसिंह के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ही हुई। हो सकता है, कवि का संबंध इस नृपवंश से इससे पहले का रहा हो और उसने ग्रंथ का निर्माण संवत् १७१५ के पूर्व ही किया हो तथा राव भाऊसिंह के सम्बन्ध में अधिक छन्दों की रचना इसलिये की हो कि वे ही भावी बूँदीपति और उनके आश्रयदाता होने वाले थे, किन्तु मतिराम ने जहाँ कहीं भी राव भाऊसिंह का नाम लिया है वहाँ उन्होंने बूँदीपति ही कहा है जिससे इस भ्रम का निवारण हो जाता है। अवश्य ही ललितल्ला

१. छन्द नं० ७३, ७५, ७६, ७८, आदि। (ललितललाम, मतिराम ग्रंथावली)

उनके राज्यकाल में ही लिखा गया होगा जो संवत् १७१५ से लेकर १७३८ तक हो सकता है।

बादशाही के विरुद्ध उत्पन्न विद्रोह को शांत करने में राव भाऊ सिंह के पितामह राव राजा रत्नसिंह कीर्ति अर्जित कर चुके थे जो जहाँगीर के शासनकाल में दक्षिण में हुआ था। राव भाऊ सिंह के पिता औरंगजेब के विरोधी थे जो दिल्ली के तख्त पर अपने समस्त वैभव के साथ विराजमान था। औरंगजेब शत्रुता रहते हुए भी जो बूँदी को समाप्त नहीं कर सका इसके मूल में है राव भाऊ सिंह की वीरता जिसके कारण दिल्लीपति को बूँदी नरेश के साथ मित्रवत् व्यवहार करना पड़ा। इसी समय लगभग संवत् १७१७ में शिवाजी और औरंगजेब की छेड़-छाड़ आरम्भ हुई क्योंकि शिवाजी महाराज संवत् १७२३ में अपनी युक्ति से औरंगजेब की कैद से मुक्त हो चुके थे। औरंगजेब ने दक्षिण के इस विद्रोह को दबाने के लिये राव भाऊ सिंह से सहायता माँगी थी जिसका प्रमाण इतिहास में मिलता है। सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उन्होंने बूँदी छोड़कर औरंगाबाद में जाकर पड़ाव ही डाल दिया था जहाँ इनका बसाया एक ग्राम भावपुरा प्रसिद्ध है। इस घटना का वर्णन मतिराम ने अपनी कविता में किया है—

> "सूबनि कौं मेटि दिल्ली देस दलिबे कौं चमू,
> सुभट समूहनि शिवा की उमहति है,
> कहै मतिराम ताहि रोकिबे कौं संगर मैं,
> काहू के नहिम्मति हिए में उलहति है।
> सत्रुसाल-नंद के प्रताप की लपट सब
> गरबी गनीम बरगीन कौं दहति है,
> पति पातसाह की इजति उमरावन की
> राखो रैया राव भाव सिंह की रहति है॥"

निश्चित ही यह छन्द कवि के मुख से दरबार में या तो उसी समय निकला होगा जब औरंगजेब ने सहायतार्थ प्रार्थना की होगी अथवा जब राव भाऊसिंह को दक्षिण में थोड़ी शान्ति स्थापित करने में सफलता मिली होगी और यह समय संवत् १७१७ के लगभग है जो उपरोक्त छन्द का रचनाकाल हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'ललितललाम' का अन्तिम छन्द जिसमें राव भाऊसिंह को आशीर्वाद दिया गया है, द्रष्टव्य है। कवि ने उसमें 'नृप सत्रु साल नन्दन नवल' का प्रयोग किया है जिसके नवल शब्द से ऐसा लगता है कि इस छन्द के निर्माण काल तक राव भाऊसिंह को राज्य करते अधिक दिन नहीं बीता था। वे नये-नये सिंहासनारूढ़ हुए थे। यह छन्द ग्रंथ का अन्तिम छन्द है जिससे लगता है कि 'ललितललाम' का निर्माण राव भाऊसिंह के आरम्भिक राज्यकाल ही में हो गया था। इसके और भी प्रमाण संभावना के आधार पर दिये जा सकते हैं।

राव भाऊसिंह संवत् १७२० के पश्चात् पुनः दिल्ली गये, जहाँ इनका दो वर्ष रहना कहा जाता है। इस दिल्ली यात्रा के समय जो महत्वपूर्ण घटना घटी थी उसने इनका संमान

हिन्दुओं में देवता का सा कर दिया था।[१] इस अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना का वर्णन मतिराम की कविताओं में कहीं नहीं मिलता जब कि अधिक सम्भव है, वे भी 'राव साहब' के साथ दिल्ली में विराजमान थे, क्योंकि काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट में 'मतिराम' का औरङ्गजेब के दरबार में जाना लिखा है और वह समय इसे छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता। मतिराम के जीवन में और कोई ऐसे प्रसङ्ग मिलते ही नहीं जिसमें औरङ्गजेब के दरबार में उनका जाना सम्भव हो सके। साहित्य प्रिय सहृदय गुणग्राही आश्रयदाता राव भाऊसिंह के साथ इनका दिल्ली दरबार जाना सम्भव जान पड़ता है। कवि द्वारा ऐसी महत्वपूर्ण घटना का वर्णन न मिलने के कारण ऐसा लगता है कि उस समय तक ललितललाम की रचना हो चुकी थी। अतः इसका रचनाकाल संवत् १७१५ और १७२० के बीच सम्भव जान पड़ता है।[२] अधिक सम्भावना है कि मतिराम ने 'ललितललाम' की रचना राव भाऊसिंह के राज्यारोहण के दो या तीन वर्ष के भीतर ही की होगी, क्योंकि इसमें बहुत से छन्द रसराज से लेकर रख दिए गए हैं और रसराज ऐसे प्रौढ़ रचना करने वाले कवि के लिये 'ललितललाम' ऐसे ग्रन्थ रचने के लिये दो-तीन वर्षों के दिन कम नहीं है। यदि यह समय तीन वर्ष भी मान लें, तो अधिक से अधिक इसका रचनाकाल संवत् १७१८ हो सकता है।

मतिराम-सतसई

मतिराम-सतसई के अस्तित्व के सम्बन्ध में बहुत दिन हुए लोगों को सन्देह था किन्तु काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा जो प्राचीन पुस्तकों के सम्बन्ध में खोजकार्य होता है उसने इस संदेह का निराकरण कर दिया है। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों के १९०९–११ की खोजरिपोर्ट में जिसका विवरण दिया गया है, वह स्वदेशी कागज पर लिखी ५७ पृष्ठों की ९ इंच लम्बी ५½ इंच चौड़ी पुस्तक है जिसके श्लोकों की संख्या ८४० है[३]। मतिराम सतसई की यह प्रतिलिपि सर्वप्रथम हुसेनगंज निवासी (फतेहपुर)

---

१. राव भाऊसिंह संवत् १७२० के पश्चात् फिर दिल्ली गये थे। औरंगजेब ने इनको मनसब दिया था। दिल्ली में इनका रहना प्रायः दो वर्ष हुआ था। भगवान के विमान के निकलने में इन्होंने बड़ी दृढ़ता दिखलाई थी। कहते हैं औरंगजेब ने हिंदू नरेशों से बादशाह के साथ भोजन करने का प्रस्ताव किया था, जिसका अकेले इन्होंने ही विरोध किया था। केशवराय के मन्दिर की रक्षा में भी इनका हाथ था। अंतिम समय में इनकी इज्जत देवतों के समान हो गई थी।
'मतिराम ग्रन्थावली', पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० २४९।

२. Rasa Raja-A treatise on Nayaka Bheda i e. a description on a classification of the various kinds of heroes and heroines by the famous poet Mati Rama who attended the court of Aurajgzeb. (Annual Report on the Search for Hindi Mss. for the year 1900, by S, S. Das, p. 38).

३. No. 196—Mati Rama the writer of the 'Satasai' is a famous Poet. This is a new work of Mati Rama that has come to light. His three

पं० शिवदुलारे दुबे के यहाँ सुरक्षित थी, किन्तु उन्होंने इसे गंगा-पुस्तकमाला के स्वामी के हाथों बेच दी है जहाँ इसे पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देखा है[१]। इसमें लिपिकाल नहीं दिया गया है। पं० कृष्णबिहारीजी मिश्र को एक और खण्डित मतिराम-सतसई की प्रति पं० भवानीशंकरजी याज्ञिक के यहाँ देखने को मिली है जिसका कागज पं० शिवदुलारे दुबे की प्रति से मिलता-जुलता है। हो सकता है ये दोनों प्रतियाँ एक ही व्यक्ति की लिखी हों। खण्डित प्रति अधिक शुद्ध है जिसका विवरण मतिराम-ग्रन्थावली में आया है[२]। इसके अतिरिक्त १९२३-२५ में पुनः सतसई की हस्तलिखित प्रति का विवरण सम्मुख आया जो

---

works only were known to the general public, namely the Rasa Raja, the Lalit Lalam and the Chhand Sar Pingal..........Name of book—Satasai Mati Rama ki—

Name of Author—Mati Rama

Country made paper, leaves 57

Size—9" × 5½

Extent—840 Slokas.

Place of deposit Pandit Siv Dulare Dubey

Husenganj, Fatehpur.

(Report on the Search of Hindi for the year 1909-11 p. 285).

१. मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० २५२।

२. सतसई की जो खण्डित प्रति हमारे देखने में आई है, वह सम्पूर्ण प्रति के एक तिहाई अंश से अधिक नहीं है। अन्त के ५० पृष्ठ से लेकर ७२ पृष्ठ तक खण्डित नहीं है। यह स्पष्ट है कि इस हस्तलिखित प्रति में ७२ पृष्ठ थे। प्रत्येक पृष्ठ की लम्बाई साढ़े आठ इंच तथा चौड़ाई पाँच इंच के लगभग है। औसत से प्रत्येक सफे में १५ पंक्तियाँ हैं। कागज मोटा-खुरखुरा पुराने ढङ्ग का लगा है। लिपि सुन्दर, स्पष्ट तथा पक्की काली रोशनाई की है। बीच-बीच में लाल रोशनाई का भी प्रयोग हुआ है तथा पुस्तक हरताल लगाकर शुद्ध भी की गई है। 'कद्' नाम के किसी लेखक ने इसे लिखा है। पुस्तक लिखे जाने का संवत् भी दिया है। संवत् के आदि के १७ तथा अन्त का ४ तो बिल्कुल स्पष्ट है, पर बीच का अंश खुरच गया है, जिससे उसके पढ़ने में कुछ भ्रम होता है जो हो उपलब्ध प्रति संवत् १७९४ के बाद की लिखी तो किसी भी प्रकार से नहीं है। आजकल की देव-नागरी लिपि से उक्त लिपि में, व्यवहृत कुछ अक्षरों में भेद पड़ता है। उदाहरण के लिये उक्त प्रति में व्यवहृत 'भ' का रूप आजकल के 'क' से मिल जाता है। अन्तिम दोहे का नम्बर ७०३ है। खोज की रिपोर्ट में मतिराम सतसई के जो दो अन्तिम दोहे उद्धृत हैं, वे वही हैं जो इस प्रति में हैं भेद इतना ही पड़ता है, रिपोर्ट वाले अन्तिम दोहे का नं० ७०५ है और प्रति के (इस दोहे का ७०४)।...रिपोर्ट में 'भोगनाथ' के स्थान पर 'कोगनाथ' छपा है। यह भ्रम कदाचित् 'भ' और 'क' के रूप में समता होने के कारण हुआ है।...मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० २५३।

पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित, ग्राम मयी, पो० बटेश्वर, जिला आगरा के पास है। इस प्रति के श्लोकों की संख्या ७१९ है।[1] पुस्तक के अन्त में 'विविध विषय के ७०५ दोहों के संग्रह समाप्त' लिखा है।

मतिराम सतसई की एक हस्तलिखित प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा की कृपा से मेरे देखने में आई। इस प्रति का कागज नया है और यह ६४ पृष्ठों की पुस्तक रजिस्टर साइज में लिखी है। इसका लिपिकाल जे० कृ० १५ सं० १९८२ दिया हुआ है जो सभा में हस्तलेख संख्या ९६६ पर सुरक्षित है। पुस्तक का आरम्भ श्री गणेशाय नमः से हुआ है और तत्पश्चात् ॥ श्री मतिराम-सतसई ॥ लिखा हुआ है। वन्दना—

मो मन तम-तोमहिं हरौ, राधा कौ मुख-चंद।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नंद-नन्दन-आनंद ॥ १ ॥

से लेकर दोहे नंबर ४ तक है। सुन्दरी वर्णन का आरम्भ—

नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर।
जैसी करत गँवारि के दृग-धनुही के तीर ॥ ५ ॥

नामक दोहे से ही हुआ है। बीच-बीच में बहुत से दोहों की संख्या तो दी गई है किन्तु दोहे नहीं लिखे हुए हैं।[2] अन्त में आशीर्वाद और प्रार्थना के दो दोहे हैं—

तिरछी चितवनि स्याम की, लसति राधिका ओर।
भोगनाथ कौं दीजिये, यह मन सुख बर जोर ॥७०२॥
मेरे मति में राम हैं, कवि मेरे मतिराम।
चित मेरो आराममय, चित मेरें आराम ॥७०३॥

॥ समाप्त ॥

प्रायः सभी प्राप्त प्रतियों के आरम्भिक दोहे एक से लेकर ५ तक मिल जाते हैं। पं० भवानीशंकर याज्ञिक की खंडित प्रति में आदि और मध्य के जो दोहे नहीं हैं और खोज-रिपोर्ट में दिए गए हैं, वे ये हैं—

मो मन तम तोमहिं हरौ राधा को मुख-चन्द,
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंद-नंदन आनन्द।
गुंज गुंज को हार उर, मुकुट-मोर-पर पुंज,
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन-कुंज।

---

1. No. 276 (b) Mati Rama Satsai by Mati Rama of Banapur (Cownpur) 719 Slokas. Place of Deposit Bhagi Rathi Pd. Dikshit, village Mai, Post Office Bateswara, District Agra, (Report on the Search of Hindi Mss, for the year 1923-24-25).

२. सभा द्वारा प्राप्त प्रति में न पाये जाने वाले दोहे—नं० ११४, ११९, २०२, ३१२, ३३६, ३६२, ३६९, ३००, ६०६, ६०९, ६३६, ६०४।

रति नायक सायक सुमन, सब जग जीतन वार,
कुवलय-दल सुकुमार तन, मन कुमार वय मार।
राधा मोहनलाल को जाहिन लावत नेह,
परियो मुठि हजार दस ताकि आँखिन खेह। (आदि)
तेरी मुख समता करी साहस करि निरसंक,
धूरि परी अरविंद मुख, चंदहि लग्यो कलंक
खेलत मार सिकार हैं डोरे पास समेत,
नैन-मृगन सों बांधि कै, नैन मृगन गहि लेत। (मध्य)

रचना-काल

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इसे रसराज और ललितललाम के बाद की लगभग संवत् १७२५ और १७२५ के बीच की रचना मानी है[1]। इसमें किसी भोगनाथ नामक एक सहृदय व्यक्ति का नाम आया है जिसे कवि ने 'नरनाथ' कह कर संबोधित किया है। लोगों ने यही अनुमान कर लिया है कि 'सतसई' की रचना इन्हीं महाराज के लिये हुई थी। लगता है यह भ्रम लोगों को बिहारी सतसई के सामने रहने के कारण हुआ है जिसे उन्होंने अपने आश्रयदाता के लिये बनाई है। अपने आश्रयदाता के यहाँ से बिहारी ने एक-एक दोहे का मूल्य पाया था जो परम्परा-सिद्ध है। किन्तु बूँदी के राव भाऊसिंह को छोड़कर मतिराम के अन्य किसी जनद आश्रयदाता का नाम प्रमुख रूप से नहीं लिया जाता, यद्यपि ये कवि महाराज कई अन्य दरबारों तक पहुँचे थे। 'भोगनाथ' के सम्बन्ध में अब तक इतना भी नहीं ज्ञात हो सका है कि ये महाराज कहाँ के राजा थे तथा इन्होंने कब से कब तक राज्य किया और मतिराम का सम्बन्ध इनसे क्योंकर हुआ। इनके सम्बन्ध में लिखे दोहों से तो इतना ही पता लगता है कि वे सुरेन्द्र की भाँति बृहस्पत रूपी गुरुजन की बातें कल्याणार्थ सुनते रहते हैं तथा देवताओं के समान ज्ञानी पुरुषों से सदा घिरते रहते हैं। चरण में आए हुए व्यक्तियों का पालन करना, दान तथा युद्ध के समय धैर्य रखना आदि इनके रसिक जीवन की स्वाभाविक विशेषताएँ थीं—

'सुनत सदा गुरु बचन हित, रहत बिबुद गन साथ,
भोगनाथ यह जानियत, सदा भूमि सुरनाथ।
सरनागत पालक महा, दान युद्ध अति धीर,
भोगनाथ नरनाथ यह, पग्यो रहत रस बीर।

उपरोक्त दोहों से केवल 'भोगनाथ' जी के स्वाभाविक गुणों को छोड़कर अन्य किसी विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में इन्हें राजा और मतिराम का आश्रयदाता मान लेना उचित नहीं जान पड़ता है। उनके पीछे लगा नरनाथ शब्द कवि प्रशस्ति से अधिक और कुछ नहीं जान पड़ता। दरबारों का आश्रय न मिलने के पूर्व या बाद में उन्होंने किसी प्रकार की सहायता मतिराम को पहुँचाई होगी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने उनके सम्बन्ध में उपरोक्त दोहे कहे होंगे और प्रतिलिपिकारों ने जब मतिराम सतसई के

1. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० २२१।

बिखरे फुटकल दोहों को इकट्ठा किया होगा तो उसे बिहारी सतसई की तौल पर ग्रन्थ का आकार देने के लिये ये सारी औपचारिकता की होगी। जब तक ऐसी कोई हस्तलिखित प्रामाणिक प्रति मतिराम की लिखी न मिल जाय तब तक हम 'भोगनाथ' जी को इससे अधिक महत्व देने का कोई कारण ही नहीं पाते। भोगनाथ से सम्बन्ध रखने वाले दोहों की रचना तिथि हम संवत् १७२५ और १७३३ के बीच मान सकते हैं, किन्तु यह पुस्तक का रचना-काल नहीं हो सकता। इस तिथि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सन्देह की गुंजाइश है, क्योंकि यह वह समय है जबकि बूँदी में मतिराम जी का सर्वाधिक सम्मान था और उन्हें पर्याप्त धन और यश की प्राप्ति हुई थी। बूँदी नरेश राव भाऊसिंह संवत् १७१५ में सिंहासनारूढ़ हो चुके थे और उन्होंने संवत् १७३८ तक सम्पूर्ण वैभव के साथ राज्य किया। 'ललितललाम' में मतिराम जी राव भाऊसिंह की सहृदयता तथा दान-वीरता का वर्णन करते नहीं अघाते। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि इसी समय कवि को रिड़ी-चिड़ी नामक दो गाँव, २२ हाथी तथा रत्नों के साथ बहुमूल्य वस्त्र राव भाऊसिंह की ओर से मिले थे। ऐसी स्थिति में कोई कारण नहीं जान पड़ता कि कल्पवृक्ष रूपी राव भाऊ की छाया छोड़ कर कवि को भोगनाथ रूपी पीपल की छाया पसन्द आई होगी। सतसई में राव भाऊसिंह की प्रशंसा में दोहे नहीं मिलते जिससे यह कभी भी इस काल की रचना नहीं हो सकती। इसकी रचना या तो संवत् १७२८ के पश्चात् या संवत् १७१५ के पूर्व हुई होगी जब कि मतिराम जी को राव भाऊसिंह का आश्रय नहीं मिला था।

मतिराम ने 'सतसई' के दोहों की रचना ग्रन्थ लेखन को लक्ष्य मानकर किया अथवा उनके जीवन में ही उसे यह स्वरूप दे दिया गया था आदि बातें भी विचारणीय हैं। जिस दोहे को 'भोगनाथ' को आशीर्वाद देने के लिए लिखा बतलाया जाता है, उससे जिस व्यक्ति का स्वरूप सामने आता है वह एक गम्भीर राजा का चित्र नहीं कहा जा सकता—

'तिरछी चितवनि स्याम की, लसति राधिका ओर।
भोगनाथ को दीजिये, यह मन सुख बर जोर' ॥ ७०२ ॥

ये अवश्य ही रसिक जीव कोई छोटे-मोटे सामन्त या जागीरदार नामधारी राजा थे जिनके निकट मतिराम आये थे।

इसमें सन्देह नहीं कि 'मतिराम-सतसई' के दोहों की रचना एक निश्चित काल-सीमा के भीतर नहीं हुई थी। इनकी रचना कवि द्वारा विभिन्न समय पर होती रही है। सतसई के लगभग अढ़ाई सौ दोहे रसराज और ललितललाम के उदाहरणों में बिखरे पड़े हैं। इनमें से अधिकांश तो तद्वत् सतसई में ले लिए गए हैं और कुछ ऐसे हैं जिनमें विषयानुकूल पाठान्तर कर लिया गया है—

'बाल निहाल भई लखे ललित लाल मुख इन्दु।
मनु पियूस बरषा भई, नैननि झलके बिन्दु ॥२१३॥ सतसई (ग्रन्थावली)
× × ×

बाल रही इक टक निरखि, लाल बदन अरविन्दु।
सियराई नैननफरी, पियराई मुख इन्दु ॥३३२॥ रसराज
× × ×

बाल रही इकटक निरखि ललित लाल मुख इन्दु ।
रीझ भार अखियाँ थकीं, झलके श्रम जल बिन्दु ॥११०॥ ललितललाम

इससे स्पष्ट है कि पाठान्तरित दोहे मूल रूप में रसराज और ललितललाम से पूर्व के होंगे जिन्हें उदाहरणों में सटीक बैठाने के लिये कवि ने तदनुकूल परिवर्तित कर लिया है। इस प्रकार मतिराम-सतसई का आरम्भ उस समय हो गया था, जब 'रसराज' और 'ललितललाम' की रचना नहीं हुई थी। जो दोहे इनकी किसी रचनाओं में नहीं मिलते अवश्य ही उनकी रचना समय-समय पर होती रही है जो भोगनाथ सम्बन्धित दोहों की रचना के बाद 'मतिराम-सतसई' के नाम से संग्रहीत कर दिए गए होंगे या कवि ने स्वयं अपने पिछले दिनों में कर लिया होगा। भोगनाथ का समय संवत् १७१५ और १७२० के पहले और पीछे कभी भी हो सकता है।[1] ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि 'मतिराम-सतसई' का संग्रह कब और किसने किया, किन्तु इतना निर्विवाद है कि इसके अनेक श्रेष्ठ दोहे 'रसराज' और 'ललितललाम' की रचना के पूर्व ही लिखे जा चुके थे।

अलंकार-पंचाशिका

मतिराम का अलंकार-पंचाशिका नाम से लिखा अलंकारों पर एक छोटा-सा ग्रन्थ मिलता है। इसमें चुने हुए ५० अलंकारों का वर्णन चन्द्रालोक के आधार पर किया गया है—

'संसकिरत कौ अर्थ लै भाषा शुद्ध बिचार।
उदाहरन क्रम ए किये लीजो सुकवि सुधार॥

यह पुस्तक कुमायूँ-नरेश उदोतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिये लिखी गई है—

ज्ञानचन्द के गुन घने, गनै मनै गुनवन्त।
बारिधि के मुक्तान को, कौनै पायौ अंत॥

---

1. रसराज के दोहे सतसई में, दोहा नं०—८, १२, १३, १८, २१, २४, २६, ३९, ५१, ५२, ५५, ५९, ६६, ७७, ८४, ८५, ९१, १००, १०२, १०३, १०५, १०७, ११७, ११९, १२०, १२२, १२८, १४०, १६३, १६८, १७०, १७३, १७९, १८६, १८८, १९१, १९३, २०३, २०४, २१३, २१५, २३०, २४०, २४२, २४३, २४४, २४५, २४८, २५०, २५३ २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८६, २८७, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०३, ३०५, ३०८, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२१, ३२३, ३२५, ३२९, ४००, ५२६, ५२९, ५३९, ५५०, ५५१, ५५५, ५८८, ५८९, ५९४, ५९७, ६०१।

ललितललाम के दोहे सतसई में, दोहा नं०—१२, १३, १८, २७, ४३, ६५, ६६, [illegible], ९०८, १०३, १८८, १९२, २०४, २१३, २१६, २१८, २२३, २३०, २३१, २३८, [illegible], ३१४, ३२०, ३२५, ३३४, ३३९, ३४३, ३४४, ३४५, ३५८, ३६१, ३६३, ३७३, ३८०, ३८९, ३९१, ३९२, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४४२, ४४४, ४६९, ४७०, ४७१। (देखिये परिशिष्ट)

'तदपि यथामति सों कह्यो, शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकार पंचासिका, रची रुचिर मतिराम ॥'

इस पुस्तक का मतिराम के जीवन-परिचय सम्बन्धी बातों का पता लगाने में महत्व-पूर्ण स्थान है, क्योंकि यह इनकी एकमात्र अन्तिम पुस्तक मिलती है जिसका ऐतिहासिक सूत्रों द्वारा पता लगाया जा सकता है। पुस्तक के रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है केवल पुस्तक से इतना ही जाना जा सकता है कि इसे कवि ने महाराज उद्योत-चन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिये बनाया था। मतिराम उद्योतचन्द के दरबार में ज्ञानचन्द के राजा होने के पूर्व उपस्थित थे जिसका प्रमाण एक किंवदन्ति से लगता है, जिसका उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में भी मिल जाता है। शिवसिंह सरोज में भूषण से सम्बन्ध रखने वाली एक घटना का इस प्रकार उल्लेख है। "भूषण जी थोड़े दिन घर में रह बहुत देशान्तरों में घूमि-घूमि रजवारों में शिवराज का यश प्रगट करते रहे, जब कुमायूँ में जाय राजा कुमायूँ के यश में यह कवित्त पढ़ा—

'उलहत मद उनमद ज्यों जलधि, जल, बल हद भीम कद काहू के न आह के।
प्रबल प्रचंड गंड मंडित मधुप वृन्द, विंध्य से विलंद सिंह सातहू के थाह के ॥
भूषन भनत झूल झंपति झपान झुकि, झूमत झुलत झहरात रथ डाह के।
मेघ से घमंडित मजेजदार तेज पुंज, गुंजरत कुंजर कुमायूँ नर नाह के ॥

तब राजा ने सोचा कि ये कुछ दान लेने आये हैं और हमने जो सुना था कि शिवराज ने लाखों रुपया इनको दिया, सो सब झूठ है ऐसा विचारि हाथी घोड़े मुद्रा बहुत कुछ भूषण के आगे किया, भूषण जी बोले इसकी अब भूख नहीं हम इसलिए यहाँ आये थे कि देखें शिवराज का यश यहाँ तक फैला है या नहीं।[१]" कहा जाता है कि भूषण के इस व्यवहार से महाराज उद्योतचन्द ने रुष्ट होकर कवियों का दरबार में आना बन्द कर दिया था जिस पर मतिराम ने निम्नांकित छन्द लिखा था—

'करन के विक्रम के भोज के प्रबन्ध सुनो
कैसी भाँति कबिन को आगे लीजियतु है,
कवि 'मतिराम' राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है।
एकके गुनाह नरनाह श्री उदोतचन्द,
कबिन पै एतो कहा रोष कीजियतु है,
काहू मतवारे एक अंकुश न मान्यो तो
दुरद दरबारन ते दूरि कीजियतु है!'[२]

उपरोक्त छन्द में मतिराम कवि का नाम दिया हुआ है जिससे किसी मतिराम नामक कवि का दरबार में रहना स्पष्ट है जिसने ही अलंकार पंचाशिका की रचना की है, क्योंकि उसमें भी कवि नाम दिया हुआ है। किन्तु इस घटना का उल्लेख कुमायूँ के इतिहास में

१. शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, तृतीय संस्करण, पृ० ११८।
२. मतिराम ग्रन्थावली (सं० कृष्णबिहारी मिश्र) से उद्धृत।

भूषण के साथ नहीं बल्कि किसी मदन कवि के साथ है। इतिहासकार ने जिसके सम्बन्ध में लिखा है कि 'ऐसा कहा जाता है कि मदन कवि भी इनके यहाँ थे। राजा कवि से रुष्ट हो गये। उन्हें देश निकालने का हुक्म हुआ। कवियों को भी दरबार में आने से रोका गया तब कहते हैं कविवर मतिराम ने यह कविता लिख कर राज दरबार में भेजी "कर्ण के भोज ......कीजियतु है।'[1]

इस इतिहास में मतिराम को सतारागढ़ के महाराज साहू का राजकवि कहा गया है और बताया गया है कि ये महाकवि सतारागढ़ से ही कुमायूँ राजा के दरबार में आये। किन्तु आने वाले कवि का नाम इतिहासकार ने 'मतिराम' नहीं बल्कि 'मनिराम' लिखा है[2] जिसने निम्नांकित कवित्त बनाकर राजा को सुनाया और राजा ने प्रसन्न होकर दस हजार रुपये तथा एक हाथी इनाम में दिया—

'पूरन पुरुष के परम दृग दोऊ जानि
    कहत पुरान बेद बानी यों ररति गई,
कवि 'मतिराम' दिनपति औ निसापति यों
    दुहुन की कीरति दिसान माँझ मढ़ि गई।
रवि के करन भए एक महादानि यह
    जानि जिय, आनि चिंता चित माँझ चढ़ि गई,
तोहि राज बैठत कुमायूँ श्री उदोतचंद,
    चंद्रमा की करक करेजे हूँ ते बढ़ि गई॥'

उपरोक्त छन्द इसी रूप में शिवसिंह सरोज में भी उद्धृत है किन्तु कुछ लोगों ने इसे पाठांतर के साथ उद्धृत करके 'भूषण' का लिखा सिद्ध करना चाहा है और छन्द इस प्रकार उद्धृत किया है—

'पुराण पुरुष के परम दृग दोऊ आहैं,...कहत बेद बानी यों पढ़ि गई।
ये दिवसपति के निशापति जोत करैं, काहू की बढ़ाई बढ़ाये ते न बढ़ गई।
सूरज के घर में करन महादानी भयो, यहै सोचि समुझि चिते चिंतामढ़ि गई।
अब तोहि राज बैठत उदोतचंद चंद के कर्ण की फिरक करेजो सों कढ़ि गई।'

इस छन्द की पहली पंक्ति के उत्तरार्द्ध के आदि तीन अक्षर कम पड़ते हैं जिसके संबंध में इसे भूषण का मानने वालों का कहना है कि वहाँ भूषण ही था जो छूट गया है। किन्तु इस क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। शिवसिंह सरोज में उद्धृत छन्द शुद्ध है एवं उसमें मतिराम कवि का नाम लिखा हुआ है। इतिहासकार को इस सम्बन्ध में भ्रम हुआ है। मनिराम के आने की बात जो इतिहासकार ने लिखी है, उसके सम्बन्ध में उसके मन में 'भूषण' के आने की बात अवश्य थी जिनका सम्बन्ध सतारागढ़ से रहा

---

१. कुमाऊँ का इतिहास, बद्रीदत्त पांडेय, प्रथम संस्करण, पृ० ३०३।

२. कहते हैं कि सतारागढ़ साहू महाराज के राजकवि 'मनिराम' राजा के पास अल्मोड़े आ के थे—कुमाऊँ का इतिहास, बद्रीदत्त पांडेय, प्र० सं०, पृ० ३०३।

है। भूषण के असली नाम का पता लगाने में जो क्लिष्ट कल्पना की गई है उससे भी काफी भ्रम फैला है। 'सबसे पहले यह घोषणा की गई कि इनका नाम 'पतिराम' था (विशाल भारत, श्रावण, १९८७ वि०)। यह नाम उनके भाई मतिराम के वजन पर था। पर भाट को धोखा मतिराम के 'म' को 'प' पढ़ने-समझने से हुआ फिर दूसरे महाशय ने खोज की 'पतिराम' नहीं 'मनिराम' नाम था। यहाँ भी 'मतिराम' के 'त' ने 'न' बनकर या लक्षित होकर भ्रम में डाला है[1]।'

जार्ज ग्रियर्सन ने कन्नौज के 'मनिराम' कवि मिसर का उल्लेख किया है[2]। कुमाऊँ के इतिहास में बदरीदत्त पाण्डेय ने लिखा है कि महाराज उद्योतचन्द के यश की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई थी। 'इसी सबब कन्नौज, गुजरात, दक्षिण के बड़े-बड़े विद्वान पण्डित राज-दरबार में पड़े रहते थे और दान व दक्षिणा बराबर पाते थे[3]।' हो सकता है कि आने वाले कन्नौज के मनिराम कवि मिसर ही रहे हों जिनका उल्लेख ग्रियर्सन साहब ने किया है। किन्तु ये इसलिये वे 'मनिराम' नहीं हो सकते, क्योंकि इनका जन्म सन् १७८२ ई०[4] में हुआ था और राजा उद्योतचन्द सन् १६९८ में स्वर्गवासी हो चुके थे[5]। ग्रियर्सन ने शिवसिंह सरोज के आधार पर इस मनिराम कवि मिसर का उल्लेख किया है जिसकी सूचना मिश्रबन्धुओं ने भी तद्वत् दी है।[6] इसके अतिरिक्त 'मिश्रबन्धुविनोद' में एक 'मनिराम' का और भी उल्लेख है किन्तु इनका कविता-काल १८४० के पूर्व का है,[7] जिससे इनका भी उद्योतचन्द के यहाँ जाना संभव नहीं है।

जहाँ तक मदन कवि का प्रश्न है एक भी ऐसे कवि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता जो उद्योतचंद के राज्यकाल के बीच रहा हो। मिश्रबन्धुविनोद में मदनमोहन और मधुसूदन कवि का उल्लेख आया है किन्तु एक का जन्मकाल १८२३ और दूसरे का संवत् १६८१ है जिससे एक का भी मदन कवि होना असंभव है। जो हो, मतिराम का रहना स्पष्ट है, क्योंकि सभी विद्वानों ने उल्लेख किया है। विवाद रहा है तो भूषण और मदन नाम पर तथा सतारागढ़ से आने पर ही। लगता है लोगों ने मतिराम के पहले से रहने की बात को मदन के साथ और आने की बात भूषण के स्थान पर मनिराम या मतिराम के साथ जोड़ दी है।

सतारागढ़ के साहू जी ने कब से कब तक राज्य किया इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु इतना निश्चित है कि उनके पिता सम्भाजी को औरंगजेब ने सन् १६८९ में कैद किया जिसके बाद ही साहू जी राजा हुए होंगे। ऐसी स्थिति में सतारा से भूषण अथवा

---

१. भूषण, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १०२।
२. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, अनु० किशोरी लाल गुप्त, प्र० सं०, पृ० २२५।
३. कुमाऊँ का इतिहास, बदरीदत्त पाण्डेय, प्र० सं०, पृ० ३०२।
४. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, अनु० किशोरी लाल गुप्त, प्र० सं०, पृ० २२५।
५. कुमाऊँ का इतिहास, बदरीदत्त पांडेय, प्र० सं०, पृ० ३०१।
६. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय संस्करण, पृ० ७५४।
७. वही, पृ० ९२१, ८२२।

मतिराम का आना सन् १६८९ और १६९८ के बीच ही हुआ होगा। एक साहू जी का सिंहासनारूढ़ होने का काल है और दूसरा उद्योतचन्द का मृत्यु-काल। अलंकार-पंचाशिका की रचना इसी के बीच हुई होगी ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में ज्ञानचंद को महाराज न कह कर कुमार कहा है और लिखा है कि कुमारावस्था में ही इनकी कीर्ति का प्रकाश हो गया था—

'तिनके राजकुमार घर ज्ञानचंद कुलचंद,
कुवलय कोविद कबिन कौं बरसै सुधा अमंद।
यों कुमारता ही भयो जहाँ तहाँ परगास,
अरुन उदै ही होत ज्यों अन्धकार कौ नास॥ अलंकार-पंचाशिका

कुमाऊँ के इतिहास में भी इसका उल्लेख है कि ज्ञानचन्द ने पिता के जीवनकाल में ही कार्य भार सम्भाल लिया था।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजकुमार की अवस्था में ही ज्ञानचन्द जी यशस्वी हो गए थे जिनके लिये कविवर मतिराम ने या तो शिक्षा देने के लिये अथवा सम्मानार्थ अलंकार-पंचाशिका लिखी होगी, जिसका रचनाकाल संवत् १७४६ से संवत् १७५५ के बीच का ही हो सकता है। मतिराम उद्योतचन्द के ही राजाश्रय में रहे ऐसा उनकी प्रशस्तियों से जान पड़ता है। उद्योतचन्द के हाथियों के वैभव पर महाकवि मतिराम रीझ गए थे और उन पर उन्होंने सुन्दर रचनाएँ की हैं।

छंदसार पिंगल

मतिराम ने एक छोटा सा पिंगल ग्रन्थ भी 'छंदसार पिंगल' के नाम से लिखा था। हिन्दी खोज रिपोर्ट १९१२, १३, १४ में इस पुस्तक का विवरण आया है। 'मतिराम नाम से लिखी हुई यह पुस्तक स्वदेशी कागज पर लिखी १०½ इंच लम्बी और ७ इंच चौड़ी है। इसमें कुल मिलाकर १३५ श्लोक हैं जो गन्धोली निवासी जिला सीतापुर के श्री पण्डित युगलकिशोर जी के यहाँ सुरक्षित है।'[2] इस पुस्तक के रचनाकाल तथा लिपिकाल के सम्बन्ध में इससे कुछ पता नहीं चलता।

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा संगृहीत हस्तलिखित पुस्तकों में मैंने 'छन्दसार पिंगल की एक प्रति देखी है। यह प्रति अत्यंत जीर्णावस्था में है जिसका लिपिकाल संवत् १८९२ है। पुस्तक का आरम्भिक अंश नहीं फटा है किन्तु बाद के पृष्ठ नहीं हैं। प्रतिलिपि के अक्षर अत्यंत पुराने ढंग के हैं जो कठिनाई से पढ़े जा सकते हैं। परिश्रम करने के बाद ही मैं दस, पंद्रह श्लोक पढ़ पाया। ये श्लोक गद्य की भाँति एक दूसरे से मिले हैं जिससे और भी पढ़ने में असुविधा होती है—

---

१. १६९८ में गद्दी पर बैठे। वैसे राजकाज इनके पिता उद्योतचन्द ने इन्हें पहले ही सौंप दिया था।—कुमाऊँ का इतिहास, बद्रीदत्त पाण्डेय, प्र० सं०, पृ० ३०४।

२. Chhandsar Pingal—Country made paper, size 10½ × 7 inches 135 Slokas—Place of deposit—Pandit Jugal Kisora Misra, Gandhauli district Sitapur. (Search for Hindi Mss.) 1912, 13, 14, p. 144.

आरम्भ

श्रीगणेशाय नमः ॥ अथ मतिराम पिंगल लिषिते छंद गवरिगोदमिहिमोद मंगल मोदकर वीलसत सुखकंद वंदन वल्लित लल्लित उत मंगल हास गहि सुभग जगमगी प्रचंद इमि सरूप सुभग गज मुष ध्यावत सरसावत बहु विधि वरछंद मंगल करन हरन अघ सीचे जै जै सिधि सदन सिवनंद १

व्यापिक सकल विस्व वरदायक त्रै विधि ताप हरत्त करकंद अनुचर रत्त भंजन भव भंजन गलपेवीस हो रत्तन हा सुष कंद कुंजर सुंड तुंड झकझोरत तोरत अघ तरिवर दुख दंद अषिल लोक नायक नीर्मल गुन जै जै सीधि सदन सिवनंद २

इस प्रकार हम देखते हैं, कि यह प्रतिलिपि अत्यंत अशुद्ध लिपि में लिखी है। यह सभा के हस्तलेख संख्या ९६२ पर सुरक्षित है। इसी के साथ सुखदेव मिश्र का 'रस रत्नाकर' भी है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अनुमान लगाया है कि इस पुस्तक की रचना श्रीनगर के फतेह साहि बुंदेला के लिये हुई थी और सम्भवतः इसकी रचना संवत् १७०० और १७१० के बीच हुई होगी।[1] जब तक और कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं हो जाती तब तक इस पुस्तक के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। प्राप्त सूचनाओं एवं अंशों के आधार पर तथा इसके छन्दों और वर्ण्य विषय को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी रचना 'ललितललाम' के पूर्व हुई होगी। 'ललितललाम' की रचना संवत् १६१५ के बाद ही हुई है। इससे इनका रचनाकाल संवत् १६१५ के पूर्व का ही होना सम्भव जान पड़ता है। पं० भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित इस 'छन्दसार पिंगल' को 'वृत्त कौमुदी' नामक 'मतिराम' के नाम से कहे जाने वाले एक ग्रन्थ से अभिन्न मानते हैं, जिसकी चर्चा हम आगे 'वृत्त कौमुदी' के प्रसंग में करेंगे।

मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार 'छन्दसार पिंगल' ग्रन्थ मतिराम ने महाराज शंभुनाथ सुलंकी के नाम बनाया। ये महाराज स्वयं अच्छे कवि थे और कवियों का सम्मान भी खूब करते थे[2]। उनका कविताकाल संवत् १७०७ के लगभग है[3]। किन्तु ये शंभुनाथ सोलंकी और कोई नहीं शिवाजी के पुत्र शम्भाजी थे जिसे इतिहास न जानने के कारण 'सरोजकार' और 'विनोदकार' दोनों ने शंभुनाथ सोलंकी लिख दिया[4]। छत्रपति शिवाजी की

१. कहा जाता है कि श्रीनगर के फतेहसिंह बुंदेला के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसका निर्माणकाल अनिश्चित है, पर अनुमान किया जाता है कि यह संभवतः १७०० और १७१० के बीच बना होगा। (मतिराम-ग्रंथावली, तृ० सं०, पृ० २२१)।

२. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४५।

३. मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ४२६।

४. 'शंभु या नृप शंभु सतारे के राजा शंभाजी मरहठा सेवाजी के बेटे थे। सोलंकी नहीं थे। यह भूल 'शिवसिंह सरोज' से मिश्रबन्धुविनोद में भी, इतिहास न जानने से आ गई है। सतारा बम्बई हाते में है। कोल्हापुर महाराज नृप शंभु के घराने के हैं। नृप शंभु ने कविता कवि कलश से सीखी थी।' —मुंसिफ देवीप्रसाद का पत्र उद्धृत मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० २५१।

मृत्यु संवत् १७३७ में हो गई थी। उसके बाद शम्भाजी पदासीन हुए। इसके अतिरिक्त कृष्णबिहारी जी मिश्र ने इसे श्रीनगर के फतेहसिंह बुन्देला के लिये लिखी बताया है जिससे पर्याप्त प्रमाण न मिलने के कारण उपरोक्त दोनों बातें विश्वसनीय नहीं जान पड़तीं।

साहित्यसार

'साहित्यसार' मतिराम का नायिका भेद पर लिखा हुआ १० पृष्ठों की ३¾ इंच लम्बी और ३ इंच चौड़ी है जिसमें ३३ श्लोक हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर आठ लाइने लिखी गई हैं। यह प्रति दतिया राज्य-पुस्तकालय में सुरक्षित है[1]। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी इसी प्रति का जिक्र मतिराम-ग्रन्थावली में किया है जिसका प्रतिलिपिकाल सं० १८३७ का है। इसके अनुसार इस ग्रन्थ की रचना संभवतः १७४० में हुई होगी[2]। किन्तु मतिराम के रचना-क्रम को देखते हुए यह अनुमान ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि रसराज ऐसे प्रौढ़ नायिका भेद का ग्रन्थ लिखने के बाद साहित्यसार ऐसे ग्रन्थ की रचना उचित नहीं जान पड़ती। यदि इसे रसराज के पूर्व की रचना मानी जाय तो अधिक उचित जान पड़ता है।

लक्षण-शृंगार

साहित्यसार की भाँति यह १४ पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है जिसमें कवि ने भावों और विभावों का वर्णन किया है। यह भी खोज रिपोर्ट में उद्धृत है। जिस प्रति का विवरण खोज रिपोर्ट में दिया गया है वह स्वदेशी कागज पर लिखी देवनागरी में ९½ इंच लम्बी तथा ६ इंच चौड़ी पुस्तक है। श्लोकों की संख्या १९५ है जो प्रत्येक पृष्ठ पर १३ लाइन के क्रम से लिखे गये हैं। देखने में प्रति नई जान पड़ती है और बिजावर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित है।[3] इसी प्रति का विवरण संभवतः पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र ने भी दिया है जो प्रति संवत् १८२२ की लिखी हुई है। उन्होंने इसका रचनाकाल अनुमान से १७४५ के लगभग स्वीकार किया है।[4] जिस प्रकार के संदेह 'साहित्यसार' के सम्बन्ध में हो सकते हैं वे ही लक्षण शृंगार के संबंध में उठाये जा सकते हैं।

---

१. No. 196 (b) साहित्यसार by मतिराम त्रिपाठी verse. Substance—Country made paper leaves–10 size 3¾ × 3 inches lines–8 on a page-extent—33 Slokas Place of deposite State Library Dattia.

२. यह १० पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है। इसमें नायिकाभेद का वर्णन है। इसकी हस्तलिखित प्रति दतिया-राज्य के पुस्तकालय में मौजूद है। यह प्रति सं० १८३७ की लिखी हुई है। ग्रंथ संभवतः १७४० में बना होगा।

(मतिराम-ग्रंथावली, तृतीय संस्करण, पृ० २१२)।

३. No. 196 (c) लक्षण-शृंगार by मतिराम त्रिपाठी verse Substance-Country made paper leaves 14-size 9½ × 6 inches, lines 13 on a page-Extent 195 slokas, appearance new Deve Nagari place of Deposit State Library Bijawar. (Search for Hindi Mss. for the year 1906,7,8- p. 311, Nagari Pracharini Sabha).

४. यह १४ पृष्ठों का छोटा सा ग्रंथ है। इसमें भावों और विभावों का वर्णन है। हस्तलिखित प्रति संवत् १८२२ की लिखी हुई है और बिजावर-राज्य के पुस्तकालय में

वृत्त कौमुदी

पं० भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित वृत्त कौमुदी को महाकवि मतिराम की रचना मानते हैं और उनका कहना है कि मतिराम के नाम से जो एक छन्दसार पिंगल प्रसिद्ध है वह भी इसी वृत्त कौमुदी का अंश है, क्योंकि इस ग्रंथ के अन्त में भी छन्दसार संग्रह दिया हुआ है।[1] पर क्या इस संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि किसी सहृदय संकलनकर्ता ने 'वृत्त कौमुदी' संग्रह तैयार करते समय 'मतिराम' की इन कविताओं को भी उसके साथ संगृहीत कर दिया। इस सम्बन्ध में इसके पूर्व वृत्त कौमुदी की चर्चा करते समय मैंने यही अनुमान लगाया है कि या तो यह पुस्तक जाली है अथवा किसी अन्य मतिराम नामधारी साधारण कवि ने स्वनामधारी महाकवि मतिराम को आदर्श मानकर अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित करने के लिए ऐसा प्रयास किया है। जो प्रति दीक्षित जी को मिली है और उसके सम्बन्ध में उन्होंने जो विवरण प्रस्तुत किए है उनमें उन्होंने यह कहीं नहीं स्वीकार किया है कि उक्त हस्तलिखित प्रति मतिराम के हाथों की लिखी है। जब वे भी इसे मतिराम के नाम से अन्य किसी द्वारा प्रतिलिपि की हुई मानते हैं तो क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि लिपिक ने इन दो संग्रहों को एक साथ संगृहीत कर दिया है। मुझे मतिराम की कई ऐसी प्रतिलिपियाँ मिली हैं जो अन्य कवियों की कृतियों के साथ संगृहीत हैं जिनका उल्लेख मैंने उनके रचनाकाल के प्रसंग में किया है। ऐसी स्थिति में एक नाम के कवि होने के कारण इन दो संग्रहों में अभेद का आ जाना सम्भव है। अतः इस आधार पर कि 'वृत्त कौमुदी' के नीचे छन्दसार संग्रह भी लिखा है, यह कह देना कि यह मतिराम की रचना और 'छन्दसार पिंगल' से अभिन्न है उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

अभिन्नता को प्रमाणित करने के लिये दीक्षित जी ने एक बात और दृढ़तापूर्वक कही है, वह यह कि शिवसिंह सरोज में जो दो छन्द 'छन्दसार पिंगल' के उद्धृत किए गए हैं, उनमें से एक छन्द 'वृत्त कौमुदी' में मिलता है। इस सत्य को प्रमाणित करने के लिये अब वृत्त कौमुदी की प्रति दीक्षित जी के पास भी उपलब्ध नहीं है और यदि उसे सत्य भी मान लें तो इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, क्योंकि सरोजकार की तो यह अत्यन्त साधारण भूल है। सुनी-सुनाई बात के आधार पर लिखने के कारण उनसे भयंकर भूलें हो गई हैं जैसे उन्होंने—जो दूसरा छन्द 'छन्दसार' से उद्धृत किया है, जिसे दीक्षित जी वृत्त कौमुदी में नहीं निकाल पाए वह छन्द भी छन्दसार का नहीं बल्कि सेनापति का है जो कवित्त रत्नाकर में संकलित

मौजूद है। इसकी रचना भी संभवतः १७७५ के लगभग हुई होगी। मतिराम ग्रंथावली, द्वि० सं०, पृ० २१२।

१. दीक्षित जी 'रसराज' और वृत्त कौमुदी के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते हैं और उनका कहना है कि रसराज के रचयिता का जो छन्दसार पिंगल प्रसिद्ध है वही यह वृत्त कौमुदी ग्रन्थ है, क्योंकि इसके अंत में भी छंदसार संग्रह दिया हुआ है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रंथावली, द्वि० सं०, पृ० २२५।

है[1]। वृत्तकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि वह अपनी रचना दण्डक पद्धति पर कर रहा है—

जगत जासु अवलम्ब लहि मतिराम सुकवि हित चित धरिय।
रचि छन्दसार संग्रह सरस सु इमि दंडक पद्धति करिय ॥१०॥[2]

किन्तु पं० भागीरथ प्रसाद जी दीक्षित का कहना है कि सम्पूर्ण पुस्तक में दण्डक दो ही चार हैं। कवि ने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे ग्रन्थ के छन्दों का खुलकर उपयोग किया है। रसराज के एक सौ से अधिक दोहे सतसई में हैं, ललितललाम के तीस से अधिक छन्द रसराज के हैं और लगभग दस दोहे ऐसे हैं जो रसराज, ललितललाम और मतिराम सतसई तीनों में पाये जाते हैं, किन्तु वृत्त कौमुदी में ऐसा न पाया जाना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता जब कि दीक्षित जी 'फूलमंजरी', 'रसराज' और 'वृत्त कौमुदी' का रचने वाला एक ही व्यक्ति मानते हैं। फूलमंजरी की रचना जहाँगीर के समय में हुई और वृत्त कौमुदी की रचना औरंगजेब की मृत्युकाल के निकट हुई जिससे यह समय लगभग एक सौ वर्ष के ठहरता है। यह अवस्था शृंगार रस और उसमें भी पिंगल की रचना के लिये नितान्त अनुपयुक्त है। महाकवि मतिराम का रचनाकाल निर्धारित करते समय मैंने इस पुस्तक की अप्रामाणिकता तथा मतिराम की रचना न होने की कठिनाइयों पर विस्तृत विचार किया है जिसकी पुनरावृत्ति उचित नहीं। वृत्त कौमुदी को मतिराम की रचना मान लेने पर उनके सम्बन्ध में प्राप्त सभी प्रामाणिक तथ्यों पर प्रश्नवाची चिन्ह लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में जब तक वृत्त कौमुदी की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं हो जाती तब तक ऐसे प्रश्नों को उठाने का कोई महत्व ही नहीं है।

जिस वृत्त कौमुदी को दीक्षित जी ने देखा था उसकी रचना वीर रस में हुई है जो राव वंशावतंश श्री स्वरूप देव के हितार्थ लिखी गई है—

'मित्र साहि तिनको सुपुत्र विख्यात जगत सब।
तासु पुत्र अवतंस अवनि पंचम सरूप अब ॥
जगत जासु अवलम्ब लहि मतिराम सुकवि हित चित धरिय।
रचि छन्दसार संग्रह सरस सु इमि दंडक पद्धति करिय ॥' १० ॥[3]

जिनका वंश क्रम कवि ने इस प्रकार दिया है—'मधु साहि के पुत्र वीर सिंह, वीर सिंह के पुत्र चन्द्रभान, जिनके पुत्र मित्र साहि हुए। स्वरूपसिंह जी मित्र साहि के पुत्ररत्न थे जिनके हितार्थ पुस्तक का निर्माण बतलाया जाता है।' जो भाषा एवं भाव इस ग्रंथ में अपनाए गए हैं वे मतिराम के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। मतिराम की अन्य रचनाओं में कविताएँ एक ग्रन्थ की दूसरे ग्रन्थ में भले ही रख दी गई हों किन्तु भावों एवं

१. पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रंथावली, तृ० सं०, पृ० २२६।
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९८० पृ० ४२१।
३. वही।

पदावलियों की पुनरावृत्ति नहीं पायी जाती जो वृत्त कौमुदी के आरम्भ में ही मिलती है। 'नृपवंश' के दस छन्दों में एक ही वर्णन एकाधिक बार आए हैं। इस दृष्टि से भी यह अन्य किसी कवि की रचना जान पड़ती है।

मतिराम के ग्रन्थ का नाम छन्दसार पिंगल है न कि 'छन्दसार संग्रह'। किन्तु इसमें छन्दसार संग्रह का उल्लेख है। यदि इसे 'छन्दसार पिंगल' ही मान लें तो भी इससे यही व्यंजना निकलती है कि कवि ने इस ग्रन्थ को आदर्श मानकर अपनी रचना की है न कि दोनों ही उसकी कृतियाँ हैं—

छन्दसार संग्रह रच्यो, सकल ग्रन्थ मति देखि।
बालक कविता सिद्धि को, भाषा सरल विशेषि ॥ ९ ॥[1]

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'वृत्त कौमुदी' महाकवि मतिराम की रचना नहीं जान पड़ती।

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८०, पृ० ४२१।

मतिराम और नायिका-भेद

हिन्दी काव्य-साहित्य में नायक-नायिका भेद को 'रीति-साहित्य' के भीतर ही स्थान दिया जाता है। काव्य-क्षेत्र में 'रीति' की प्रतिष्ठा का जब से आविर्भाव हुआ तथा उसे साहित्य-सिद्धान्त के रूप में जब से स्वीकार किया गया, नायक-नायिका भेद का अस्तित्व साहित्य में उससे प्राचीन है। काव्य में नायक-नायिका भेद का विकास अपने ढङ्ग से बराबर चला आ रहा है जिसे बाद में चलकर रीति-साहित्य के अन्तर्गत मान लिया गया। 'शृंगार' कवियों के लिये आरम्भ से ही आकर्षण का केंद्रबिन्दु रहा है। सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का यदि सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जिन कवियों ने 'रस' को काव्य का महत्वपूर्ण अंग माना है और अपने काव्य में विभिन्न रसों को स्थान दिया है, उनमें से प्रायः कम ही ऐसे कवि होंगे जिन्होंने शृंगाररस का वर्णन न किया हो, किन्तु ऐसे अनेक कवियों का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने केवल शृंगाररस का ही वर्णन किया है। भोज ने तो रस का अर्थ ही शृंगाररस कहा है। शृंगाररस का अपनी योग्यता एवं व्यापकता के कारण भारतीय वाङ्मय पर एकछत्र राज्य रहा है। नायक-नायिका शृंगाररस के एकमात्र आलम्बन हैं—

होत नायका नायकहिं आलम्बित सिङ्गार।
ताते बरनौ नायका-नायक मति अनुसार ॥४॥ —रसराज (मतिराम)

जिनका मूल-स्रोत काव्य के क्षेत्र में हम 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र' को मान सकते हैं। सभी दृष्टियों से विचार करने पर भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' काव्यशास्त्र पर लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'भरत के पहले अलंकारशास्त्र की उत्पत्ति अवश्य हुई थी, परन्तु अलंकार और रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय आचार्य भरत को ही प्राप्त है। सच तो यह है कि इनका महान ग्रन्थ प्राचीन भारतीय ललित-कला का निकेतन है।'[1] संस्कृत में लिखा नाट्यशास्त्र का यह प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि अभिनय-कला से संबंधित है, फिर भी काव्यशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। अभिनय से संबंधित होने के कारण इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय रस है। इस ग्रन्थ द्वारा 'रस' को अत्यधिक प्रश्रय मिलने के कारण भरत मुनि के पश्चात् भी शताब्दियों तक नाटकों में रस का ही साम्राज्य रहा। भारतीय काव्य-परम्परा में दृश्य और श्रव्यकाव्यों के माध्यम से प्रेम के स्वरूप की ही अधिकतर प्रतिष्ठा हुई है, जिसके परिणामस्वरूप शृंगार के आलम्बन और उद्दीपन विभावों के माध्यम से संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के मार्मिक स्थलों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया गया

---

१. भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय, प्र० खंड, पृ० ९५।

है। काव्य एक कला है जिसके प्रदर्शन का सर्वोत्तम स्थान राज-दरबार ही हुआ करते हैं, जिससे इसके कलात्मक रूपों का विकास इन्हीं भारतीय राज-दरबारों की छत्रछाया में होता रहा है। इस प्रसंग की चर्चा विस्तारपूर्वक पहले हो चुकी है। 'नाट्यशास्त्र' से किस प्रकार निकलकर नायिका-भेद दरबारी काव्य विषय का काम देने लगा, इसके रहस्य का सूत्र भी दरबारों में प्राप्त होता है। 'संस्कृत में नायक-नायिका भेद ग्रन्थों का निर्माण भारत में मुसलमानी शासन के साथ ही साथ आरम्भ होता है। श्रृंगार की फुटकल रचनाएँ होती थीं और उनमें स्वकीया के श्रृंगार का वर्णन होता था। कहीं-कहीं सपत्नियों के क्रिया-कलापों को लेकर रोना-कलपना, ईर्ष्या-अमर्ष, डांट-फटकार, मान आदि की बातें भी रहती थीं। परकीया प्रेमसाहित्य में प्रवेश नहीं कर सका था सामान्या का प्रेम कुछ नाटकों में अवश्य दिखलाया गया है, पर अत्यंत उदात्त रूप में प्रबंध-काव्यों में स्वकीया ही नायिका मिलेगी। मुक्तकों में भी उन्हीं के हाव-भाव की व्यंजना प्रमुख है। जनता में जो रचनाएँ होती थीं उनमें श्रृंगार का अतिरेक तो है, पर परकीया प्रेम का अतिरेक नहीं। परकीया की चेष्टाओं, विदग्धता आदि का आधिक्य फारसी-साहित्य के संपर्क के कारण हुआ। माशूकों के अनेक रकीबों की कल्पना और उसके प्रेम के प्राप्ति के कष्टों आदि की जैसी विवृत्ति फारसी और तत्पश्चात् उर्दू में दिखाई देती है, उसके जोड़-तोड़ में हिन्दी के कवि सभा-समाजों में नायक-नायिका भेद के रंगीले वर्णनों के अतिरिक्त और रख ही क्या सकते थे।'[1] हिन्दी के मध्यकालीन कवि तत्कालीन मुसलमानी संस्कृति एवं साहित्य से प्रभावित अवश्य हुए, किन्तु इसे ही एकमात्र ऐसे काव्यों का निर्माण हेतु नहीं माना जा सकता। संस्कृत के श्रृंगारिक काव्यों में यद्यपि परकीया चित्रण को अवकाश नहीं था, परन्तु सपत्नियों के बीच नायक की स्थिति कभी-कभी ठीक वैसी ही हो जाया करती थी, जब उनमें नायक के प्रेम के एकाधिकार के लिये होड़ लग जाती थी।

सृष्टि के आदि से ही नारी पुरुष के लिये समस्या बनी रही। वह उसके अप्रतिहत सौन्दर्य वेग के कारण वासना-सरिता में बहने से अपने को बचाने में सदा से असमर्थ पाता रहा है। यह वासना ही दैत्य है, माधुर्य तथा सौम्यता ही नारी है जो कामुकता का शिकार बनती है। नारी पुरुष का प्रेम, सृष्टि की आदि शक्ति है जिसके अभाव में काव्य क्या सृष्टि भी अपना कोई अर्थ नहीं रखती। वास्तविक प्रेम की शक्ति महान होती है जो केवल मानव में निहित है। इसी शक्ति के कारण ही नश्वर तथा अविनाशी में भी संयोग होता है[2]। ऐसी धारणा भारतीय संस्कृति के मूल में रही है। यही कारण है कि प्रेम के क्षेत्र में भारत का नैतिक स्तर सदैव ऊँचा रहा है। नैतिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में नारी का जो स्थान भारत में रहा है वैसा जीवन अन्यत्र स्वप्नवत है। पश्चिमी प्रदेशों में नारी की वैयक्तिक स्थिति

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, सं० २०१०, पृ० ५२, ५३।

२. Mighty is the power of genuine love, which exists only among the mortals and it unites the mortal with the immortal.—Santosh Kumar Chatterjee—Lures of India—April, 1944, p. 3.

कुछ भी नहीं रही है, उसे पुरुषों की वासना-वृत्ति के सम्मुख पूर्णतः समर्पण कर देना होता है जिससे उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। भारतीयों की भाँति नारी-सौन्दर्य को निरपेक्ष भाव से देखने की दृष्टि पश्चिमियों तथा मुसलमानों में नहीं रही है। इतने नैतिक बन्धनों के होते हुए भी इस देश का प्राकृतिक योनि-जीवन कभी भी असंतुष्ट नहीं रहा है, क्योंकि कभी भी उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। बहुत पहले ही हमारे यहाँ 'कामसूत्र' के स्रष्टा वात्स्यायन ने योनि-जीवन सम्बन्धी प्राचीन भारतीय सिद्धान्त-कौशल तथा उसके मानवीय प्रयोग आदि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

कामसूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में मुख्यतः वेश्या वर्ग का ही चित्रण किया है, जिनका उस समय तक समाज में अलग वर्ग स्थापित हो चुका था। बौद्धयुगीन राजाओं के समय में वेश्याओं का प्रवेश सभ्य एवं सम्मानित समाज में था। उन्हें विवाह आदि तक कर लेने के अधिकार प्राप्त थे। कलाविद् देवदासियों तथा सभा-सुन्दरियों (कोर्ट मिस्ट्रेसेज़) का अस्तित्व इसके पूर्व हिन्दू भारत में ही आ चुका था। ऐसी स्थिति में कलाविद् नायिका अथवा वेश्या का आकर्षण-जाल किशोरावस्था को प्राप्त पुरुषों के लिये कभी भी अद्भुत साबित हो सकता था। धनी लोग महलों में अनेक पत्नियाँ तथा रखेलियाँ रखते थे जिसका परिणाम यह होता था कि पति का प्यार प्राप्त करने की होड़ लगी रहती थी। ऐसी स्थिति में दाम्पत्य-जीवन में कलह तथा पति से उपेक्षित असंतुष्ट स्त्री द्वारा व्यभिचार-सृष्टि की अत्यधिक संभावना थी। एक प्रसन्न पत्नी को गृहस्थी में अत्यन्त आवश्यकता रहती थी कि वह अपने को इतना सजाकर रखे कि पति उसके आकर्षण से बाहर अन्य किसी कलाविद् नायिका के आकर्षण में न पड़ सके। उसे चौसठों कलाओं में पारंगत होना पड़ता था, क्योंकि ऐसी सभा-सुन्दरियाँ धनियों को उपलब्ध थीं जिनका समाज में एक वर्ग ही बन गया था। नायक-नायिका भेद इन्हीं परिस्थितियों की सृष्टि है जिसकी शिक्षा एक सुखी परिवार को अत्यन्त आवश्यक हो गई थी।

मूलतः नायिका-भेद लौकिक उपयोगिता का परिणाम है। जिन लोगों ने नायिका-भेद की उपयोगिता में अनास्था व्यक्त की है, उन लोगों ने भी स्वकीया चित्रण के महत्व को स्वीकार किया है। परकीया चित्रण को स्थान मिल जाने के कारण ही इससे संभ्रान्त लोग थोड़ा चौंकते हैं। सामाजिक मर्यादा की सुव्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए परकीया का आचरण निस्संदेह वांछनीय नहीं है। कवियों ने परकीया की चर्चा समाज के एक अंग होने के नाते की अवश्य है, किन्तु उनकी रचनाओं में ऐसे कार्यों के लिए प्रेरणा एवं प्रोत्साहन कहीं भी नहीं मिला है, बल्कि उन्होंने परकीया की कारुणिक अवस्था का चित्रण करते हुए उस मार्ग पर चलने वालों को सावधान रहने का ही संकेत किया है। इसी प्रकार समाज के बदलते मानदंडों के साथ-साथ उसी के एक महत्वपूर्ण अंगस्वरूप नायिका भेद का चित्रण भारतीय काव्यों में होता रहा है जो मध्यकालीन हिन्दी कविताओं में आकर वर्णन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। इस काव्यांग की अखंड परम्परा समृद्ध संस्कृत साहित्य से लेकर मध्यकालीन हिन्दी कविता काल तक किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती रही। अवसर न पाकर वह कभी अन्तःसलिला धारा की भांति छिपकर और कभी

सुअवसर आ जाने पर पहाड़ी नदी की भांति अतीव उल्लास-वेग से प्रवाहित होने लगती थी।

हिन्दी कवियों ने काव्य के शास्त्रीय पक्षों पर जो मौलिक ढंग से विचार नहीं किया उसका मूल कारण यही है कि उनके सामने संस्कृत साहित्य की प्रभूत पकी-पकाई सामग्री पहले से ही प्रस्तुत थी जिसका उन्हें बुद्धि एवं रुचि के अनुसार उपयोग भर कर लेना था और उन लोगों ने वैसा ही किया। हिन्दी कवियों ने हिन्दी आचार्यों का अनुसरण उतना नहीं किया है जितना कि उन्होंने संस्कृत के आचार्यों का, क्योंकि हिन्दी के आचार्य जिस संस्कृत साहित्य से सामग्री ले सकते थे वह सामग्री हिन्दी कवियों के लिए भी अलभ्य नहीं थी। जयदेव के गीत-गोविन्द की सरसता विद्यापति के अमर गीतों में तो प्रवाहित हुई ही, साथ ही साथ संस्कृत काव्यों में आये नायिका-नायक सम्बन्धी शृंगार वर्णनों का भी पर्याप्त प्रभाव उनके गीतों पर पड़ा है। नायक-नायिका भेद को आधार मान कर विद्यापति के सरस गीत भले न लिखे गये हों, किन्तु उनके सुन्दर उदाहरण उनके गीतों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हावों तथा विभावों से तो उनके गीत भरे पड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत के नायक-नायिका भेद प्रसंग से विद्यापति प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिये निम्नांकित पर्याप्त होगा—

'शैशव यौवन दुहु मिलि गेल।
श्रवनक पथ दुहु लोचन लेल॥
बचनक चातुरि लहु लहु हास।
धरनिये चाँद करत परकास॥
मुकुर लेइ अब करत सिंगार।
सखि पूछइ कत सुरत बिहार॥
निरजने उरज हेरइ कत बेरि।
हसइन अपन पयोधर हेरि॥
पहिल बदरि सम पुन नव रंग।
दिन दिन अनंग अगोरल अंग॥
माधव पेखलु अपरुप बाला।
शैशव योवन दुहु यक भेला॥
विद्यापति कह तुहु अगेयानी।
दुहु यक योग यही कहे सेयानी॥ विद्यापति पदावली

उपरोक्त गीत में 'मध्या नायिका' का सुन्दर वर्णन हुआ है। यही कारण है कि अधिकांशतः सबका मूलस्रोत एक ही था। 'यदि आदर्श की बात देखी जाय तो पता चलता है कि अकबर के दरबारी 'करनेस' कवि ने 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' उसी आदर्श पर निर्मित किये जिस आदर्श पर आगे चलकर अन्य अनेक अलंकार-ग्रन्थों का निरूपण हुआ। जयदेव के चन्द्रालोक और अप्पय-दीक्षित के कुवलयानन्द ही इनके भी आधार थे। अलंकार निरूपण में जैसे संस्कृत के इन ग्रन्थों का सहारा लिया गया वैसे ही रस निरूपण में भानुदत्त को

'रस-तरंगिणी' का आधार रहा और नायिका-भेद में उन्हीं की रसमंजरी का[1]।' कविवर नन्ददास ने तो अपने नायिका-भेद ग्रन्थ का नाम ही रसमंजरी रखा जो एक प्रकार से भानुदत्त की रसमंजरी का भावानुवाद ही है, जिसकी कवि ने स्पष्ट घोषणा भी कर दी है—

'रस मंजरि अनुसारके 'नंद' सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥' २४ ॥[2]

कुछ विद्वानों ने हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा महाकवि केशव से मानी है और उन्हें ही हिन्दी का प्रथम आचार्य स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य पंडित रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रसार एवं अनुयायियों के आधार पर इसकी परम्परा चिंतामणि से स्वीकार की है। प्रारंभिक कृतियों के उपलब्ध न होने के कारण केशव तथा चिंतामणि से बहुत पहले पायी जाने वाली नायिका-भेद की रचना 'कृपाराम कृत हित-तरंगिणी' से ही हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास सूत्र जोड़ना संभव हो पाता है जबकि यह उससे भी प्राचीन लगता है। रही अखंड परंपरा की बात, वह निश्चित ही कृपाराम से भी पीछे जाती है। पर वे कौन हैं, इस संबंध में इतिहास मौन है किन्तु वे हैं अवश्य, इसे कृपाराम भी स्वीकार करते हैं। कवि ग्रन्थारम्भ में ही स्पष्ट कर देता है—

'बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच यातें सुघर बिचारि॥' (हित-तरंगिणी)

इससे ज्ञात होता है कि उस समय भाषा-साहित्य का भंडार सुसंपन्न और परिपूर्ण था और यदि खोज किया जाय तो प्राचीन ग्रन्थों का हाथ लग जाना असंभव नहीं है। 'हित-तरंगिणी' तथा उसके उपरोक्त दोहे से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा में साहित्य-शास्त्र का प्रचार केशवदास ही के समय से नहीं हुआ था जैसा कि साधारणतः माना जाता है। वरन् उनके बहुत पहले ही साहित्य विषयक ग्रन्थ भाषा में लिखे गये थे।

'हित-तरंगिणी' में रस-विभाग तथा नारी के भेदोपभेद का अत्यंत सुलझा हुआ वर्णन है। कृपाराम ने नारी के तीन भेद—(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) बारवधू माना है। तत्पश्चात् उन्होंने उसके तीन प्रकृति भेद, मानवती के दो भेद, स्वकीया के स्वभाव भेद, परकीया भेद तथा उनकी चेष्टाओं के भेदोपभेदों का वर्णन करते हुए सखी तथा दूतियों का भी वर्णन किया है और अन्त में सामान्या तथा उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा का वर्णन करते हुए विरह की दस अवस्थाओं के वर्णन के साथ समाप्त किया है।

कृपाराम की हित-तरंगिणी के बाद की रचनाओं में 'साहित्य-लहरी' और 'रस-मंजरी' का नाम लिया जा सकता है। 'साहित्य-लहरी' सूरदास की ही रचना मानी जाती है, यद्यपि विद्वान् इसपर एकमत नहीं हो पाये हैं, फिर भी यदि साहित्य-लहरी को सूरदास की रचना न भी मानें तब भी सूरसागर के अनेक पदों में नायिकाभेदोक्त कथन मिलते हैं। राधा-कृष्ण की प्रेम-भावना के विकास में अज्ञात यौवना से लेकर स्वकीया के समस्त भेदोपभेदों

---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बिहारी, प्र० सं०, पृ० १८, १९।
२. संपादक ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण, पृ० १३५।

के अनुकूल वर्णन किए गए हैं। 'परकीया भक्ति, पुष्टि संप्रदाय के अनुकूल नहीं है और सूरदास ने राधा का वर्णन स्वकीया के रूप में किया है, इसलिए सूरसागर में परकीया नायिका के पद मिलने की आशा नहीं हो सकती, किन्तु कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेमानुराग और तत्सम्बन्धी उनकी अनेक चेष्टाओं में परकीया प्रेम की भी अभिव्यंजना हो जाती है[1]।'

नन्ददास की 'रसमंजरी' में नायक-नायिका भेद पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। कवि ने इसमें संक्षेप में ही हाव, भाव आदि पर भी कुछ लिखा है। नन्ददास की रीतिकालीन कवियों में गणना कराने के लिए 'रसमंजरी' पर्याप्त है, किन्तु हिन्दी के इतिहासकारों का इस ग्रन्थ से अधिक परिचय न होने के कारण, ये कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, करनेश तथा बलभद्र आदि की श्रेणी में स्थान नहीं पा सके। ग्रन्थारंभ में यह स्पष्ट करने के पश्चात् कि वे 'वनिता-भेद' का वर्णन करने जा रहे हैं, उन्होंने धर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीन प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है। तत्पश्चात् प्रत्येक के मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा तीन भेद माने हैं। मुग्धा के नवोढ़ा तथा विश्रब्धा नवोढ़ा और ज्ञात यौवना तथा अज्ञात यौवना भेद किये हैं। उपरोक्त भेदों के संपूर्ण लक्षणों को लिखने के पश्चात् धीरा, अधीरा तथा धीरा-धीरा भेद मध्या और प्रौढ़ा में बतलाये हैं। व्यापार के अनुसार आठ भेदों में से केवल तीन के लक्षण 'रसमंजरी में' मिल पाते हैं। तदनन्तर प्रोषित-पतिका आदि नव भेदों को मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा पर घटाते हुए इस ग्रन्थ में लक्षणों की व्यवस्था की गई है। ग्रन्थ की समाप्ति धृष्ट, शठ, दक्षिण तथा अनुकूल नायक के चार भेदों का लक्षण बतलाते हुए हाव, भाव, हेला तथा रति का वर्णन करके हुई है।

नन्ददास ने अपने नायिका-भेद ग्रन्थ की रचना दोहों और चौपाइयों में की है—

'जग मैं जुवती त्रय प्रकार। करि करता निज रस विस्तार॥
प्रथम स्वकीया, पुनि परकीया। इक सामानि बखानी तीया॥
ते पुनि तीन तीन परकार। मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ बिहार॥
मुग्धा हू पुनि द्वैविधि गनी। ज्यौं उत्तर उत्तर रस सनी॥
प्रथमहिं मुग्धा न ऊढ़ा होय। पुनि बिश्रब्ध नऊढ़ा सोय॥[2]'

'रसमंजरी' में नायिकाओं के उदाहरण न लिखकर उनके लक्षण मात्र का ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त बाद की रची हुई रहीम खानखाना के बरवै नायिका-भेद में लक्षण न लिख कर केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं। इस ग्रन्थ में कुल ११५ बरवै हैं जिनके आरम्भिक ९५ बरवों में नायिका भेद ही लिखा गया है और अन्त के बरवों में नायक-भेद, सखी, आदि का संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखने का क्रम लगभग वही है जैसा आगे चलकर रीतिकाल के अधिकांश नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है।

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद, प्रभुदयाल-मित्तल, द्वितीय संस्करण, पृ० १०२।
२. नन्ददास ग्रन्थावली, सम्पादक ब्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, पृ० १७५।

कविवर रहीम ने सर्व प्रथम स्वकीय नायिका के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा का उल्लेख कर मुग्धा के उपभेद अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना के उपभेद नवोढ़ा एवं विश्रब्ध नवोढ़ा का कथन किया है। परकीया नायिका को ऊढ़ा तथा अनूढ़ा भेदों के अतिरिक्त गुप्तादि छः प्रसिद्ध भेदों को लिख कर उन्होंने गुप्ता के उपभेद भूत, वर्तमान एवं भविष्य, सुरति संयोगना का तथा विदग्धा के उपभेदों, वचन एवं क्रिया विदग्धा का वर्णन किया है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय अनुशयना नायिकाओं के भी उन्होंने उदाहरण दिये हैं और अन्त में गणिका का वर्णन करके उन्होंने नायिका-भेद समाप्त किया है।

सूर, नन्द और रहीम की नायिका-भेद सम्बन्धी रचनाएँ शृंखला की वे कड़ियाँ हैं जिससे नायिका-भेद की परम्परा टूटी नहीं। वस्तुतः कृपाराम के पश्चात् आचार्य महाकवि केशव ही इस विषय के आचार्य-रूप में दिखलाई पड़ते हैं। वे कवि नायिका-भेद के कवि थे आचार्य नहीं, किन्तु केशव आचार्य श्रेणी में रखे जाने के अधिकारी हैं। उन्होंने 'रसिक-प्रिया' नामक अपने रस-रीति एवं नायिका-भेद ग्रन्थ द्वारा संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार हिन्दी में नायिका-भेद ग्रन्थ का निर्माण किया है। वर्णन-क्रम की दृष्टि से 'रसिकप्रिया' पर संस्कृत के कई ग्रन्थों का प्रभाव है। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी चार प्रकार की नायिकाओं का इसमें आरम्भ में ही उल्लेख कर दिया गया है। इसके उपरान्त स्वकीया के मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा तीन भेद गिना कर प्रत्येक के नवलवधू, नवयौवना, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राया चार भेद किये हैं जिसे आगे चलकर आचार्य मतिराम ने स्वीकार नहीं किये। धीरादि भेद पृथक् न लिखकर मध्या और प्रौढ़ा के साथ ही साथ लिख दिया है। केशव ने ज्येष्ठा, कनिष्ठा का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इनके पूर्व हिन्दी में नायिका-भेद पर इतने विस्तार के साथ अन्य किसी आचार्य ने विचार नहीं किया है। नायिका-भेद के सम्बन्ध में इनकी व्यापकता और प्रभाव का वर्णन हम आगे करेंगे, इसके पूर्व इतना कह देना आवश्यक हो जाता है कि केशव के बाद 'नायिका-भेद' की परम्परा को जीवन मतिराम के 'रसराज' से ही मिला जिसका अनुसरण आगे आने वाले आचार्यकवियों ने भी किया। इस प्रकार यदि हम देखें तो कृपाराम से लेकर संवत् १९०० तक रीति-ग्रन्थों की परम्परा रही जिसमें नायिका-भेद शृंगारिक कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा। आचार्यकवि केशव यद्यपि हिन्दी-काव्य के प्रथम आचार्य थे, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण आगे के कवियों ने नहीं किया। नायिका-भेद की निश्चित एवं सर्वमान्य प्रणाली के एकमात्र प्रवर्तक महाकवि मतिराम हैं जिनका नायिका भेद पर रचित ग्रन्थ रसराज प्रसिद्ध है।

मतिराम और उनके नायिका-भेद ग्रंथ

मतिराम का अति प्रसिद्ध नायिका-भेद ग्रन्थ 'रसराज' इस विषय पर लिखा सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं है। इसके पूर्व की रचनाओं से स्पष्ट है कि कवि ने काव्य क्षेत्र में नायिका भेद के माध्यम से ही प्रवेश किया है। 'फूल-मंजरी' महाकवि मतिराम की रचनाओं में सर्व-प्रथम है जिसे कवि ने मुगल सम्राट जहाँगीर की आज्ञा से बनाया था। इस पुस्तक के ६० दोहों में मुख्यतः फूलों का वर्णन है। प्रत्येक दोहे में एक फूल का कथन है तथा कवि

ने तत्सम्बन्धित नायिका का भी वर्णन करना चाहा है जिससे उसकी नायिका-भेद सम्बन्धी प्रवृत्ति का अनुमान लग जाता है। इसके अतिरिक्त जैसाकि मैंने पूर्व में ही संकेत किया है कि मतिराम सतसई के वे दोहे जो पाठांतरित होकर उनके अन्य ग्रन्थों में आये हैं, निश्चित ही उनकी रचना उन ग्रन्थों की रचना के पूर्व हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में अनेक ऐसे दोहे उपलब्ध हैं जिनकी रचना 'रसराज' के पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार के सभी दोहों का सम्बन्ध नायिका-भेद से ही है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि रसराज मतिराम कृत नायिका भेद की आरम्भिक नहीं, बल्कि प्रौढ़ रचना है।

रसराज

'रसराज' महाकवि मतिराम का प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़तम ग्रन्थ है। मतिराम नायिका भेद के सर्वमान्य आचार्य हैं और उनका 'रसराज' सर्वप्रधान ग्रन्थ है, जिसमें नायिकाओं का व्यवस्थित क्रम, सरल लक्षण तथा स्पष्ट उदाहरण उपलब्ध हैं। इसकी शैली इतनी सरल एवं बोधगम्य है कि अपने विषय का सर्वप्रथम सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ होने पर भी इस विषय पर किसी भी परवर्ती कवि की रचना इसके समान सुन्दर नहीं आ सकी।

जिस पांडित्य प्रदर्शन एवं क्लिष्टता तथा क्लिष्ट कल्पना के कारण आचार्य कवि केशव हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथम प्रौढ़ आचार्य होकर भी अपने पीछे अपने सिद्धान्तों की अखण्ड परम्परा नहीं छोड़ सके, महाकवि मतिराम उससे सर्वथा मुक्त रहे। 'रसराज' अपनी सरस एवं सरलतम शैली और सीधे सादे वर्णन-क्रम के कारण परवर्ती हिन्दी कवियों के लिये अनुसरण की वस्तु बन गया। मतिराम के पीछे नायिकाभेद सम्बन्धी रचना करने वाले अधिकांश कवियों ने 'रसराज' की वर्णन-पद्धति को सामने रख कर रचनाएँ की हैं। मंगला-चरण और प्रार्थना के पश्चात् ग्रन्थारम्भ में मतिराम ने सिद्धान्ततः स्वीकार किया है कि नायक और नायिका ही शृंगार के आलम्बन हैं जिसे देखकर चित्त में रस का संचार होता है।[1] तत्पश्चात् उन्होंने कर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया और गनिका (गणिका) नायिकाओं के तीन भेद माने हैं। इन्होंने स्वकीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा का वर्णन करने के पश्चात् मुग्धा के उपभेद अज्ञात और ज्ञात यौवना का उल्लेख कर ज्ञात यौवना के अन्तर्गत नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा का वर्णन किया है। मतिराम ने मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि भेदों को छोड़कर उनके अन्य किसी उपभेदों का उल्लेख नहीं किया है। स्वकीया प्रकरण की समाप्ति कवि ने ज्येष्ठा, कनिष्ठा नायिका का वर्णन करके किया है। ऊढ़ा और अनूढ़ा परकीया के दो भेदों का वर्णन करने के पश्चात् उन्होंने रति-क्रिया के आधार पर उसके गुप्ता आदि छः भेदों तथा चार उपभेदों का उल्लेख किया है और अन्त में गणिका का वर्णन कर कर्म के आधार पर किए गए नायिकाओं के भेद-उपभेदों का वर्णन समाप्त

---

१. होत नायका नायकहि आलम्बित सिंगार।
तातैं बरनौं नायका-नायक मति अनुसार ॥४॥
उपजत जाहि बिलोकि कै चित्त बीच रसभाव।
ताहि बखानत नायका, जे प्रबीन कबिराव ॥५॥ —रसराज

कर दिया है। इसके पश्चात् अन्य संयोगदुःखिता के प्रेमगर्विता, रूपगर्विता तथा मानवती तीन प्रकार और प्रोषित-पतिका, खण्डिता, कलहन्तरिता, विप्रलुब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीन-पतिका, अभिसारिका, प्रवच्छति प्रेयसी तथा आगत-पतिका दस प्रकार की नायिकाओं का वर्णन अवस्था-भेद के अनुसार करके गुण अथवा स्वभाव के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकार की नायिकाओं के कथन के साथ 'रसराज में नायिका-भेद की समाप्ति की है। इन नायिकाओं को मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या उपभेदों में विभाजित किया गया है।

परिभाषा

कुछ विद्वानों का कथन है कि 'रसराज' को प्रमुखतः काव्य ग्रन्थ ही कहा जा सकता है, शास्त्र ग्रन्थ नहीं।[1] इस संकीर्ण दृष्टिकोण को सामने रख कर इन लोगों ने रसराज में दिए गए लक्षणों में दोष निकालने का भी प्रयत्न किया है। ऐसे सटीक निर्णय की घोषणा को हम कभी भी रसराज की सहानुभूति पूर्ण की गई व्याख्या के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते जो किसी भी प्रौढ़ काव्य के लिए अपेक्षित है। इसी बात को हम दूसरे रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं जो निश्चित ही कवि की प्रतिष्ठा के अनुकूल है। मतिराम का कवि उनके आचार्यत्व से आगे है। वे कवि प्रथम आचार्य बाद में हैं। इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि उनमें आचार्य होने के गुण वर्तमान नहीं थे। डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है 'मतिराम के लक्षण महत्वपूर्ण नहीं, हाँ, उदाहरण अवश्य बड़े सरस, कोमल, कल्पनायुक्त और ललित हैं। नायिका की परिभाषा यह दी है, उपजत जाहि विलोकि के चित्त बीच रस-भाव। यहाँ पर जिसे देख के रस और भाव उत्पन्न हों, वह नायिका है। यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि शत्रु को देखकर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है उसे नायिका कौन कहेगा। रस का तात्पर्य मधुर, सरस, कोमल ही लेना पड़ेगा।'[2] विद्वान् लेखक ने जिस मधुर, सरस और कोमल गुण की अनिवार्यता प्रतिपादित की है वह शृंगार रस का अनिवार्य अंग है जिसका उल्लेख कवि ने ठीक उसके ऊपर ही किया है जिस पर संभवतः विद्वान् ने उपेक्षा की दृष्टि रखी है।[3] उसने शृंगार का एकमात्र आलंबन नायक-नायिका को ही माना है। अपने सुन्दर अंग-वर्ण से स्वर्णाभ को लज्जित करने वाली, आलस्ययुक्त नयनों में सरस विलासमयी चितवनों के साथ मुस्कान की मधुरिमा से नायक को स्ववश करने वाली तथा जिसको जितनी ही निकट से देखने का प्रयत्न किया जाय, उसकी सुन्दरता उतनी ही अधिकाधिक बढ़ती जाने वाली है, ऐसी ही सुन्दर स्त्री को नायिका कहते हैं।[4]

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी-रीति-साहित्य, प्र० सं०; पृ० ७२।
२. वही।
३. होत नायका नायकहि आलंबित सिंगार।
तातें बरनौं नायका-नायक मति अनुसार ॥४॥ —रसराज
४. कुंदन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।

नायिका-भेद वर्णन

'रसराज' के अन्तर्गत आए हुए वर्णन-क्रम को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि नायिकाओं की मनोदशाओं का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करने की क्षमता रखने वाले महाकवि मतिराम की रुचि उनके वर्णन-क्रम को वैज्ञानिक ढंग से सजाकर रखने की ओर नहीं गई, जिससे साधारण पाठकों को थोड़ी कठिनाई हो सकती है। हम सुविधानुसार आगे चलकर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

स्वकीया

नायिकाओं की श्रेणी में स्वकीया का स्थान प्रथम है जिसका प्रतिदिन स्वपति के चरणों में अनुराग रखने में ही बीतता है। उसका पति अत्यन्त भाग्यशाली होता है। यह नायिका अत्यन्त लज्जाशीला तथा पतिपरायणा होती है। इसके अतिरिक्त यह स्वभाव से ही सुशील एवं व्याहता होती है जो अपने पतिदेव के महत्व को भलीभाँति जानती है।

मुग्धा

यह भेद वय-क्रम के आधार पर किया गया है। इसकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं। जिस नायिका के शरीर में यौवन का अभिनव आगमन हो रहा हो उसे मुग्धा कहेंगे। इस अवस्था को प्राप्त होने वाली नायिका के कपोलों पर मीठी मुसकान की हलकी सी रेख दौड़ जाती है तथा गति चापल्य के स्थान पर वह गज-सी मंथर गति वाली चाल ग्रहण करने लग जाती है। उरोजों के थोड़े बढ़ जाने के कारण वक्ष पर पड़े नायिका के अंचल अस्वाभाविक रूप में कुछ-कुछ उभड़े से प्रतीत होने लग जाते हैं। नेत्रों की भंगिमा में थोड़ी विशालता आने लग जाती है तथा वाणी में स्वारस्य आ जाता है।

(क) अज्ञात यौवना

जब तक इन परिवर्तनों का ज्ञान नायिका को नहीं हो पाता तब तक वह अज्ञात यौवना नायिका की अवस्था में रहती है, किन्तु यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रह पाती और शीघ्र ही उसे प्राप्त यौवन का अनुभव होने लग जाता है।

(ख) ज्ञात यौवना

इस अवस्था में पहुँचकर नायिका अपने यौवन-आगमन से पूर्ण परिचित होकर सखियों की आँख बचाकर लुकाछिपी करने लग जाती है तथा उसके प्रत्येक विकसित अंगों में एक अद्भुत चमक आ जाती है। पानी पर पड़ी काई की भाँति लरकपन दूर हो जाता है और स्वच्छ जल की भाँति सौन्दर्य में निखार आ जाता है। इसकी भी दो अवस्थायें होती हैं जिसे 'नवोढ़ा' तथा नवोढ़ा के बाद की अवस्था जो एक प्रकार से उसी का उपभेद है, विश्रब्ध नवोढ़ा कहते हैं।

कोविन मोक बिकात नहीं, 'मतिराम' कहै मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै, नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ॥१॥ —रसराज

(ग) नवोढ़ा

यह मुग्धा अज्ञात यौवना के बाद की अवस्था है जिसमें नायिका भय और लज्जा के कारण पति के साथ रति नहीं करना चाहती। भय इसलिए कि वह रतिक्रिया के परिणामों से अपरिचित रहती है और लज्जा इसलिए कि वह पहले-पहल पुरुष के संमुख इस रूप में प्रस्तुत होती है। यह अत्यन्त पवित्र एवं अक्षतयोनि नायिका होती है, किन्तु रति-इच्छा का प्रादुर्भाव उसके मन में हो चुका रहता है।

(घ) विश्रब्ध नवोढ़ा

साहचर्य के कारण धीरे-धीरे नायिका का भय दूर हो जाता है और वह थोड़ा बहुत प्रियतम पर जब विश्वास करने लग जाती है किन्तु लज्जा का कुछ अंश शेष रहता है तो उसकी स्थिति नवोढ़ा के उपभेद विश्रब्ध नवोढ़ा की सी होती है। यह वह अवस्था है जब नायिका इस शर्त पर नायक की सेज पर जाने को तैयार हो जाती है कि वह उस पर कृपाकर के रति संबंधी चर्चा नहीं करेगा।

मध्या

मुग्धा नायिका अपनी प्रस्तुत अवस्था को शीघ्र पार कर ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ उसमें लज्जा और काम की मात्रा समान होती है। इसे नायिका को मध्यावस्था कहते हैं जिसमें सुन्दरी क्रीड़ा-भवन की देहली पर खड़ी होकर नायक की प्रतीक्षा करती है। हृदय में काम-सुषमा का जितना प्रभाव आ जाता है, कमल के समान सुन्दर नेत्रों में लज्जा भी उतनी ही शेष रहती है।

प्रौढ़ा

नायिका की यह अवस्था मुग्धावस्था से भी शीघ्र समाप्त हो जाती है जिससे अल्प काल में ही नायिका स्वपति के साथ रति-क्रीड़ा की समस्त कलाओं में सर्वज्ञ होकर प्रौढ़ा का स्वरूप धारण कर लेती है, जिस समय वह निज पति के साथ काम-सरिता में स्वच्छन्द रंगरेलियाँ करती है। वह संपूर्ण रात्रि जग कर नाना प्रकार की मनोहर काम-क्रीड़ा कर लेने पर भी संतुष्ट नहीं हो पाती और प्रातः आगमन के कारण पति को क्रीड़ा-स्थल से प्रस्थान करता देख कर हृदय में अत्यन्त दुखी होती है जिससे उसका चन्द्रवदन कुम्हला जाता है तथा वह जाते हुए पति के चन्द्रमुख एवं कान्तिमान शरीर को एकटक देखती रह जाती है। नारी सुलभ उसके सभी अंग पूर्ण विकसित हो जाते हैं तथा कुच की कठोरता तो इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसे आलिंगन पाश से मुक्त कर देने पर नायक को कुछ काल तक ऐसा अनुभव होता रहता है कि नायिका के कठोर कुच अभी उसके वक्षस्थल पर पूर्ववत् ही चुभे हुए हैं।

मध्या-प्रौढ़ा-भेद

मैंने ऊपर ही स्पष्ट कर दिया है कि मध्या अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते नायिका के भीतर काम-भाव का संचार हो जाता है और प्रौढ़ा अवस्था तक तो वह रति-कलाओं में

अत्यन्त प्रवीण ही हो जाती है, जिससे उसमें 'मान' प्रकट करने के कौशल का आगमन भी हो जाता है। उसकी इस मान-सम्बन्धी तीन दशायें हैं, जो मध्या और प्रौढ़ा में समान क्रम से पाई जाती हैं।

(क) मध्या-धीरा

इस अवस्था में नायिका अपनी उक्तियों के द्वारा पति पर अपना रुष्ट होना प्रकट कर देती है। वह अत्यंत चतुरता के साथ नायक के अधरों पर पड़े पर स्त्री के दन्त-चिह्नों को जो रक्त जम जाने के कारण काले पड़ गये हैं, देखकर उन्हें अधरों पर बैठे भ्रमरों की संज्ञा देती है और नायक से उन्हें उड़ा देने का आग्रह करती है कि जिससे वह उनके आघात से बच जाय। इस प्रकार मर्यादा की रक्षा करती हुई नायिका की उक्तियों को सुनकर नायक को स्पष्ट हो जाता है कि उसकी पत्नी को उसका परस्त्री-गमन ज्ञात हो गया जिससे उसने स्वाभाविक मान किया है।

(ख) मध्या-अधीरा

मर्यादा की भी सीमा होती है। जब चातुर्यपूर्ण उक्तियों के कथन से नायक सीधे रास्ते पर नहीं आता तो नायिका अपने रुष्ट होने का प्रमाण कर्कश शब्दों के माध्यम से देती है। नायक के हजार बार सौगन्ध खाने पर भी नायिका उसे फटकार ही बताती है और उसे उसी स्त्री के पास लौट जाने की आज्ञा देती है जिसकी चूड़ियों के चिह्न उसके पीठ पर, तन्योनों के चिह्न भुजाओं पर तथा कुचों में लगे कुंकुम की छाप उसके वक्षस्थल पर आलिंगन देने के कारण स्पष्ट हैं। जिससे वह उसके वक्षस्थल का तिरस्कार कर, उसकी प्रेमपूर्ण बातों से उदास होकर, मान के कारण रति-दान की अस्वीकृति प्रकट करती है।

(ग) मध्या-धीराधीरा

पतिपरायणा होने के कारण अधिक काल तक मान संभव नहीं रह जाता, किन्तु परस्त्रीगामी पति के स्वभाव में भेद न आने के कारण नायिका कुछ बातें करके फिर अपने को सँभाल नहीं पाती और रोने लगती है जो स्त्री का अंतिम अस्त्र है। नायक जानना चाहता है कि उसकी पत्नी ने किस कारण मान किया है जिस पर इतना ही वह कहने का अवसर पाती है कि 'तुमसे कोई क्योंकर मान करेगा' अर्थात् तुम्हारे सामने मान करने से भी कोई लाभ नहीं और तत्पश्चात् उसके कमलवत नेत्रों में अश्रु-जल छलछला आते हैं।

(क) प्रौढ़ा-धीरा

मध्या अवस्था को पार करते ही नायिका केवल वचन-चातुरी से मान ही प्रकट करके संतोष नहीं करती बल्कि वह इस दशा में नायक की बुरी लत यानी परदारा-गमन के कारण स्वपति के साथ रति-क्रीड़ा करने से ही विरक्त हो जाती है और किसी प्रकार की बातें नहीं करती। पति के साथ वह पत्नी सुलभ सभी व्यवहारों को प्रकट करती है, किन्तु नीरसता के साथ जिससे पति को किसी प्रकार का आनन्द नहीं आ पाता। इस कारण वह उसकी नीरस मुस्कान को देखकर ताड़ जाता है कि उसने मान किया है। नायिका की इस मूक एवं मार्मिक वेदना का नायक के ऊपर प्रभाव पड़ता है और वह उसके वशीभूत हो जाता है।

(ख) प्रौढ़ा-अधीरा

नायिका की मूक मर्मभरी करुण वाणी का जब प्रभाव नायक पर नहीं पड़ पाता तो वह उसे थोड़ा भयभीत भी करती है, किन्तु तत्पश्चात् ही वह अपनी कामुक चेष्टाओं से उसे आकर्षित भी करती है, क्योंकि कामातुरा होने के कारण वह स्वयं भयभीत भी रहती है कि दीर्घ मान के कारण कहीं वह रति क्रीड़ा से वंचित ही न रह जाय।

(ग) प्रौढ़ा-धीरा-अधीरा

जब नारी पुरुष की कामुकता से परिचित रहती है तो वह उसकी दुर्बलताओं से लाभ उठाती है। वह रति क्रीड़ा से अपनी विरक्ति दिखलाकर पति को इसलिये धमकाती है, कि वह अपनी कामुकता के कारण अवश्य ही उसके मान की रक्षा करेगा। पति परायण होने के कारण पति आगमन पर वह उसका अभिवादन तो अवश्य करती है, किन्तु ज्योंही वह उसकी भुजाओं को पकड़ कर आलिंगन पाश में उसे बाँधना चाहता है त्योंही नायिका के नेत्र क्रोध के कारण आरक्त हो जाते हैं।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

पुरुषों के लिये अनेक व्याह की छूट है जिससे एक से अधिक सपत्नियों के होने के कारण नायक के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह अपना समान प्रेम सब पर रख सके। रूप-गुण में भेद आने के कारण प्रेम की मात्रा में भेद का आना स्वाभाविक है। जिस सौभाग्यवती को प्रिय के प्रेम का अधिकांश प्राप्त रहता है, वह ज्येष्ठा और जिसे अल्पांश प्राप्त रहता है, उसे कनिष्ठा कहते हैं। यह भेद प्रेम की मात्रा को आधार मानकर किया गया है, न कि वय को। वय की छोटी ज्येष्ठा और बड़ी कनिष्ठा हो सकती है।

अन्य संभोग दुःखिता

कभी-कभी ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि नायिका अन्य नायिका के रति चिन्हों को देखकर अपने पति के परस्त्री गमन का अनुमान लगा लेती है। नायक के शरीर पर रति चिन्हों को देखकर उसके परस्त्री गमन के अनुमान से नायिका को जो दुःख होता है उसका वर्णन धीरादि भेद और खण्डिता में किया है, किन्तु नायक की प्रेयसी जब स्वयं नायिका के सम्मुख उपस्थित हो और वह भी नायिका की सखी या दूती हो तब उसकी मनोदशा किस प्रकार की होती है, का वर्णन अन्य संभोग दुःखिता में किया है। वह अपने सखी के कुकृत्य पर मन ही मन कुढ़ती तो है, किन्तु ऊपर से अशक्तता प्रकट करते हुए व्यङ्ग वचनों द्वारा ही अपने भाव प्रकट कर पाती है। वह ऊपर से सखी के बात बनाने के रसीलेपन की दाद देती है और प्रमाण में उसके रति मर्दन के कारण अस्त-व्यस्त रूप, दीर्घ उसास तथा शरीर पर श्रम के कारण आए श्रम बिन्दुओं की ओर संकेत करके उसके पर पुरुष गमन की घोषणा करती है जो उसका ही पति है। ऐसी स्थिति में नायिका करुणा की मूर्ति बन जाती है, क्योंकि सखी को अन्तरंग होने के कारण अपना क्रोधभाजन नहीं बना पाती।

प्रेमगर्विता

जिस नायिका को अपने पति का सम्पूर्ण प्रेम प्राप्त रहता है वह उसके प्रेम का गर्व इतराती हुई औरों पर प्रकट करती है, जिनको उसके समान सौभाग्य नहीं प्राप्त है।

रूपगर्विता

नायक को अपने रूपाधिक्य के कारण वश में रखने वाली नायिका अपने रूप पर इसलिये गर्व करती है, कि उसीके कारण वह नायक से गुलामी कराती है, क्योंकि उसके थोड़ा मान करने पर भी वह उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लग जाता है।

मानवती

नायक का अनुपम स्वरूप भी कभी-कभी नायिका के मान का कारण हो जाता है, क्योंकि उसकी ओर आकर्षित रहने वाली स्त्रियों को देखकर उन पर भी नायक के आकर्षण का वह अनुमान कर लेती है जिससे उत्पन्न ईर्ष्या के कारण प्रियतम से मान कर बैठती है। सखियाँ प्रियतम के स्वरूप को दोषी ठहरा कर नायक को निर्दोष ठहराने का प्रयत्न करती हैं।

स्वाधीन पतिका

पति-पत्नी तथा नायक-नायिकाओं की प्रेम-अवस्था के आधार पर भी मतिराम ने नायिकाओं के दस भेद स्वीकार किये हैं। जब नायक अपनी पत्नी पर इस प्रकार अनुरक्त हो जाता है कि वह पूर्णतः उसके वशीभूत हो जाता है तो उसे स्वाधीन पतिका कहते हैं।

(क) मुग्धा स्वाधीन पतिका

इस प्रकार जिस नायिका का पति आरम्भ में ही उसके रूप, गुण पर मुग्ध होकर सदैव उसके आधीन रहता है, उसे ही स्वाधीन पतिका नायिका होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। नायक निरन्तर नायिका के यौवन-ज्योति-सिन्धु की थाह लगाता रहता है और वह इस लज्जा-भय से मरी जाती है कि लोग यह कहेंगे कि उसने अपने पति को अभी से ही गुलाम बना रखा है। जब मुग्धावस्था में ही नायक की अनुरक्ति इस सीमा तक पहुँच गई है तो पूर्णयौवन आ जाने पर क्या स्थिति होगी। नायक-नायिका का सारा शृंगार अपने ही हाथों करता है।

(ख) मध्या स्वाधीन पतिका

वय के अनुसार जैसे-जैसे सौन्दर्यमयी नायिका का रूप और खिलने लगता है और उसमें इतना आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि उसका पति अन्य श्रेष्ठ सुन्दरियों को भुलाकर एकमात्र उसी पर लट्टू हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में नायिका के विशाल रसीले एवं मादक नयन प्रिय के हृदय में स्थायी निवास बना लेते हैं।

(ग) प्रौढ़ा स्वाधीन पतिका

पूर्ण यौवन को प्राप्त आभूषणयुक्त नायिका के सौन्दर्य को देख कर जब सखी आदि को भी नायक को आधीन बना लेने की नायिका की शक्ति पर संदेह नहीं रह जाता तो उसकी यही अवस्था उसके आकर्षण एवं उसके प्रभाव का चरम बिन्दु है।

वासकसज्जा

जब नायिका को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि उसका पति आज उसके पास केलि-भवन में अवश्य ही आवेगा तो वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए साज-शृंगार और संभोग सामग्री एकत्रित करती है।

(क) मुग्धा वासकसज्जा

लज्जा के कारण सखियों की दृष्टि बचाकर नायिका अपने सजे केलि-भवन में सजी सजाई शय्या पर लेटकर अत्यंत आनन्द का अनुभव करती है। दृष्टि इसलिये बचाती है कि यह प्रिय मिलन उसके जीवन का प्रथम अवसर है।

(ख) मध्या-वासकसज्जा

इस अवस्था तक काम भावना कुछ तीव्र हो जाती है जिससे आभूषण आदि धारण कर अधिक उत्साह के साथ शृंगारिक रुचियों के प्रदर्शन के साथ नायिका पति की प्रतीक्षा करती है, किन्तु लज्जा का अंश शेष रहता है। वह अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर चौंक जाती है।

(ग) प्रौढ़ा वासकसज्जा

काम भावना के आधिक्य के कारण नायिका दिन से ही अपना केलिगृह धूप आदि से सजाने लगा जाती है। उसका दिन बड़े कष्ट से बीतता है, जिससे उस दिन, उसे दिन अधिक बड़ा जान पड़ता है। अधिक प्रतीक्षा के कष्टों को सहन न करने के लिये वह दूती द्वारा पति को बुलवा भेजती है जो नायक से जाकर उसकी उत्कंठाओं तथा सौन्दर्ययुक्त साज-शृंगारों का वर्णन करती है।

उत्कंठिता

इतनी तैयारियों के बाद भी जब नायक उसके पास अभी नहीं आया तो उसकी उत्सुकता और बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में पूर्व निश्चित संकेत स्थल पर नायिका पहले पहुँच जाती है और प्रिय का अभाव उसके चिंता का कारण बनता है।

(क) मुग्धा-उत्कंठिता

नायिका संकेत स्थल पर पति का अभाव देखकर उसके परस्त्री गमन का अनुमान कर चिंताकुल अवस्था में सजी सेज पर गिर पड़ती है और अपनी वेदना सखियों तक को भी नहीं सुना पाती। ज्यों-ज्यों रात व्यतीत होने लगती है त्यों-त्यों उसका मुख पीला होने लगता है।

(ख) मध्या-उत्कंठिता

लज्जायुक्त नायिका जब पति के लिये दरवाजा झाँकते-झाँकते अत्यन्त निराश हो जाती है तो वह अपनी मर्मवेदना 'अध निकरे' शब्दों में सखी से निवेदित करती है जो उसकी अवस्थाओं से जाकर नायक को परिचित कराती है और नायक से यह कहकर शीघ्र घर जाने का सुझाव देती है, कि यदि वह तत्क्षण नहीं जाता तो बाद में पाँव पड़कर भी उसको प्रसन्न नहीं कर सकेगा।

(ग) प्रौढ़ा

नायक को नायिका की उत्सुकता से अवगत कराने आई हुई सखी अथवा दूती डरती रहती है कि यदि नायक शीघ्र उसके पास नहीं पहुँचा तो इस विलम्ब के लिये वह ही दोषी ठहराई जायगी जिससे बीतती हुई यामिनी की ओर संकेत करती हुई वह आग्रह करती है कि यदि नायक अभी-अभी नायिका के पास नहीं चला जाता तो उसे शेष सम्पूर्ण रात्रि प्रसन्न करते ही बीतेगी और वे रति सुख से वंचित ही रह जायेंगे।

अभिसारिका

कामार्त नायिका प्रतीक्षा एवं उत्सुकता की जब सीमा तोड़कर रतिक्रिया के लिये स्वयं पति के पास चली जाती है तो उसे अभिसारिका कहते हैं। इसका यह जाना केवल अपनी इच्छा से भी हो सकता है और पति के बुलाने पर भी जा सकती है। मुग्धा अभिसारिका सखी द्वारा सजाकर पति के पास ले जाई जाती है, मध्या अभिसारिका के लिये सखी की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं अपना शृंगार करके पति से मिलने जाती है, किन्तु उसके पांव में लज्जा की जंजीर और प्रेम का अंकुश समान रूप से होता है तथा प्रौढ़ा अभिसारिका अपने अंगों को पूर्णरूपेण सजाकर बिना किसी सखी आदि की सहायता लिये ही दांतों से जिह्वा को दबाये जिससे कि कमर की करधनी कहीं बज न जाय और गुरुजन लोगों को उसके सीढ़ियों का चढ़ना कहीं ज्ञात न हो जाय, पति से रतिक्रीड़ा के लिये मंथर गति के साथ अटारी पर चढ़ती है। अन्धेरी रात्रि में नायिका जब अपने को अन्य लोगों की आंखों से छिपाने के लिये काले वस्त्र पहन कर अभिसार के लिये जाती है तो उसे कृष्णा और जब चांदनी रात्रि में धवल वस्त्र धारण कर जाती है तो उसे चन्द्राभिसारिका कहते हैं। दिवाभिसारिकायें भी होती हैं, किन्तु स्वकीया नायिकाओं में इनके होने की संभावना इसलिये कम रहती है कि उन्हें रात्रि काल में रतिक्रीड़ा की सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं। मतिराम ने तो स्वकीया नायिका में कृष्णा, चन्द्रा, दिवाभिसारिका आदि किसी का भी वर्णन नहीं किया है, क्योंकि इनकी सम्भावनाएँ निश्चित ही कम हैं।

विप्रलब्धा

जब अभिसारिका संकेत स्थल पर प्रिय से मिलने अथवा अभिसार के लिये जाती है और वहाँ प्रिय का समागम नहीं हो पाता अर्थात् उसका अभाव रहता है तो उसकी उत्पन्न मानोदशा को विप्रलब्धा कहा गया है। यह नायिका विरह की तीव्रता के कारण अपनी चेतना खो देती है। मुग्धा-विप्रलब्धा सखियों के आग्रह पर उनका मन रखने के लिये सहेट स्थल पर जाती है और नायक को न पाकर दुखी होती है। उसका सारा राग-रंग सखियों के बीच किरकिरा हो जाता है और वह मौन धारण कर लेती है। मध्या-विप्रलब्धा सखियों को नायक के न मिलने पर क्रोध भरी दृष्टियों से देखती है, कुछ बोलती नहीं। उसका सारा हुलास-विलास भूल जाता है और आँखें आँसुओं से छलछला आती हैं, किन्तु गिरते नहीं। इसके अतिरिक्त प्रौढ़-विप्रलब्धा का मुख पीला पड़ जाता है, उसकी आंखों से आंसू गिरने लग जाते हैं तथा शरीर में शिथिलता आ जाने के कारण आभूषणों के साथ

ही कलाई की चूड़ियाँ भी नीचे गिर जाती हैं अर्थात् दुःख के सभी लक्षण पूर्णतः प्रकट हो जाते हैं।

खंडिता

संपूर्ण रात्रि नायिका नायक के लिए व्याकुल रही, किन्तु वह रात्रि समाप्त होने पर ही लौटता है, क्योंकि वह किसी अन्य नायिका के साथ केलि-क्रीड़ा करता रहा। प्रातः-काल आये हुए नायक के शरीर पर परस्त्री रति के चिह्नों को देखकर नायिका अत्यंत दुखी होती है। मुग्धा खंडिता अपने पति को परस्त्री के साथ अनुराग प्रकट करता देखकर सभी प्रकार के मनोरंजन से उदास हो जाती है, कारण पूछने पर भी सखियों से कुछ नहीं कहती। उसकी इस अवस्था का वर्णन नायक तक सखियाँ ही पहुँचाती हैं, कि वह भोली नायिका मान क्रिया से अनभिज्ञ होने के कारण मन में ही मसोस-मसोस कर रो तथा दुःख सहन कर रही है। सदैव शीश झुकाये रहती है तथा हाथ-पाँव के नखों से पृथ्वी पर चिह्न बनाती हुई मन की अस्थिरता प्रकट करती है। मान करने का अल्प ज्ञान होने के नाते केवल भृकुटियों का टेढ़ापन उसका रोष प्रकट करता है। मध्या खंडिता केवल भृकु-टियाँ तानकर ही संतोष नहीं करती और न उसे सखियों की सहायता की ही आवश्यकता होती है। यह नायक के शरीर पर दिखलाई पड़ने वाले परस्त्री रति के प्रत्येक चिह्नों की ओर संकेत करके व्यंग करती है और अपने पैरों पर पड़े हुए नायक को जो दिन में लौटा है, रात्रिकाल में अन्य नायिका के पैरों पर पड़ने के कारण उपालंभ देती है। प्रौढ़ा दिन में आये हुए पति का पूर्ण अभिवादन करती है जिससे सर्वप्रथम नायक को उसके मान का अनुमान नहीं लगता। यह अत्यंत चतुरा होती है और आंतरिक भावों को व्यवहारों में प्रकट नहीं होने देती, किन्तु चोली के कसे हुए उसके बन्ध उसके मान को नायक पर पूर्णतः प्रकट कर देते हैं, क्योंकि अभिसार काल में शिथिल वसनों एवं ढीले अंगों के साथ ही मिलने पर नायक रति-केलि की ओर बढ़ता है जिसका इसमें अत्यंत अभाव रहता है।

कलहांतरिता

खंडिता नायिका द्वारा अपमानित होकर नायक जब लौट जाता, तो लौटने के पश्चात् नायिका को कष्ट होता है, क्योंकि नायक के प्रस्ताव को ठुकरा कर स्वयं भी वह रति सुख से वंचित ही रह जाती है। मुग्धा कलहांतरिता को गौने की साड़ियाँ आदि को अस्त-व्यस्त करते देख तथा पति के पाँव पर पड़ने पर भी न प्रसन्न होते जानकर सखियाँ इसलिये आश्चर्य में पड़ जाती हैं कि नायिका का गौना आये अभी बहुत थोड़े ही दिन हुआ है, किन्तु उसे अभी से रूठने और पछताने की क्रिया का ज्ञान कैसे हो गया। मध्या पाँव पड़कर तथा अन्य प्रकार की अनेक उक्तियों से प्रसन्न करने का प्रयत्न करने वाले पति का तिरस्कार कर बाद में पश्चात्ताप करती हुई पति के सारे प्रयत्नों का दुखित होकर सखी से वर्णन करती है और उसे मना लाने का आग्रह भी करती है, और यह प्रार्थना भी करती है, कि वह नायिका का नाम नायक के सामने न ले जिससे लगता है कि मान की मात्रा औपचारिक ढंग से रखना चाहती है, किन्तु विनोदप्रिय सखी इसी शर्त पर जाने के लिये

प्रस्तुत होती है कि वह जाकर नायक से नायिका का ही नाम बतलावेगी। प्रौढ़ा प्रिय के अपमानित होकर लौट जाने पर सखि को भी दोषी ठहराती है कि यदि उसने मान किया था तो उसे ही नायक को रोक लेना चाहिए था।

प्रवत्स्यत्प्रेयसी

गृह-कलह या अन्य कारणों से जब पति परदेस जाना चाहता है अथवा नायिका स्वयं मायके आदि जाना चाहती है तो नायिका भावी वियोग की आशंका से व्याकुल हो जाती है। उसकी इस मनोदशा की स्थिति को प्रवत्स्यत्प्रेयसी की अवस्था कहते हैं। मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी इस अवस्था में सखियों के साथ हँसना, खेलना, शृंगार करना तथा सोना आदि छोड़ कर दिन रात रोती ही रहती है और पूछने पर बहाना बना देती है कि उसे अपने मायके का स्मरण हो उठा है। सखि उसकी इस अवस्था का वर्णन जाकर नायक से करती है कि अभी तो आपने चलने की चर्चा भर ही की है जिससे नायिका की यह स्थिति हो रही है, यदि कहीं आप चले ही जायँगे तो वह आपके प्रथम-प्रथम होने वाले वियोग कष्टों को किस प्रकार सहन करेगी। मध्या नायिका आँखों में लज्जा के कारण आँसुओं को रोके हुए सखी से तत्क्षण उसे नायक के पास ले चलने की प्रार्थना करती है। प्रौढ़ा नायिका की सखियाँ जाकर नायक से उसकी अज्ञानता की ओर संकेत करती हैं कि कोपनि के समान मुग्धावस्था तथा किसलय के समान मध्यावस्था में तो वह नायिका के साथ रहा जबकि रति-क्रीड़ा में विशेष आनन्द आने का समय नहीं था, किन्तु जब उसके यौवन का चरम विकास हो गया है और रति-केलि में विशेष आनन्ददायक सिद्ध हो सकती है तो उसका परदेश गमन कहाँ की बुद्धिमानी है।

प्रोषित पतिका

परदेशगमन तथा अन्य किसी कारण पति के परदेश में रहने के कारण विरह में व्याकुल होने वाली नायिका की स्थिति प्रोषित पतिका की स्थिति कहलाती है। मुग्धा प्रोषित पतिका का शरीर विरह दुःख के कारण पीला पड़ जाने से उसके कष्टों को प्रकट कर देता है, किन्तु वह अपने मुख से स्वयं कुछ नहीं कहती। सखियों के बार-बार कहने पर भी न तो वह पान आदि ही ग्रहण करती है और न तो अपने आँसुओं को ही रोकती है। मध्या लज्जा के कारण अपना विरह तो सखियों पर नहीं प्रकट करती, किन्तु उसके कष्टों को अन्य भाँति से प्रकट कर देती है। संयोग काल के सभी उद्दीपन उसे कष्ट पहुँचाते हैं जिससे वह सखी को सम्बोधित करके कहती है कि हे सखी! मेरे शरीर में अत्यधिक पीड़ा हो रही है जिससे सुगंधित वस्तु की शीतलता तीर की भाँति कष्ट पहुँचा रही है। प्रौढ़ा नायिका कष्टातिरेक से स्वयं कुछ नहीं कह पाती, उसकी सखियाँ परदेशगामी पति के सम्मुख जाकर उसकी जलन-घुलन आदि का वर्णन करती हैं।

आगत पतिका

जिस नायिका का पति परदेश से आ जाता है उसे आगत पतिका कहते हैं। मुग्धा आये हुए परदेशी प्रियतम को घूँघट की ओट से घर के दरवाजे से अपने कंपयुक्त शरीर के साथ देखने के लिये झाँकती है। मध्या में अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट हो जाती है।

वह प्रसन्नता में श्रृङ्गार प्रसाधनों को, फिर प्रियतम को देखने तथा प्राप्त करने के लिये ललकती है। प्रौढ़ा में प्रसन्नता के कारण यौवन का सहसा अस्वाभाविक प्रस्फुटन हो जाता है जिससे कामसूचक उसके कंचुकी आदि के बन्धन टूट जाते हैं।

परकीया

मतिराम ने इसके छः उपभेद माने हैं जिनके उदाहरण और लक्षण दिये हैं, किन्तु परकीया के नहीं। नायिका के मन में परपुरुष के प्रति प्रेमभावना के उठते ही, वह परकीया हो जाती है।

मुदिता

जिस किसी ऐसी बात को नायिका सुन पाती है, जिसके कारण उसको परपुरुष मिलन की सुविधा प्राप्त होगी तो वह उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो जाती है। नायिका की इस अवस्था को मुदिता कहते हैं।

विदग्धा

विदग्धा नायिकायें दो प्रकार की होती हैं। जो नायिका अपनी वचनचातुरी के कारण परपुरुष के साथ रति केलि करने में सफलता प्राप्त कर लेती है, उसे वचनविदग्धा और जो अपनी क्रियाचातुर्य के सहारे परपुरुष दर्शन आदि का आनन्द भरी सभा में उठा लेती है उसे क्रियाविदग्धा कहते हैं।

अनुशयना

यह नायिका तीन प्रकार की होती है। उस स्थल के नष्ट हो जाने के कारण जहाँ पर वह परपुरुष के साथ रति-क्रीड़ा करने में समर्थ होती थी, जब उसे चिन्ता होती है तो ऐसी नायिका को प्रथम अनुशयना और भविष्य में उस स्थल के नष्ट होने की सम्भावना देखकर जिसे दुख होता है उसे द्वितीय अनुशयना कहते हैं। तीसरी अनुशयना उसे कहते हैं जिसका प्रेमी संकेत स्थल पर पहुँच जाता है और उसके संकेत नायिका को मिलने लगते हैं, किन्तु नायिका नहीं पहुँच पाती। ऐसी स्थिति में उसके सारे श्रृंगार विकृत हो जाते हैं और आँखों में आँसू छलछला आते हैं।

गुप्ता

यह अत्यन्त चतुरा होती है, क्योंकि परपुरुष रति का इसे अवसर प्राप्त हो जाता है तथा अपनी शारीरिक अस्तव्यस्तता को जिससे उसकी रति-क्रीड़ा स्पष्ट होती है, को कोई नवीन झूठी घटना का वर्णन करके वह उसे छिपाने की कला भी जानती है।

लक्षिता

इसके पर-पुरुष प्रेम को उसकी सखियाँ लख जाती हैं जिसे जानकर उसके शरीर में लज्जा की लाली दौड़ जाती है।

कुलटा

इसका प्रेमी पर-पुरुष भी एक नहीं अनेक होते हैं जिससे वह सुरख रति क्रीड़ा का

निरन्तर आनन्द लेना चाहती है। यह अत्यन्त निर्लज्ज होती है। कुचों पर से इसके अंचल बार-बार खिसका करते हैं।

गणिका

मतिराम ने गणिका के उपभेदों का वर्णन नहीं किया है। ऐसी नायिका का प्रेम पुरुष से नहीं, धन से होता है। इसे धन चाहिये जो कोई भी चाहे धन देकर ऐसी नायिका के साथ रमण कर सकता है।

अवस्था एवं दशाओं के आधार पर मतिराम ने इन नायिकाओं की भी श्रेणियों का वर्णन किया है। यह वर्णन करीब करीब उसी प्रकार का है जैसे कि हम स्वकीया नायिका के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं। यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में उनका वर्णन करेंगे और यदि किसी प्रकार का अन्तर होगा तो उसकी ओर भी संकेत करने का प्रयत्न मतिराम के वर्णन के अनुसार ही करेंगे। अवस्था के आधार पर महाकवि मतिराम ने नायिकाओं के जो दस अवस्था भेद किये हैं, उनके अन्दर 'परकीया' और 'गणिका' नायिका का भी वर्णन किया है, किन्तु 'स्वकीया' नायिका की भाँति उनके 'मुग्धा' 'मध्या' तथा 'प्रौढ़ा' तीन श्रेणियों का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि इस वर्ग में इनके होने की सम्भावना कम है और न तो इनके उपभेदों का ही।

परकीया स्वाधीन पतिका

इसका नायक उसके प्रेम में वशीभूत होकर उसकी गली का नित्य चक्कर लगाया करता है। नायिका कुल मर्यादा के भय से अपना पर-पुरुष के प्रति उत्पन्न प्रेम छिपाना चाहती है जिससे रात-दिन के बीच कुंजों के बीच कहीं अवसर मिलने पर मिलन का आश्वासन देती है और आग्रह करती है कि वह उसकी चतुर सखियों की आँख बचा कर ही उसकी गली में दिखलाई पड़े। वासकसज्जा की अवस्था में नायिका नायक से मिलने के लिये दैनिक कार्यों को इसलिये शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर लेती है जिससे समय से पहले ही घर के लोग सो जायँ और उसे निश्चित समय पर संकेत स्थल पर प्रिय से मिलने में सुविधा हो। यह अत्यन्त कुशल होती है और दीपक हवा के रुख पर इसलिये रख जाती है कि वह शीघ्र बुझ कर अँधेरा कर दे और लोगों को उसकी आतुरता का पता भी न चले। 'वासकसज्जा' के बाद की अवस्था उत्कंठिता की होती है। ऐसी स्थिति में नायिका संकेत स्थल पर समय से पहुँचकर न आये प्रिय का उत्सुकतापूर्वक मार्ग देखती है। वह बार-बार उठ कर मार्ग देखने जाती है और पुनः लौट कर बैठी प्रतीक्षा करती है। परकीया अभिसारिकायें, कृष्णा, चन्द्रा और दिवा तीन प्रकार की होती हैं जबकि स्वकीया में 'दिवा अभिसारिका' की संभावना कम होती है और मतिराम ने तीनों को नहीं स्वीकार किया है। कृष्णाभिसारिका अँधेरी रात में काले वस्त्र पहन कर, चन्द्राभिसारिका चाँदनी रात में धवल वस्त्र पहन कर तथा दिवाभिसारिका सुनहले वस्त्राभूषण धारण करके अभिसार के लिये जाती हैं जिससे दूसरों की आँखों से छिपकर वे पहुँच सकें। घर का सारा कामकाज छोड़ कर तथा साहस करके संकेत स्थल पर पहुँची हुई अभिसारिका नायक को न पाकर दिल के बैठ जाने तथा दुःख के कारण जब अत्यन्त विवर्णमुखी हो जाती है तो

उसकी इस स्थिति को विप्रलब्धा की स्थिति कहते हैं । विप्रलब्धा नायिका का क्रोध जब प्रकट हुए बिना नहीं रहता और वह ताना जनी पर उतर जाती है कि कहीं पर-पुरुष अपना हो सकता है ? तो इस प्रकार नायक के कच्चे प्रेम अथवा वादे की भर्त्सना करने वाली नायिका को 'खंडिता' कहते हैं । भर्त्सना से आगे बढ़ कर जब नायिका नायक से अपना प्रेम सूत्र तोड़ बैठती है तो सखियाँ उसकी उन कठिनाइयों का स्मरण दिलाकर जिसको उसने प्रेम करके झेला था, उसके कार्य को बुरा बतलाती हैं। ऐसी नायिका कलहांतरिता कहलाती है । जब नायक भी अप्रसन्न होकर अथवा अन्य किसी कार्य से परदेश जाने लगता है तो नायिका उसे रोकने के लिए रास्ते में खाली घड़ा जो यात्रा के लिये अपशकुन माना जाता है, लेकर खड़ी हो जाती है कि उससे वह रुक जाय। ऐसा वह इसलिए करती है कि मान करने अथवा परकीया होने से लोक-लज्जा के कारण प्रत्यक्ष रूप में रोकना उसके लिए सम्भव नहीं रहता, किन्तु भावी विरह के कष्टों का अनुमान कर रोकना चाहती है । प्रिय के परदेश चले जाने पर प्रोषित पतिका प्रेमाकुल हो उस संकेत स्थल को जाती है जहाँ उसने उसके साथ रमण किया था तथा उसकी आँखें आँसुओं से भरी रहती हैं और सखियों से संदेश भेजती है कि ऐ सखी ! उस निष्ठुर से जाकर कह देना कि लज्जा तो उसने पहले ही त्याग दिया था, अब घर भी त्याग चुकी है जिससे सुख की सारी सामग्रियों से उसका वियोग हो गया है, केवल शरीर भर बचा है वह भी तुम्हारे विरह में त्यागना चाहती है । बड़ी प्रतीक्षा के बाद लौटे प्रेमी से अन्य गाँव की स्त्रियों के साथ जाकर मिल आने वाली तथा किसी चतुरपूर्ण उक्ति से एकांत में भेंट कर लेनेवाली नायिका को आगत पतिका परकीया नायिका कहते हैं। परकीया आगत पतिका का उदाहरण मायके से आये प्रेमी ब्राह्मण के रूप में दिया है जिसे नायिका मां-बाप का समाचार जानने के लिये एकांत में बुलवाकर अपनी मनोकामना पूरी कर लेती है, जो अत्यन्त विश्वस्त है एवं सटीक बैठ जाता है ।

गणिका

स्वाधीन पतिका सामान्या अथवा गणिका को विश्वास रहता है कि उसका प्रेमी अपना सारा का सारा धन केवल उसी को देता है जिससे वह मान करके उसे अप्रसन्न नहीं करना चाहती और घर का सारा कामकाज छोड़कर कामुक चेष्टाओं में पगी रहती है जिससे वह 'वासकसज्जा सामान्या' अपना सम्पूर्ण शृंगार करके सुन्दर खाट बिछाये तथा सुन्दर सजे भौंहों के बन्दनवारों से आने वाले नायक के अभिवादन के लिये तैयार रहती है । जब इससे (उत्कंठितागणिका) प्रतीक्षा अधिक सहन नहीं होती तो वह कभी अपने घर के उद्यान में टहलती है, कभी पलक लग जाने पर पत्तों के खरक जाने पर चौंक पड़ती हैं, कभी मार्ग देख आती है और कभी कामार्त होकर सजी पलंग पर इस प्रकार पड़ जाती है मानो कामदेव ने उसे मरोड़ कर फेंक दिया है । अन्त में अभिसारिका के रूप में स्वयं वह मिलने के लिये चल पड़ती है । मतिराम ने अभिसारिका के उपभेदों का इसके साथ वर्णन नहीं किया है । वस्तुतः यह आवश्यक भी नहीं था, क्योंकि उसे किसी प्रकार की लज्जा तथा भय तो रहता नहीं जिसके लिये उसे रूप बदलना पड़े । अभिसार के लिये पहुँची

संकेत स्थल पर धनिक प्रेमी को न पाकर यह (विप्रलब्धा गणिका) उसे इसलिये कोसती है कि यहां आकर वह अन्य धनिक प्रेमी से भी न मिल सकी और उसकी इस प्रकार से आर्थिक हानि हुई। खंडिता अपनी विप्रलब्धा अवस्था की कठिनाइयों का स्मरण कर नायक को पंजे में पा जाने पर उसकी सौगंध का विश्वास नहीं करती और उसके प्रेम की कसौटी पूर्व वादा किए धन देकर जाने को बताती है। एक चूक हो जाने अथवा वादे के अनुसार धन न दे पाने के कारण खंडिता नायिका नायक से बिगाड़ कर लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह 'कलहांतरिता' नायक को निर्दोष समझ कर अपने किए गए उसके प्रति क्रोध को बैठी कोसती है तथा उसके द्वारा दिए गए धन, वैभव एवं संमान का स्मरण करके दुखी होती है। पश्चात्ताप करती है कि उसे पैर पर गिरे नायक को हंसकर गले लगा लेना चाहिये था। प्रवत्स्यत्प्रेयसी गणिका परदेश जाते हुए नायक के दुःख में साज, सिंगार आदि बिगाड़ने का अभिनय दिखलाती हुई आग्रह करती है कि यदि नायक परदेश से उसके लिये आभूषण नहीं लायेगा तो वह उसे जीवित नहीं पा सकेगा अर्थात् स्नेहसूत्र तोड़ डालेगी। वह रोकने का इसलिये प्रयास नहीं करती कि उसका दोहरा लाभ होगा। परदेशी प्रिय गहने लावेगा ही और उसके अभाव में दूसरों से भी पैसे गांठने का उसे अच्छा अवसर मिल जायगा। प्रोषितपतिका सामान्या जिस प्रेमी के धन की लालच से अपने अंगों को सजाती रहती है, वह परदेश में निवास करता है और शीघ्र धन प्राप्त करने की इच्छा से वह उसके आगमन की कामना करती है। आगत पतिका सामान्या के अन्य प्रेमीगण अधिक धन देने वाले परदेशी मित्र के आने पर उससे उसी प्रकार दूर भग जाते हैं जैसे कमल से भौंरे। गणिका अधिक धन मिलने की आशा से अपने अच्छे सुखी दिनों की कामना करने लग जाती है।

गुण के आधार पर उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा तीन प्रकार की नायिकाओं का वर्णन करके मतिराम ने नायिका-भेद का प्रसंग समाप्त किया है।

उत्तमा

पति प्रेम करे अथवा न करे, किन्तु पत्नी के प्रेम में किसी भी प्रकार की न्यूनता न आये तो ऐसी नायिका को उत्तमा नायिका कहते हैं। यह नायिका पति के अपराधों के बावजूद अपना सम्पूर्ण स्वागत उसे हर्ष और प्रफुल्लता के साथ देती है और वह स्वयं उसके अपराधों को छिपाने का प्रयत्न करती है तथा अलग मिलने पर भी किसी प्रकार की अपनी आपत्ति नहीं प्रकट करती।

मध्यमा

यह नायिका प्रियतम के प्रेम करने पर तो उसके प्रति प्रेम प्रकट करती है, किन्तु उसके अभाव में अप्रसन्न हो अपना मान प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त पति की प्रार्थना पर शीघ्र ही प्रसन्न होकर अपना मान तोड़ देती है तथा पति की पगड़ी आदि स्वयं ठीक करने लग जाती है जिससे उसके परस्त्रीगमन के चिह्न मिट जाते हैं। इस प्रकार इसमें देर नहीं लगती कि क्रोध के कारण उसकी आँखों में आये हुए आँसू प्रेमाश्रु बन जाते हैं तथा क्रोध

के कारण उत्पन्न लालिमा, अनुराग की ललाई में परिवर्तित हो जाती है। वह अपने मान को स्थायी नहीं बना पाती और उससे पहले रोमांच की अवस्था में उठ आये उसके रोम प्रिय का आदर करके उसके मान के मूल्य को घटा देते हैं।

अधमा नायिका

यह नायिका प्रिय के प्रेम करने पर भी रूठती रहती है जिससे सखियाँ उसे समझाती हैं कि तेरे इस प्रकार के बार-बार रूठने से अर्थात् दीर्घ मान की उष्णता से पारे के समान चञ्चल प्रेम भाप की भाँति उड़ जायगा अर्थात् प्रेम सूत्र टूट जायगा।

इस प्रकार आरम्भ में नायिका भेद का वर्णन कर मतिराम ने नायक और उसके उपभेदों का वर्णन किया है तत्पश्चात् दर्शन, सखी मण्डन, उपालम्भ, परिहास, दूती, अनुभाव, सात्विक, शृंगार तथा हाव आदि का विस्तृत वर्णन किया है जो नायिका भेद के ही अंतर्गत सहायक होकर आते हैं।

नायक

काम-कला-प्रवीण, कवित्त-गीत एवं सरस हृदयी सुरुचि सम्पन्न, सुन्दर तथा सजीले युवा पुरुष को नायक कहते हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं जिसे पति, उपपति और वैशिक कहते हैं।

पति

यह अपनी समस्त मनोरञ्जक दैनिक क्रियाओं को छोड़कर तथा अपने बनाव शृंगार की उपेक्षा करके घर छोड़ना पसन्द नहीं करता, जहाँ रह कर वह अपनी प्रिया की प्रत्येक भाव-भङ्गियों की आनन्ददायक मोहकता का रस लेना चाहता है। यह नायिका की प्रत्येक गतिविधियों पर सजग दृष्टि रखता है। पति अनुकूल, दच्छिन, शठ और धृष्ट चार प्रकार के होते हैं। अनुकूल नायक अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य किसी नायिका के साथ प्रेम नहीं करता जिससे नायिका के प्रेम में निरपराधी पति से रूठने की साध मन ही में रह जाती है। दक्षिण नायक अपनी सभी पत्नियों पर बराबर प्रेम रखता है। यह अनुकूल नायक की भाँति एक पत्नीव्रतधारी नहीं होता, इसके अनेक पत्नियाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त शठ नायक का प्रेम कपटपूर्ण होता है, वह परस्त्री गमन आदि अपराधों को करने में संकोच नहीं करता और अपनी चतुरता के माध्यम से स्वपत्नी को प्रसन्न रखने का भी प्रयत्न करता रहता है, किन्तु इसके अन्दर पत्नी-भय कुछ शेष रह जाता है। 'धृष्ट' नायक अत्यंत निर्लज्ज होता है और पत्नी के रूठने की कुछ भी परवाह न करते हुए निर्भय होकर परस्त्रीगमन आदि पापाचार करता है।

उपपति

यह परस्त्रीगामी है और इसे परकीया का उपपति कहेंगे। अपने अंगों को यह सजा कर रखता है तथा स्त्रियों को आकर्षित करने से सभी कलाओं से प्रवीण होता है।

वैशिक

गणिकाओं से प्रेम करने वाले को वैशिक नायक कहते हैं। यह गणिकाओं के बाह्य शृंगार पर अनुरक्त होकर उनके प्रेमजाल में फँस जाता है।

गुणभेद

मानी, वचन-चतुर और क्रिया-चतुर मतिराम ने नायक-गुणों के आधार पर तीन भेद और किए हैं। नायिका के थोड़ी देर के लिए मान करने वाले को 'मानी' नायक कहते हैं। इसके प्रतिकूल वचन-चतुर नायक अपनी चतुर बातों में भुलाकर नायिका के साथ अपनी मनोकामना पूरी करने का अवसर निकाल लेता है। क्रिया-चतुर नायक अपनी चतुर विद्या से मानप्रिया नायिका को भी गले लगा लेने में समर्थ होता है। इसके लिये वह भय आदि ऐसे वातावरण उपस्थित कर देता है कि भयभीत नायिका उसके आलिंगनपाश में आ जाती है।

प्रोषित नायक

इसके अतिरिक्त मतिराम ने नायिका की भाँति नायक का एक लक्षण प्रोषित नायक भी माना है जो परदेश में रहकर अपनी प्रियतमा के लिये व्याकुल रहता है।

दर्शन भेद

इसमें मतिराम ने नायिकाओं के ही दर्शन-आलम्बनों का वर्णन किया है जिसे नायक पर भी घटाया जा सकता है। उन्होंने स्रवन, स्वप्न, चित्र और प्रत्यक्ष चार प्रकार के दर्शन माने हैं। 'सखी द्वारा वर्णित अपरिचित नायक का तद्वत् स्वरूप जब नायिका स्वप्न में देखती है तो उसे स्वप्न दर्शन कहते हैं।' सखी नायिका के सम्मुख अपरिचित नायक के स्वरूप का जब मोहक वर्णन प्रस्तुत करती है तो उसके प्रति अनुरक्त हो जाने वाली नायिका ऐसा अनुभव करती है जैसे उसने उसे अपनी आँखों देख लिया हो। ऐसी स्थिति में इसे स्रवन दर्शन की संज्ञा दी जाती है। सखी द्वारा दिखाए गए नायक के चित्र पर जब नायिका मन्त्र मुग्ध-सी हो जाती है और उसके सौन्दर्याधिक्य के कारण आशंका करती है कि क्या ऐसे स्वरूप वाला नायक मुझे कभी स्वप्न में भी मिल पायेगा, तो इस अवस्था को चित्र दर्शन माना जाता है। नायक को सर्वप्रथम सामने देखकर जब नायिका औरों की आँख बचाकर किसी प्रकार उसे देख ही लेती है तो उसे साक्षात दर्शन कहते हैं।

उद्दीपन

चन्द्रमा, कमल, अगर, ऋतु, वन तथा बाग-विहार आदि शृंगार-उद्दीपन कामीजनों के मन में काम भावना की तीव्रता को उद्बुद्ध कर देते हैं। सखी और दूती इसके और दो ऐसे भेद हैं जो नायक और नायिका के विरह कष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया करते हैं।

सखी के काम

नायिका का शृंगार करना तथा समय-समय पर उपदेश देना, नायक को नायिका के प्रति किए गए अनुचित व्यवहारों के लिये उसे उपालम्भ सुनाना और नायिका के साथ परिहास करके उसके मान आदि कष्टों को दूर करना सखी के महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह नायिका की अन्तरंग होती है।

दूती

दूत कार्य में निपुण स्त्री को ही दूती कहा जा सकता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम इसके तीन प्रकार हैं। उत्तम दूती नायिका के प्रेम तथा विरह का वर्णन नायक से करके दोनों प्रेमीजनों को मिलाने का प्रयत्न करती है। यह सदैव मिष्टभाषी होती है और अपने मधुर वचनों के कारण अत्यंत सम्मोहक होती है। मध्यमा दूती प्रिय और अप्रिय दोनों बातों का प्रयोग करती है। अधमा दूती इठला कर बातें करती है जिससे ऐसा लगता है कि वह स्वयं भी नायक को प्रभावित करना चाहती है।

अनुभाव

वे शृंगारिक भंगिमायें हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाय कि चित्त में रति-भावना का उदय हो गया है। इसका अनुभव नेत्रों की भंगिमा, इठलाती हुई बोल, आकृति की मधुरता, हँसी, चंचलता तथा प्रसन्न मुद्रा के माध्यम से होता है जिसे देखकर नायक के हृदय में नवीन प्रेमांकुर उत्पन्न हो जाता है।

सात्विक भाव

अनुभाव को ही सात्विक भाव कहा जा सकता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, सुरभंग, कंप, वैवर्ण, आँसू और प्रलय, ये आठ प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जृंभा नामक नवां सात्विक भाव भी लिखा है।

शृङ्गार

नायिका भेद का कथन शृंगार रस के आलम्बन विभाग में ही किया जाता है, इसलिये मतिराम ने रसराज में इसका भी सुन्दर वर्णन किया है। स्त्री और पुरुष के रति भाव का वर्णन ही शृंगार वर्णन है। मतिराम ने इसे 'रसराव' अर्थात् रसराज कहा है। इसके 'संयोग' और 'वियोग' दो भेद होते हैं। नायक-नायिका जब प्रसन्न भाव से एक दूसरे से मिलते हैं तो उसे संयोग और बिछोह के कारण जब दुखी होते हैं तो वियोग शृंगार कहते हैं।

हाव

नायक नायिकाओं के संयोग समय में जो स्वाभाविक चेष्टाएँ अथवा भौंह नेत्रादि के विलास-व्यापार मनोविकारों के आधार से होते हैं, उन्हें हाव कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित् , विभ्रम, ललित, मोट्टाइत, विहित और कुट्टमित, हाव के दस उपभेद होते हैं। कुछ आचार्यों ने 'हेला' और 'बोधन' नामक दो और हावों का उल्लेख किया है जिससे इनकी संख्या बारह हो जाती है, किन्तु अधिकांशतः आचार्यों ने इनकी संख्या दस ही मानी है और मतिराम ने भी हेला तथा बोधन नामक हावों का वर्णन नहीं किया है। जब नायिका नायक के भूषण तथा वचन आदि की लीला करती है अर्थात् स्वयं उन्हें धारण करती है तो उसे लीला, जब उसकी चाल, नयन भंगिमा एवं वाणी में कुछ विशिष्टता आ जाती है तो विलास, जहाँ थोड़े ही वस्त्राभूषणों से शोभा का आधिक्य हो जाय तो विच्छित्ति, नायिका जब प्रेमोन्मत्त होकर वस्त्र एवं आभूषणों को उलटे धारण कर

लेती है तो विभ्रम, हर्ष, गर्व, अभिलाषा, श्रम, हास, क्रोध एवं भय जब एक साथ ही नायिका में प्रकट हो जाते हैं तो किलकिंचित्, जहाँ परस्पर संवाद को रोककर नायिका नायक के आलिंगन की कामना करती है तो वहाँ मोट्टाइत, नायिका के दुख और सुख के स्पष्ट रूप से प्रकट होने पर कुट्टमित, अभिमानी नायिका के द्वारा नायक के अनादर होने पर बिब्बोक, नायिका के सरस अंगों के आभूषणों एवं प्रसाधनों से सज जाने पर ललित और प्रिय के निकट रहने पर भी जब नायिका की मनोकामना नहीं पूरी हो पाती तो विहित हाव की उत्पत्ति होती है।

वियोग शृङ्गार

प्रेमी और प्रेमिका जब एक दूसरे के प्रति अनुरक्त रहने पर भी परस्पर नहीं मिल पाते तो वहाँ पर वियोग शृङ्गार की सृष्टि होती है। वियोग शृङ्गार की उत्पत्ति के 'पूर्वानुराग', 'मान' और 'प्रवास' तीन मुख्य कारण हैं जिन्हें वियोग शृङ्गार के भेद भी कहते हैं।

भेद वर्णन

प्रथम दर्शन अथवा रूप गुण श्रवण के कारण नायक अथवा नायिका के मन में जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है, ऐसे नायक अथवा नायिका के प्रति जिसका न तो कभी का परिचय है और न तो मिलाप ही, तो ऐसे उत्पन्न अनुराग को पूर्वानुराग कहते हैं। संयोगकाल में जब नायिका अपने नायक के मुख से अन्य नायिका आदि का नाम सुन लेती है अथवा उसे परस्त्री की ओर देखते देख लेती है तो उसकी स्वाभाविक अप्रसन्नता को 'मान' कहते हैं। समय के आधार पर 'लघु', 'मध्यम' और 'गुरुमान' मान के तीन भेद किये गये हैं। लघु मान क्षणिक होता है जो तत्क्षण छूट जाता है। यह नायिका के मन में कंत को परनारी की ओर देखते समय उत्पन्न होता है, मध्यम मान लघु मान से अधिक समय के लिए होता है जो संयोग काल में नायक के पर नारी का नाम ले लेने से नायिका में उत्पन्न होता है और जब नायिका नायक को परस्त्री से बातें करते देख लेती है तो गुरु मान की सृष्टि होती है जो अधिक काल तक रहता है जिसे तोड़ने के लिए सखियों की सिफारिश आवश्यक हो जाती है। परदेश गये हुए प्रियतम के प्रति जब हृदय में वेदना उत्पन्न होती है तो उस अवस्था को प्रवास के अन्तर्गत माना जाता है।

नव दशा

वियोग काल में विरहजन्य कष्टों के कारण नायिका की जो अवस्था होती है उसकी 'अभिलाष', 'चिंता', 'स्मृति', 'गुणवर्णन', 'उद्वेग', 'प्रलाप' 'उन्माद', 'व्याधि' और 'जड़ता' नव दशाएँ मतिराम ने मानी हैं। अपने पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित दशमावस्था 'मरण' को इन्होंने नहीं माना है।

प्रवासी प्रिय से मिलने की जब नायिका के मन में इच्छा उत्पन्न होती है तो उसे अभिलाष कहते हैं जिसमें नायिका अपने प्रेम की चर्चा करती है। इच्छा में तीव्रता आ जाने पर जब 'दर्शन' प्राप्त करने की अभिलाषा प्रबल हो उठती है तो उसे चिंता कहते हैं। प्रवासी पति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा सुन लेने पर 'स्मृति' की अवस्था उत्पन्न

हो जाती है। प्रिय का स्मरण हो उठने पर जब नायिका उसके रूप-गुण आदि का कथन करती है तो उसे गुण वर्णन कहते हैं। विरह कष्ट के अधिक बढ़ जाने पर जब नायिका को प्रिय मिलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं अच्छा लगता तो उसे उद्वेग तथा उत्कण्ठा से प्रेरित होकर जब वह करुणापूर्ण शब्दों में अपना सन्देश आदि कहती है तो उसे 'प्रलाप' कहते हैं। 'प्रलाप' की अवस्था से आगे बढ़ कर जब नायिका ऐसे कार्य करने लगती है जिससे उसकी अचेतनता का अनुभव होने लगता है तो उसे 'उन्माद' की संज्ञा दी जाती है जिसमें वह कभी हँसती और कभी रोती है। काम पीड़ा के कारण जब नायिका के रूप और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ने लग जाता है तो उसे 'व्याधि' कहते हैं। अङ्गों की शिथिलता तथा कष्टों के आधिक्य के कारण जब नायिका निश्चेष्ट हो जाती है तो उसे 'जड़ता' की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार मतिराम ने नायिका की नवं दशाओं का अन्त में वर्णन करके 'कवि-निवेदन' के साथ 'रसराज' ग्रन्थ को समाप्त किया है।

महाकवि मतिराम और हिन्दी नायक-नायिका भेद के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्य

मतिराम के सामने 'रसराज' की रचना करते समय संस्कृत साहित्य की अतुल सामग्री तत्सम्बन्धी विषय पर वर्तमान थी। हिन्दी के मध्यकालीन कवि एवं आचार्यों ने जिस संस्कृत साहित्य की सामग्रियों से भरपूर लाभ उठाया है, मतिराम ने भी उसका उपयोग किया है, किन्तु उनके सामने हिन्दी काव्य के आचार्यों की भी एक परम्परा किसी न किसी रूप में वर्तमान थी जिससे प्रभावित होना अनिवार्य था। जैसा पूर्व में ही संकेत कर दिया गया है कि 'कृपाराम' ही हिन्दी के ऐसे प्रथम आचार्य माने जा सकते हैं जिनके सम्बन्ध में हिन्दी इतिहास मुखर है। हिन्दी की इस आचार्य परम्परा की कई पीढ़ियों के बाद मतिराम ने अपने ग्रन्थ रसराज का निर्माण किया और उनके बाद नायिका भेद की यह आचार्य परम्परा और भी समृद्धशालिनी बन कर आगे बढ़ी जिनमें महाकवि देव ऐसे प्रतिभासम्पन्न आचार्य एवं कवि उत्पन्न हुए। मतिराम ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभाव को ग्रहण अवश्य किया है, किन्तु उनमें मौलिकता के आधिक्य के कारण वे प्रभाव स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। मतिराम ने जितना प्रभाव ग्रहण नहीं किया है उससे अधिक उन्होंने अपने बाद में आने वाले आचार्यों को प्रभावित किया है। महाकवि देव ऐसे दो एक प्रतिभा सम्पन्न आचार्यों को छोड़कर नायिका-भेद पर लिखने वाले प्रायः सभी आचार्यों एवं कवियों ने मतिराम के नायक-नायिका-भेद वर्णन प्रणाली का अनुसरण किया है। इन्होंने कुछ बातों को छोड़ा है, कुछ नवीन उद्भावनाएँ की हैं और कुछ का संक्षेप किया है।

कृपाराम और मतिराम

कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' में नायिकाओं के जितने भेद-प्रभेद किए हैं वे सबसे अधिक मतिराम में ही पाये जाते हैं, किन्तु उनके वर्णन-क्रम और संख्या में बहुत अन्तर है। मतिराम ने गुण अथवा स्वभाव के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिका के तीन भेदों का वर्णन नायिका-भेद के अन्त में किया है, किन्तु कृपाराम ने प्रकृति भेद के आधार पर वे ही भेद नारी के स्वीया, परकीया तथा वारवधू तीन भेदों का उल्लेख करने के पश्चात् ही

किए हैं और तत्पश्चात् स्वीया नारी के स्वभाव-भेद मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का चित्रण किया है, जबकि मतिराम ने नायिका के तीन भेदों का उल्लेख करके उनके साथ ही उनके भेदोपभेदों का भी वर्णन कर दिया है जिससे एक प्रकार की क्रमबद्धता आ गई है। कृपाराम ने मुग्धा नायिका के स्पष्ट चार भेदों का वर्णन तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नवोढ़ा' नायिका के ललित, वयःसन्धि और उदित यौवना उपभेदों का भी उल्लेख किया है। मतिराम ने मुग्धा के मुख्य दो भेद माने हैं और नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा को क्रम से उन्होंने ज्ञात यौवना तथा नवोढ़ा के उपभेद रूप में स्वीकार कर लिया है और कृपाराम द्वारा किए गए नवोढ़ा के अन्य भेदों को रसराज में स्थान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त कृपाराम द्वारा किए गए मध्या के दो उपभेद साधारण मध्या और अतिविश्रब्ध नवोढ़ा तथा प्रौढ़ा के आनंदमत्ता और रतिप्रिया उपभेदों को भी मतिराम ने स्वीकार न कर मध्या और प्रौढ़ा प्रत्येक के तीन उपभेद–धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा नाम से किए हैं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिका का दोनों आचार्यों ने समान रूप से स्वकीया के अन्तर्गत वर्णन किया है। ज्येष्ठा के आधार पर किए गये परकीया के सात भेदों में से कृपाराम का एक भेद 'स्वयंदूति' मतिराम के उपभेदों में नहीं मिलता, क्योंकि इन्होंने मुख्य छः भेद ही माने हैं और अनुशयना नायिका का वर्णन पहली, दूसरी तथा तीसरी अनुशयना के नाम से किया है और कृपाराम की 'चतुरा' को विदग्धा के नाम से उल्लिखित किया है। मतिराम ने 'विदग्धा' के 'वचनविदग्धा' और क्रियाविदग्धा दो उपभेदों का भी वर्णन किया है। कृपाराम ने मुग्धा के उपभेदों तथा मध्या एवं प्रौढ़ा का कथन 'सामान्या' अथवा गणिका के साथ भी किया है, किन्तु 'रसराज' में 'गणिका' के न तो इन उपभेदों का ही वर्णन किया गया है और न तो उसके भेदोपभेदों का ही, जैसा कि हिततरंगिणी में पाया जाता है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित भरत मुनि द्वारा नायिकाओं के आठ भेद न लिख कर कृपाराम ने भानुदत्त के आधार पर स्वाधीन पतिका आदि उसके दस भेदों का वर्णन किया है जो मतिराम में भी कुछ नाम परिवर्तनों के साथ पाए जाते हैं। कृपाराम ने गर्विता नायिका के भेदोपभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु रसराज में यह विस्तार नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त परकीया के ऊढ़ा भेद के अन्तर्गत इन्होंने जो दो उपभेद 'परप्रिया और परविवाहिता' माना है उसे भी मतिराम ने स्वीकार नहीं किया है। इनके द्वारा लिखा गया प्रौढ़ा के अन्तर्गत 'समहिता' भेद भी 'रसराज' में नहीं मिलता।

सूरदास और मतिराम

सूरदास जी मूलतः भक्त कवि थे, आचार्य नहीं। लीलाप्रभु श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप को इस प्रतिभाशाली कवि ने अपने गीतों का विषय बनाया है वह उनका शृंगारिक स्वरूप है। यही कारण है कि उस समय का शृंगारिक साहित्य नायक-नायिका-भेद की जिस शैली पर लिखा जा रहा था, उसका प्रभाव सूरसागर के गीतों पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यद्यपि सूरसागर के गीत नायिका-भेद के उदाहरण स्वरूप नहीं लिखे गये हैं, किन्तु उसमें लक्षणों के लिये उत्तमोत्तम उदाहरण भरे पड़े हैं। मध्यकालीन हिन्दी कवियों की ऐसी रचनाएँ जिनके सामने नायिका-भेद के लक्षण अवश्य ही वर्तमान थे, बिहारी आदि के दोहों के रूप

में 'सूरदास' के बाद भी होती रहीं। इनके पदों में परकीया नायिका सम्बन्धी उदाहरण नहीं प्राप्त होते जिनका आगे के कवियों ने बड़ी ही रुचि के साथ वर्णन किया है। सूरदास के नाम से 'साहित्य लहरी' एक नायिका भेद पर लिखा संक्षिप्त ग्रन्थ मिलता है, किन्तु अनेक विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता में संदेह उठाया है। इसकी रचना सूर ने की अथवा नहीं इससे उतना प्रयोजन नहीं जितना कि ग्रन्थ से। ग्रन्थ का अस्तित्व हिन्दी संसार के संमुख है, अतः वह हमारे विवेच्य का विषय है।

साहित्य लहरी और रसराज

साहित्य लहरी में ग्रन्थकार ने नायिका के तीसरे भेद में 'सामान्या' का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु रसराज में 'गनिका' अथवा 'गणिका' का उल्लेख है तथा उसकी स्वाधीन पतिका आदि दस अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है, किन्तु बाद की रचनाओं में जिस प्रकार 'सामान्या' के भेदोपभेदों का भी कुछ आचार्यों ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, वैसा वर्णन इसमें नहीं पाया जाता। 'साहित्य लहरी' में मुग्धा के ज्ञात और अज्ञात यौवना दो ही उपभेद किए गए हैं। रसराज की भाँति इसमें नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा उपभेदों का वर्णन नहीं मिलता। रसराज की भाँति इसमें मध्या और प्रौढ़ा के उपभेदों का वर्णन नहीं मिलता, बल्कि उनका उल्लेख मात्र करके ही धीरा और ज्येष्ठा-कनिष्ठा को लिखा गया है। इसमें रसराज में पाये जाने वाले परकीया भेद, ऊढ़ा और अनूढ़ा में से ऊढ़ा का उल्लेख नहीं किया गया है तथा परकीया के प्रसिद्ध छः भेदों में से पाँच का ही वर्णन किया है और 'कुलटा' को छोड़ दिया है। अवस्थानुसार किए गए नायिका के दस भेदों में से एक भेद 'विप्रलब्धा' का वर्णन साहित्य लहरी में नहीं मिलता और रसराज में जिस नायिका को प्रवच्छतिप्रेयसी कहा गया है उसे साहित्यलहरीकार ने 'पतिगमनी' की संज्ञा दी है।

नंददास और मतिराम

नन्ददास की रसमंजरी पर सिद्धान्त का आग्रह प्रधान होने के कारण ऐसी नायिकाओं का उल्लेख छोड़ दिया गया है जिससे इनके नायिका भेद का क्रम प्रचलित क्रम से बहुत कुछ भिन्न है। मतिराम ने मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तीनों भेदों को केवल स्वकीया नायिका में माना है, किन्तु नन्ददास ने इनका वर्णन परकीया और सामान्या में भी किया है। इन्होंने मुग्धा के नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा दो स्वतंत्र भेदों का उल्लेख कर पुनः अज्ञात और ज्ञात यौवना भेद किए हैं, किन्तु मतिराम ने नवोढ़ा को ज्ञात यौवना और विश्रब्ध नवोढ़ा को नवोढ़ा के उपभेद के रूप में उल्लिखित किया है। नन्ददास ने स्वकीया के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेदों का भी उल्लेख नहीं किया है। इन्होंने न तो परकीया के भेदों में कुलटा, मुदिता तथा अनुशयना आदि भेदों का वर्णन किया है और न तो उसके ऊढ़ा एवं अनूढ़ा भेदों का ही उल्लेख किया है। जिन तीन भेदों में उन्होंने 'वाग्विदग्धा' का उल्लेख किया है वह मतिराम के विदग्धा के दो उपभेदों का एक उपभेद वचन विदग्धा ही है। इस प्रकार अत्यंत संक्षिप्त रूप में नायिका भेद का विवरण नन्ददास ने किया है जिससे मतिराम द्वारा किए गए शेष विस्तृत वर्णन उनमें नहीं आ पाये हैं।

रहीम और मतिराम

रहीम द्वारा दिये गये 'बरवा-नायिका-भेद' में वर्णन क्रम का मेल मतिराम के वर्णन क्रम से बैठ जाता है। दोनों आचार्यों ने स्वकीया, परकीया के भेदोपभेद तथा गणिका नायिका का वर्णन एक ही प्रकार किया है। रहीम ने मतिराम की भाँति मानवती नायिका का उल्लेख नहीं किया है। संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि रहीम ने नायिका भेद के जिन प्रसंगों को उठाया है उनका संपूर्ण वर्णनक्रम मतिराम के वर्णनक्रम के अनुसार है। इसी आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि या तो रहीम के इस ग्रन्थ का संपादन स्वयं मतिराम ने किया हो अथवा इसका संपादन रसराज की रचना हो जाने के पश्चात् उसी को सामने रख कर किया गया हो।

आचार्य केशव और मतिराम

हिन्दी काव्यशास्त्र की शुद्ध साहित्यिक आचार्य परम्परा में आचार्य केशव का नाम सर्वप्रथम है। रसिकप्रिया के केशव-नायिका-भेद तथा रस भेद के आचार्य प्रथम हैं और-कुछ बाद में। संस्कृत काव्यशास्त्र के महान् पाण्डित होने के कारण इनका आचार्यत्व अनेक संस्कृत साहित्य के आचार्य ग्रन्थों से प्रभावित है। मौलिकता के अभाव में केशव का पांडित्य अपने पीछे अपनी परम्परा का निर्माण नहीं कर सका, जैसा कि सरलता और मौलिकता के कारण मतिराम का आचार्यत्व कर सका है। आचार्य केशव द्वारा चलाई नायिका भेद की वर्णन प्रणाली को मतिराम ने स्वीकार नहीं किया। केशव के लक्षणों पर संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट है और वह प्रभाव एक आचार्य का नहीं अनेक आचार्यों का है। ग्रन्थारम्भ में उन्होंने रस वर्णन किया है, तदुपरांत नायक लक्षण के साथ नायक-नायिका-भेद का वर्णन किया है, केशव के नायक लक्षण पर साहित्यदर्पणकार का अत्यधिक प्रभाव है। इसके 'अनुसार नायक को दाता कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, क्षमावान् लोगों के अनुकरण का पात्र, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर और सुशील होना चाहिये।'[1] केशव ने भी बहुत कुछ उसी प्रकार नायक को अभिमानी, त्यागी, तरुण, कोककलाओं में प्रवीण, भव्य, क्षमी, सुन्दर, धनी, शुचिरुचि तथा कुलीन पुरुष माना है।[2] किन्तु मतिराम के लक्षणों और उदाहरणों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। उन्होंने जहाँ से भी प्रभाव ग्रहण किए हैं, उन्हें इस प्रकार आत्मसात कर लिया है कि वे मूलतः मतिराम के हो गये हैं।

जाति अनुसार केशव ने 'पद्मिनी', 'चित्रिणी', 'शंखिनी' और 'हस्तिनी' नायिका के चार भेद किए हैं, किन्तु मतिराम ने इस प्रकार से नायिकाओं के भेद नहीं किये हैं। नायिका के तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या में तो दोनों आचार्यों में समानता

---

१. आचार्य केशव : डा० हीरालाल दीक्षित, प्र० सं०, पृ० २११।

२. त्यागीकृतीकुलीनः सुश्रीकोरूपयौवनोत्साही।
  दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥३०॥ —साहित्य दर्पण
  अभिमानी त्यागी तरुण, कोककलान प्रवीन।
  भव्यक्षमी सुन्दर धनी, शुचि रुचि सदा कुलीन ॥—रसिक प्रिया, प्रकाश २, पृ० २०

है, किन्तु, केशव की भाँति मतिराम में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा में प्रत्येक के नवल वधू, नव यौवना, नवल अनंगा और लज्जाप्राय चार उपभेदों का वर्णन नहीं है। मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि भेद अलग न लिखकर उन्हीं के साथ लिख दिया है जिनको मतिराम ने अलग उपभेद के रूप में उल्लिखित किया है। ज्येष्ठा और कनिष्ठा का भी उल्लेख केशव ने नहीं किया है। आरूढ़ यौवना, प्रगल्भ वचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और सुरति विचित्रा नाम से किए गए केशव के मध्या के चार भेदों को भी मतिराम ने इस रूप में स्वीकार नहीं किया है। 'बहिर रतिसात' और 'अन्तर रतिसात' नाम से किए गये रति-क्रिया के आधार पर नायिका के इन दो भेदों का भी वर्णन मतिराम ने नहीं किया है। आचार्य केशव ने परकीया में केवल ऊढ़ा और अनूढ़ा का उल्लेख कर अन्य छः भेदों का नाम नहीं लिया है तथा उन्होंने गणिका नायिका को भी स्थान नहीं दिया है जो मतिराम के रसराज में पाई जाती है। नाट्यशास्त्र से प्रभावित होने के कारण उन्होंने नायिकाओं के केवल आठ भेदों का ही वर्णन किया है, किन्तु मतिराम ने 'प्रवच्छतपतिका' और 'आगतपतिका' का दो और नायिकाओं का वर्णन कर उनकी संख्या दस मानी है। यह वर्णन संभवतः भानुदत्त कृत रसमंजरी के आधार पर किया गया है जो हिन्दी में कृपाराम से ही प्रचलन पा चुका था।

केशव ने आठो प्रकार की नायिकाओं के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या भेद न करके 'प्रच्छन्न और प्रकाश' नामक प्रत्येक के दो-दो भेद लिखे हैं। केशवदास का यह भेद भोजराज कृत 'श्रृंगार प्रकाश' के आधार पर किया गया जान पड़ता है। जिसको आगे चलकर आचार्य कवि देव को छोड़कर किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। केशव द्वारा किए गए अभिसारिका के छः भेद भी न तो मतिराम में ही मिलते हैं और न तो अन्य परवर्ती आचार्यों में ही। उनके केवल शुक्ला और कृष्णा अभिसारिका का ही आगे प्रचलन रहा। इन्होंने स्वकीया का वर्णन अलग न करके उसे अभिसारिका के अन्दर ही लिख दिया है। मतिराम में पाई जाने वाली अन्य संभोग दुःखिता, गर्विता और मानवती नायिका के ये तीन भेद भी रसिक प्रिया में नहीं पाये जाते। केशव ने कुल मिलाकर ३६० नायिकाओं का वर्णन किया है।

'रसिकप्रिया' और 'रसराज' दोनों ही ग्रन्थों में केवल नायिका-भेद का ही वर्णन नहीं है, बल्कि दोनों में ही नायक-भेद, सखी, दूती तथा रस का सविस्तर वर्णन किया गया है। क्योंकि दोनों ही श्रृंगार रस के प्रधान समर्थक ग्रन्थ हैं। किन्तु दोनों के वर्णन तथा संख्या-क्रम में अत्यधिक अन्तर है। नायक के प्रमुख भेद तथा दर्शन भेद दोनों आचार्यों के समान हैं। किन्तु दम्पति मिलन के प्रथम स्थान का वर्णन मतिराम ने नहीं किया है जैसा कि केशव ने किया है। उन्होंने प्रथम मिलन, स्थानों की संख्या, दासी के घर, सहेली के घर, धाई के घर, सूने घर, निशिचारि को मिलन, अतिभय को मिलन, उत्सव को मिलन, व्याधि मिस, न्यौते के मिस, वन-विहार तथा जल-विहार ग्यारह मानी और सोलह श्रृंगारों का बड़ी सुरुचि के साथ वर्णन किया है। किन्तु मतिराम में यह विस्तार नहीं मिलता। ये अधिकांश वर्णन उनके किसी न किसी भेद के अन्दर अन्तर्भुक्त कर लिये गये हैं। जैसे

केशव के अतिमय के मिलन को हम मतिराम के क्रिया चतुर नायक के उदाहरण में देख सकते हैं। मतिराम ने नायक भेद का वर्णन केशव के भेद वर्णन की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया है। नायक-नायिका का स्वयं दूतत्व केशव ने स्वीकार किया है, किन्तु मतिराम ने नहीं। इसके अतिरिक्त रस का जितना विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन केशव ने किया है, उतना मतिराम ने नहीं।

चिन्तामणि और मतिराम

चिन्तामणि ने अपने सबसे प्रमुख ग्रंथ कविकुल कल्पतरु में काव्यशास्त्र के समस्त अंगों का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। इन्होंने नायिका भेद का वर्गीकरण जिस प्रकार किया है उससे ऐसा लगता है कि इतनी प्रवृत्ति आचार्य केशव और मतिराम में पाई जाने वाली वर्णन पद्धति को समन्वित रूप देने की ओर रही है। ग्रंथ के पंचम अध्याय में इन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का उल्लेख करके 'भावभेद' का साधारण कथन किया है। नायिका भेद का विस्तृत वर्णन चिन्तामणि ने शृंगार रस के विभावांतर्गत ही किया है। इनके द्वारा किए हुए दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, नायिका के तीन भेद मतिराम में तो नहीं पाए जाते, वे देव को छोड़कर हिन्दी के अन्य किसी बड़े आचार्य में भी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त देव ने भी इन नायिकाओं को प्रधान वर्गों में न लिखकर स्वकीया के अन्तर्गत ही लिखा है। केशव ने जिस सामान्या नायिका का उल्लेख नहीं किया था, वह चिन्तामणि और मतिराम दोनों में पाई जाती है। इन्होंने भी मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तीनों भेदों को एक साथ स्वकीया नायिका में ही माना है। मतिराम ने भेद और उपभेद सब मिलाकर मुग्धा के चार ही भेद माने हैं, किन्तु चिन्तामणि ने उसके छः भेद गिनाए हैं तथा प्रौढ़ा के चार भेदों का उल्लेख किया है जिन सबके नामों का मेल मतिराम के नामों से नहीं खाता। सुरतगोपना आदि परकीया के अलग छः भेदों को न मानकर उन्होंने इन्हें ऊढ़ा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है और बाद में अनूढ़ा लिखकर परकीया भेद समाप्त किया है। मतिराम में पाए जाने वाले मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि भेद इनमें भी मिलते हैं तथा इन्होंने ज्येष्ठा और कनिष्ठा का भी वर्णन किया है। नायिका के गर्विता आदि भेद तथा उसके आठ प्रकारों का वर्णन मतिराम से न मिलकर 'केशव' से ही मिलता है, किन्तु आठो नायिकाओं में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तथा परकीया और सामान्या का कथन समान रूप से मतिराम की ही भाँति है। मतिराम की ही भाँति उत्तमा, मध्यमा और अधमा का कथन इन्होंने अन्त में किया है। इस प्रकार चिन्तामणि का नायिका-भेद केशवदास से मिलता हुआ भी उससे अधिक विस्तृत तथा भिन्न है और मतिराम तथा उनके परवर्ती आचार्यों के अधिक निकट भी।

आचार्य कवि देव और मतिराम

नायिका भेद की प्रौढ़तम रचना करने वाले आचार्य कवियों में मतिराम के पश्चात् महाकवि देव का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इनके प्रतिभा सम्पन्न कवि कम ही हुए। इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र के अंग-प्रत्यंगों का

विस्तृत विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई मौलिक उद्भावनायें भी की हैं। केशव की भाँति इनमें पांडित्य प्रदर्शन तथा मतिराम की-सी मार्मिकता का समन्वय संपूर्ण मध्यकालीन हिंदी साहित्य के किसी भी आचार्य कवि में उतना नहीं हो पाया है जितना कि देव में हुआ है। इनके लगभग ७२ ग्रन्थ बताए जाते हैं, किन्तु ३० ग्रन्थ अत्यंत प्रसिद्ध हैं। 'देव' ने नायिकाओं को प्रधान रूप से जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय क्रम, प्रकृति और सत्व आठ प्रमुख भेदों में विभाजित कर उनके अन्य उपभेदों का वर्णन किया है।

आचार्य कवि देव के पूर्व नायिका भेद प्रसंग पर इतनी मौलिकता एवं विस्तार के साथ हिन्दी के अन्य किसी आचार्य ने विचार नहीं किया, जितना उन्होंने। 'देव' ने नायिका-भेद का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। 'उन्होंने स्थान-स्थान पर नायिकाओं के ऐसे शब्दचित्र खींचे हैं, जिनके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर पाठक भी चित्रवत् हो जाता है। देव के इतने अधिक ग्रन्थों में एक मात्र नायिका-भेद का कोई ग्रन्थ नहीं, किन्तु उन्होंने अपने कई ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से नायिका-भेद का इतना विशद विवेचन किया है कि उनसे अधिक इस विषय पर अन्य कोई कवि अथवा आचार्य नहीं लिख सका है।[१] महाकवि देव ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा नायिका भेद विस्तार का जो आग्रह दिखलाया है, वह उनके बाद में आने वाले आचार्यों का पथ-प्रदर्शक बन गया। देव के जिन ग्रन्थों में नायिका भेद का कथन हुआ है, उनमें सुखसागरतरंग मुख्य है। इसे उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में पिहानी वाले खान अली अकबर खाँ के लिये सं० १८२४ वि० में बनाया था। ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना स्वतंत्र रूप से नहीं हुई। देव ने अपने ग्रन्थों के सुन्दर छन्दों को लेकर इसकी रचना की है, अतः यह एक संग्रह ग्रन्थ है।[२] अपने 'भाव बिलास' ग्रन्थ की रचना इन्होंने उस समय की जब वे सोलह वर्ष की अवस्था के थे। इसमें नायिका-भेद का वर्णन विस्तृतरूप से नहीं हुआ है, किन्तु सभी आवश्यक अंगों पर विचार हो गया है।

'भाव विलास' का वर्णनक्रम मतिराम से उतना नहीं मिलता, जितना कि वह केशव की 'रसिकप्रिया' के निकट है। इन दोनों ग्रन्थों में नायिका की संख्या का विस्तार पाया जाता है। रसिकप्रिया में इनकी संख्या ३६० मानी गई है, किन्तु देव ने उन्हें और बढ़ाकर ३८४ कर दी। बाद के लिखे जाने वाले अपने ग्रन्थों में भी उन्होंने विशेष रूप से नायिकाओं के विस्तार में रुचि दिखलाई है, जिससे इनकी नायिकाओं की सीमा में बेहद विस्तार हो गया है। जिस प्रकार मतिराम ने नायक-नायिका को शृंगार का आलम्बन माना है, ठीक उसी प्रकार देव ने भी उन्हें शृंगार का आधार माना है।[३] नायक के चतुर्थ लक्षण तथा धर्मानुसार नायिका के तीन भेदों का वर्णन मतिराम के समान ही है। जिस सामान्या का वर्णन आचार्य केशव ने नहीं किया था, उसका वर्णन मतिराम की भाँति देव ने किया है।

---

१. ब्रज साहित्य का नायिका भेद : प्रभुदयाल मीतल, द्वि० सं०, पृ० ११७।
२. वही।
३. 'भाव सहति सिंगार को जो कहियतु आधार।
सो है नायक नाइका ताको करत बिचार॥' —भाव विलास

मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के जितने भेद देव ने किये हैं, वे मतिराम में नहीं पाये जाते हैं। उन्होंने मुग्धा के वयः संधि, नव वधू, नव यौवना, नवल अनंगा और सलज्ज रति, पांच भेद; मध्या के रूढ़ यौवना, प्रादुर्भूत मनोभवा, प्रगल्भ वचना और विचित्र सुरता, चार भेद तथा प्रौढ़ा के लब्धापति, रति कोविद, आक्रान्त नायिका और सविभ्रमा, चार भेद किए हैं। देव के ये चार भेद केशव के आधार पर किए जान पड़ते हैं। स्वकीया के दो भेद ज्येष्ठा-कनिष्ठा मतिराम की ही भांति पाये जाते हैं। इन्होंने स्वकीया के पांच उपभेद किए हैं जिन्हें वयक्रम के अनुसार देवी (७ वर्ष), देव गंधर्वी (१४ वर्ष), गंधर्वी (२१ वर्ष), गंधर्व-मानुषी (२८ वर्ष), मानुषी (३५ वर्ष) लिखा है। परकीया के दो भेद, पति के साथ रति में रुचि न रखने वाली तथा प्रौढ़ाकन्या पिता से छिपा कर रति की चेष्टा करने वाली जो किये हैं, वे मतिराम द्वारा किए गए ऊढ़ा और अनूढ़ा भेद ही हैं। इन्होंने इसके छः भेदों को स्वतन्त्र न मानकर ऊढ़ा के उपभेद के रूप में ही लिख दिया है। कालानुसार देव ने मतिराम की भांति नायिकाओं के दस भेद न मानकर केशव की भांति आठ ही भेद माना है जिसमें प्रवत्स्यतपतिका और आगतपतिका को इन्होंने छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त देव ने नायिकाओं के भेद और उपभेदों के वयक्रम का भी उल्लेख कर दिया है जिसका उल्लेख हिन्दी के अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है।

मान के आधार पर मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि भेदों का भी उल्लेख देव ने किया है। इनका देशानुसार किया हुआ नायिका वर्णन अद्भुत है। अनेक ग्रन्थों में आए हुए देव के नायिका भेद को हम वर्णन के अनुसार इस प्रकार रख सकते हैं कि उन्होंने 'जाति भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी; कर्म भेद के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया और सामान्या; गुणभेद के अन्तर्गत उत्तमा, मध्यमा और अधमा; देशभेद के अंतर्गत मध्यदेश, मगधवधू, कौशलवधू, पाटलवधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंगाल तथा अन्य अनेक स्त्रियों का वर्णन है। वयक्रम के भेद के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा; प्रकृतिभेद के अंतर्गत वात गुणी, पित्त गुणी, कफ गुणी तथा सत्व भेद के अन्तर्गत देव सत्व, मानुष सत्व, गन्धर्व सत्व, यक्ष सत्व, पिशाच सत्व इत्यादि का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त वे नायिका के अष्टांग-यौवन, रूप, गुण, प्रेम, शील, कुल, वैभव, भूषण का विवरण देते हैं और अन्त में नागरी और ग्राम्या अनेक नायिकाओं, जैसे—राजपुर नागरी, पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल नागरी, धाई, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटविन, सुनारिन, गंधिन, तोल्न आदि का बड़ा रोचक एवं मनोग्राही वर्णन देकर नायिका भेद पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।'[१] इससे स्पष्ट है कि जितना नायिका भेद का विस्तार देव ने किया उतना हिन्दी के अन्य किसी आचार्य ने नहीं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के वर्गीकरण से लाभ उठाकर अपनी मौलिक प्रतिभा एवं सूझ का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। रस और अलंकारों के क्षेत्र में भी देव की इस प्रतिभा का परिचय मिलता है, जिन्हें दिखलाने के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है।

अपनी इन्हीं कुछ विशिष्टताओं के कारण मतिराम से प्रभावित होने पर भी देव नायिका भेद के क्षेत्र में केशव की भाँति सबसे अलग रहे। उनके परवर्ती आचार्यों ने भी

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, प्र० सं०, पृ० ९७।

विषय विस्तार की दिशा में देव के आदर्शों पर कुछ कार्य करना चाहा है, किन्तु 'रसलीन', 'दास' आदि ने उनके प्रधान वर्गों में ही भेदोपभेद बढ़ाकर उनकी वृद्धि की है। अलग से इस शास्त्रांग का इस प्रकार विस्तार आगे के आचार्यों द्वारा नहीं हो सका। देव द्वारा किए गए नवीन एवं अद्भुत भेदों के आविष्कार लोकप्रियता न पाने के कारण अपनी परम्परा का निर्माण नहीं कर सके।

रसलीन और मतिराम

'रस प्रबोध' रसलीन जी का नायिकाभेद का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका पूरा नाम सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी 'रसलीन' था। नखशिख वर्णन पर लिखा 'अंग दर्पण' नामक इनका एक और सुन्दर ग्रन्थ प्राप्त है। इनकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके निम्नलिखित दोहे को बिहारी के दोहों के साथ मिला लिया जाता है—

'अमिय, हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥' —अंगदर्पण

आरम्भ में रस का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् 'रस प्रबोध' में भाव का स्वरूप वर्णन कुछ अधिक विस्तार से किया गया है। शृंगार रस में श्रीकृष्ण प्रकरण के पश्चात् नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इनकी नायिकाओं की संख्या तो देव की संख्या की भी कई गुनी है। इन्होंने एक स्वकीया, दो परकीया, एक सामान्या जो सब अष्ट नायिकाओं से मिलकर बत्तीस होती हैं, प्रत्येक के उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा भेद मिला कर ९६ और जाति अनुसार पद्मिनी आदि चार भेद कर देने पर उनकी संख्या ३८४ हो जाती है, इसके अतिरिक्त सबके दिव्या-दिव्य भेद करके उन्होंने कुल नायिकाओं की संख्या १३५२ लिखी है।[1] इन्होंने जिस प्रकार नायिकाओं की संख्या में विस्तार किया है, उस प्रकार नायिकाओं के और भी न जाने कितने तेरह सौ बावन भेद किए जा सकते हैं। अनावश्यक विस्तार से स्पष्ट हो जाता है कि इनकी रुचि नाम गिनाने की ओर अधिक रही है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने जितनी प्रकार की नायिकाओं का नाम ले रखा था, उनकी संपूर्ण सूची रसलीन के वर्णन में तो मिल ही जाती है और उसके अतिरिक्त इनकी विस्तारकप्रतिभा का चमत्कार भी देखने को मिल जाता है। मतिराम ने सामान्या के भेदोपभेदों का वर्णन नहीं किया था और इस वर्णन की ओर अन्य आचार्यों की भी रुचि कम ही रही है, किन्तु रसलीन जी ने रस लेकर उसके भेदोपभेदों का वर्णन किया है। सामान्या के इन्होंने चार भेद लिखे हैं, जिसे स्वतंत्रा, जननीआधीना, नेमता और प्रेमदुखिता कहते हैं।

---

1. 'इक सुकिया द्वै परकिया, सामान्या मिलि चारि।
अष्ट नायिका मिलि सोई, बत्तिस होत विचारि॥
उत्तमादि सो मिलि उहै, सुन छियानबे होत।
पुनि चौरासी तीन सौ, पदमिन आदि उदोत॥
तेरा सै बावन बहुरि, दिव्यादिव्य के संग।
यों गनना में नायिका, बढ़नी बुद्धि तरंग॥

आचार्य भिखारीदास और मतिराम

'शृंगार निर्णय' आचार्य भिखारीदास का नायिका-भेद पर लिखा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन्होंने भी मतिराम की भाँति आरम्भ में नायक और नायिका को शृंगार रस का कारण बताते हुए ग्रन्थ निर्माण का अभिप्राय प्रकट किया है। नायिका-भेद का आरम्भ में वर्णन करके इन्होंने सर्वप्रथम नायकभेद का वर्णन किया है। इन्होंने नायक का एक भेद साधारण मान कर उसके 'पति' एवं 'उपपति' दो उपभेदों का वर्णन किया है, तत्पश्चात् उसके अर्थात् पति के 'अनुकूल' आदि उपभेद किए हैं। मतिराम ने नायक के एक लक्षण 'वैशिक' का भी वर्णन किया है और अनुकूल आदि उपभेदों का वर्णन 'पति' के अन्तर्गत ही किया है, किन्तु 'दास' ने उपपति के साथ भी किया है। इसके अतिरिक्त मतिराम की भाँति अभिमानी आदि त्रिविध भेद न करके उसके दो भेदों 'वचन-चतुर' और 'क्रिया-चतुर' का वर्णन दक्षिण 'उपपति' के अन्तर्गत ही कर दिया है।

'दास' ने नायिका भेद के आरम्भ में आत्म धर्म के आधार पर उसके स्वकीया और परकीया दो भेद किये हैं और उनके भेदोपभेदों के वर्णन के पूर्व नायिका के नखशिख का अत्यंत शृंगारिक एवं मनोहर वर्णन किया है, रसराज में जिसका अत्यंत अभाव है। इन्होंने 'सामान्या' नायिका का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इनके द्वारा किये गए पतिव्रता, उद्वारिज और माधुर्ज, स्वकीया के तीन भेदों का वर्णन मतिराम में नहीं पाया जाता। अवस्थानुसार मुग्धादि जिन भेदों का वर्णन मतिराम ने केवल स्वकीया के अंतर्गत ही किया था, 'दास' ने उनको स्वकीया और परकीया दोनों में माना है। इसके अतिरिक्त जेष्ठा-कनिष्ठा नायिका के साधारण ज्येष्ठा दक्षिण की ज्येष्ठा-कनिष्ठा, शठ की ज्येष्ठा, शठ की कनिष्ठा, धृष्ठ की जेष्ठा और धृष्ठ की कनिष्ठा, छः उपभेदों का वर्णन केवल दास ने ही किया है। परकीयादि नायिकाओं के भी भेदोपभेद 'दास' के मतिराम से भिन्न हैं। मुग्धा के अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना भेदों का वर्णन स्वकीया को छोड़कर परकीया में भी 'दास' को छोड़कर अन्य किसी ने किया ही नहीं है और ऐसा करना उचित भी नहीं जान पड़ता। क्योंकि यह ऐसी अवस्था है जिसके समाप्त हो जाने पर ही परकीयत्व का स्वरूप प्रकट होने की संभावना रहती है। मतिराम की दस नायिकाओं को न मानकर इन्होंने केशव आदि की भाँति अष्ट नायिका ही स्वीकार की हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अपनी एक और भी विचित्रता रही है कि उन्होंने उन्हें संयोग शृंगार और वियोग शृंगार दो वर्गों में विभाजित किया है। संयोग शृंगार में पहले स्वाधीन पतिका को लिखा है जिसके अन्तर्गत रूप गर्विता, प्रेम गर्विता और गुण गर्विता का कथन किया है, फिर वासकसज्जा को लिखकर उसी के अंतर्गत आगत पतिका को लिखा है। तीसरी नायिका अभिसारिका है, जिसमें शुक्ला और कृष्णा दोनों भेद किये गये हैं। उन्होंने संयोग शृंगार की तीनों नायिकाओं को स्वकीया और परकीया दोनों में लिखा है। वियोग शृंगार की उत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा और प्रोषित भर्तृका, इन पाँच भेदों को लिखा है। इसमें खंडिता के अंतर्गत धीरादि भेद और मानिनी नायिका का उल्लेख कर मानिनी में मान भेद का भी उल्लेख कर दिया है।

'कलहांतरिता' के अन्तर्गत भी मान भेद का कथन है। विप्रलब्धा के अन्तर्गत अन्य सम्भोग दुःखिता और प्रोषित भर्तृका के अन्तर्गत प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगतपतिका एवं आगतपतिका का उल्लेख किया गया है[1]।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'दास' कवि अत्यन्त सतर्क थे कि किसी भी पूर्वाचार्य का प्रभाव उनकी वर्णन प्रणाली पर स्पष्ट न हो पाये। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र परम्परा स्थापित करनी चाही है। इसके अतिरिक्त देव और रसलीन की भाँति अनेक प्रकार की नवीन नायिकाओं की भी इन्होंने उद्भावनायें की हैं। अपने इस नवीन संख्यावर्द्धन में इन्होंने जिस कौशल का परिचय दिया है, उससे इनकी मौलिक प्रतिभा का अनुमान तो लग जाता है, किन्तु बहुत सी साफ बातों में भी उलझनें आ गई हैं, जिसके कारण ये उतने लोकप्रिय नहीं हो पाये जितनी लोकप्रियता मतिराम को मिली।

नायिका भेद समाप्त करने के पश्चात् 'रसराज' की भाँति इन्होंने 'शृंगार निर्णय' में भी शृंगार के उद्दीपन सखी, दूती आदि का विस्तृत वर्णन किया है और भावानुभावों पर भी भलीभाँति विचार किया है।

पद्माकर और मतिराम

कविवर पद्माकर ने अपने सरस छन्दों के कारण उतनी ही लोकप्रियता प्राप्त की थी, जितनी कि महाकवि मतिराम को मिली थी। मतिराम की कविताओं के पश्चात् मर्मस्पर्शी एवं हृदयहारी भावों के लिए यदि किसी सरस कवि का नाम लिया जा सकता है, तो भाग्यशाली कवि पद्माकर ही हैं। ये मूलतः कवि थे, आचार्य नहीं। किन्तु समय के प्रवाह में आकर इन्होंने भी अपनी उत्तम रचनाओं को लक्षणानुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। नायिका-भेद सम्बन्धी इनकी रचना 'जगद्विनोद' है, जो नायिका भेद ग्रन्थों में रसराज की भाँति ही प्रसिद्ध है। रसराज द्वारा स्थापित नायिका-भेद की परम्परा का सर्वोत्तम उदाहरण यदि हम किसी को मान सकते हैं तो वह पद्माकर का जगद्विनोद ही है। मतिराम की ही भाँति इन्होंने आरम्भ में नायिका का लक्षण दिया है जो उनके लक्षण का ही भावानुवाद जान पड़ता है।[2] नायिका-भेद का वर्णन क्रम भी पद्माकर ने मतिराम जैसा ही रखा है।

जगद्विनोद में कुछ बातें ऐसी पायी जाती हैं जिनका उल्लेख रसराज में नहीं मिलता। मतिराम ने प्रौढ़ा नायिका का एक भी भेद नहीं माना है, किन्तु जगद्विनोद में उसके रतिप्रीता और आनन्द संमोहिता नामक दो भेद लिखे गए हैं। प्रौढ़ा के इन दो भेदों का कथन कई प्रमुख कवियों ने किया है। नायिका-भेद समाप्त कर लेने के पश्चात् रसराज की

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, प्रभुदयाल मीतल, द्वितीय संस्करण पृ० १२६।

२. उपजत जाहि विलोकि कै चित बीच रस-भाव।
जाहि बखानत नायिका, जे प्रवीन कविराव ॥५॥ रसराज
रस सिंगार को भाव उर, उपजत जाहि निहार।
ताहि कों कवि नायिका, बरनत बिबिध बिचारि ॥११॥ जगद्विनोद

भाँति ही इन्होंने नायक का भेद-वर्णन किया है और तत्पश्चात् भाव, अनुभाव तथा संचारियों का सुन्दर वर्णन किया है। सखी, दूती आदि उद्दीपनों का वैसा ही सुन्दर वर्णन है, जैसा 'रसराज' में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त जगद्विनोद में किया गया ऋतुओं का अनूठा वर्णन रसराज में नहीं मिलता। पद्माकर की यह अपनी विशेषता थी कि उन्होंने दूसरों के भावों को सरलतम, सुन्दर एवं नवीन स्वरूप प्रदान किया है, जगद्विनोद जिसका ज्वलन्त उदाहरण है।

मतिराम और नायिका भेद के अन्य आचार्य

जिन प्रमुख नायिका-भेद के आचार्यों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने नायिका-भेद पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। सुरति मिश्र की लिखी नायिका-भेद पर सुन्दर रचनायें मिलती हैं। श्रीपति द्वारा लिखा काव्यसरोज काव्य के समस्त अंगों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसमें प्रसंगानुसार नायिका-भेद का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनके कई अन्य रीति-ग्रन्थों में नायिका-भेद सम्बन्धी रचनायें प्राप्त होती हैं। 'सुधा निधि' नामक ग्रन्थ में तोष कवि द्वारा किया हुआ नायिका-भेद का विवेचन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

रघुनाथ के काव्य कलाधर में भाव-भेद, रस-भेद और नायिका-भेद आदि सभी का वर्णन है, किन्तु कवि ने इसके अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन विस्तार के साथ किया है। सोमनाथ का 'रस पीयूष निधि' उनके प्रमुख कवि एवं आचार्य होने का ज्वलंत प्रमाण है। इसमें दशांग काव्य का विशद् विवेचन हुआ है। इसमें कवि ने शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का भी वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसमें परकीया और दस प्रकार की नायिकाओं का कथन अन्य नायिकाओं से अच्छा किया गया है। केशव की भाँति इन्होंने जाति के आधार पर पद्मिनी आदि नायिकाओं का उल्लेख किया है। मतिराम द्वारा किये गये स्वकीया के सभी भेदोपभेद प्रायः इनमें मिल जाते हैं। परकीया के गुप्तादि भेदों को इन्होंने मतिराम की भाँति अलग न मानकर उसके दूसरे भेद 'परोढ़ा' अर्थात् ऊढ़ा के अन्तर्गत ही माना है। इनकी भी प्रवृत्ति सरल और संक्षेप की ओर रही है।

'बेनी प्रवीन' का 'नवरस तरंग' मतिराम के 'रसराज' के आधार पर लिखा गया अत्यन्त मनोहर ग्रन्थ है। कविवर प्रतापसाहि का 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' इसलिये अत्यधिक महत्व रखता है कि इसमें व्यंग्यकाव्य द्वारा समस्त नायिकाओं का वर्णन कर दिया गया है। 'ग्वाल' कवि का रसरंग नामक रस रीति पर लिखा हुआ ग्रन्थ यद्यपि भाव-भेद और रस-भेद प्रधान ही है, किन्तु इसका उत्कृष्टतम अंश नायिका-भेद का ही है। इसके अतिरिक्त द्विजदेव, नवीन, सेवक, सरदार, लछिराम, प्रतापनारायण सिंह, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' और बिहारीलाल भट्ट आदि कवियों की रचनाओं में नायिका-भेद के सुन्दर वर्णन पाये जाते हैं।

नायिका-भेद साहित्य के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि इसका क्रमिक विकास आचार्य कवि मतिराम के 'रसराज' के बाद ही होता है।

नायिका-भेद साहित्य की जो भूमि मतिराम ने प्रस्तुत की, आगे के आचार्यकवियों ने उसे ही आधार बनाकर इस कार्य को आगे बढ़ाया है। कृपाराम की हिततरंगिणी को नायिका-भेद का लिखित इतिहास प्रस्तुत करने का गौरव अवश्य है, आचार्य कवि केशव को हिन्दी काव्य के प्रथम प्रौढ़ आचार्य होने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त है, किन्तु जिस आचार्य कवि की लोकप्रिय सरस एवं मार्मिक रचनाओं को अपनी परम्परा के निर्माण का गौरव मिला है, वे हैं अनुपम प्रतिभा सम्पन्न महाकवि मतिराम और नायिका-भेद पर लिखा उनका अनुपम ग्रन्थ 'रसराज'। इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि कृपाराम और केशव की रचनाओं को आदर्श मान कर व्यापक रूप से नायिका-भेद ग्रन्थों का निर्माण हिन्दी के मध्यकालीन कविता साहित्य में नहीं हुआ। किन्तु मतिराम के पश्चात् एक भी प्रमुख ऐसा कवि नहीं मिलेगा जिसने कि नायिका-भेद के सम्बन्ध में कुछ न कुछ न लिखा हो, अथवा उसकी रचनाओं में से नायिका-भेद सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत न किए जा सकते हों। पद्माकर आदि जैसे कवियों ने तो 'रसराज' के आदर्श पर अनेक अनुपम नायिका-भेद ग्रन्थों का निर्माण किया है।

इस लोकप्रियता के पीछे मतिराम की रचनाओं की अपनी मौलिक विशेषतायें हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा किसी ऐसे नवीन प्रसंगों की उद्भावना नहीं की है जो उनके पूर्व विद्यमान न रही हो, किन्तु दूसरों की उलझी हुई अस्पष्ट बातों को अत्यन्त स्पष्ट रूप देकर सरलतम ढंग से अपनी बना कर किस प्रकार प्रकट किया जा सकता है, इसकी कला महाकवि मतिराम को आती थी। इनके अन्दर नायिका-भेद में आने वाली नायिकाओं की संख्यावृद्धि का आग्रह नहीं पाया जाता, बल्कि इन्होंने प्रमुख नायिकाओं का ही उल्लेख किया है। परकीया और सामान्या की संख्या केशव से अधिक बढ़ा देने पर भी दोनों की संख्या में अधिक अन्तर नहीं आया है। 'रसराज' के अन्दर लक्षण इतने स्पष्ट तथा उदाहरण इतने सरस एवं मार्मिक हैं कि वह अनेक कवियों और साहित्य मर्मज्ञों के लिये अनुकरणीय तथा पाठ्य हो गया।

मतिराम की दृष्टि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की ओर अत्यंत सजग रही है। अनावश्यक विस्तार से भयभीत रहने वाले तथा सरलता एवं सरसता के अत्यन्त प्रेमी मतिराम ने भरसक प्रयत्न किया है कि युग का प्रतिनिधि चित्र उनकी रचनाओं में अवश्य आ जाय। केशव ने सामान्या नायिका का चित्रण नहीं किया है, किन्तु उस समय समाज में सामान्या नायिकायें थीं और उनका पर्याप्त सम्मान भी था जैसा कि उनके कविप्रिया ग्रन्थ से ही अनुमान लगाया जा सकता है। वे सभी ललितकलाओं में दक्ष एवं नारी सुलभ आकर्षण से परिपूर्ण रहती थीं जिससे किसी भी सरस नायक का उनके रूप जाल में फँस जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। यही कारण है कि मतिराम ने सामान्या नायिका को अपने रसराज में स्थान दिया है। सुरुचि सम्पन्न तथा सामाजिक मर्यादाओं की सीमा में विश्वास रखने वाले मतिराम सामान्या की चर्चा करके भी उसके प्रति सामाजिक कुरुचियों को उद्बुद्ध करते नहीं जान पड़ते, क्योंकि उन्होंने उसके भेदोपभेदों का वर्णन नहीं किया है जैसा कि आगे के कुछ आचार्यों में पाया जाता है। औपचारिकता के ही नाते सामान्या को स्थान दिया गया है

ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि तत्कालीन समाज के एक प्रतिनिधि चित्र से अपने ग्रन्थ रसराज को वे अधूरा नहीं रखना चाहते थे।

परकीया नायिका के अनूढ़ा भेद का भी उन्होंने सरस वर्णन किया है जिससे कुछ लोग नाक भौं सिकोड़ सकते हैं, किन्तु तत्कालीन क्वारी कन्याओं के सरस प्रेम व्यापारों का आदान-प्रदान समाज में चलता था, इतिहास इसका साक्षी है। समाज के साधारण स्तर की बात यदि छोड़ भी दी जाय तो इसके उत्कट नमूने हमें मुगल दरबारों में प्राप्त हो सकते हैं, जिसकी गलियों की खाक राजे-महाराजों से लेकर कवि एवं भाट तक छानते रहते थे। मुगल कुमारियों में जहाँनारा तथा जेबुन्निसा के प्रणय व्यापारों के सम्बन्ध में इतिहास मुखर है जिसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। ऐसी स्थिति में यदि मतिराम की रचनाओं में अनूढ़ा नायिका का उल्लेख न मिलता तो यह उनकी अपूर्णता ही होती। इन सभी दृष्टियों से 'रसराज' नायिका-भेद की एक प्रौढ़तम रचना है।

षष्ठ अध्याय

मतिराम और अलंकार वर्णन

अलंकार वर्णन की पूर्व परम्परा

इसकी चर्चा की जा चुकी है कि काव्य शास्त्र के क्षेत्र में हिन्दी कवियों एवं आचार्यों को संस्कृत साहित्य का दाय मिला है। अलंकार वर्णन की परम्परा का विकास संस्कृत साहित्य में क्रमशः होता रहा है, जहाँ से हिन्दी कविताओं में अलंकार वर्णन के सूत्र ढूँढे जा सकते हैं। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं में अलंकारों के दर्शन होते हैं, जिससे ऋचा संख्या १–१२४–७, १–१६४–२०, १–१६४–११ में क्रमशः उपमा, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार पाये जाते हैं। आलंकारिकों ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनकी रचनाएँ ढाई हजार वर्ष से भी पूर्व की हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस काल की कविताओं में भी अलंकार योजना की गई है। गार्ग्याचार्य ने उपमा तथा यास्काचार्य ने निरुक्त में अलंकार का वर्णन किया है। पाणिनी ने भी कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिसमें कुछ काव्य के भी हो सकते हैं, जिससे पता लगता है कि उस समय तक उपमेय तथा उपमान आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रचार हो चला था।

पाणिनि रचित 'पाताल विजय' तथा 'जामवन्ती विजय' दो काव्यों का उल्लेख मिलता है, पर यह निश्चित नहीं कि काव्यकार तथा वैयाकरणी पाणिनि एक ही हैं या दो हैं। कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी तीन आख्यायिकाओं और एक वररुचि काव्य का उल्लेख किया है। 'कंस-वध' तथा 'बलिबन्धन' के प्रत्यक्ष दिखलाने के वर्णन से दो नाटकों का भी वर्णन पाया जाता है। इनके सिवाय और भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण अन्य ग्रंथों से लिये हुए महाभाष्य में मौजूद हैं जिनमें कविता नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी साहित्यिक बातों का वर्णन आया है।'[1] तात्पर्य यह कि विक्रमाब्द के आरम्भ होने तक संस्कृत कविताओं का अच्छा संग्रह हो गया था जिससे उनकी व्यवस्था तथा नियम निर्धारण की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी काव्य रचना तथा लाक्षणिक नियमों की विवेचना साथ-साथ होने लगी।

सन् १५० ई० में लिखे गये जूनागढ़ के रुद्रदामन क्षत्रप के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक काव्य की सुव्यवस्थित लाक्षणिक विवेचना आरम्भ हो गई थी, क्योंकि इसमें काव्य के गद्य, पद्य तथा स्फुट, मधुर, कांत और उदार गुणों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त लेख में 'यमक' भी खूब आया है। अश्वघोष की रचना पद्धति को देखकर कहा जा सकता है कि वे लक्षण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत का 'नाट्यशास्त्र' भी इसी के आसपास बना होगा जिसमें रस, गुण, नाट्यकला

1. 'अलंकार रत्न', व्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० २।

और अलंकारों की विवेचना की गई है। भामह तथा दण्डी ऐसे आलंकारिक आचार्यों एवं कवियों के समय तक संस्कृत साहित्य में अलंकारों का वैभव तो छा ही गया था, कवियों एवं लेखकों ने तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग आरम्भ कर दिया था। इसी काल में सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' और बाणभट्ट ने अपनी 'कादम्बरी' आदि रचनाओं में पारिभाषिक शब्दों का व्यापक प्रयोग किया है। इस प्रकार एक ओर तो अलंकृत शैली में ग्रन्थ रचे जा रहे थे ओर दूसरी ओर तद्विषयक शास्त्र ग्रन्थों की भी सृष्टि हो रही थी। भामह और दण्डी ने अपनी रचनाओं में पूर्वाचार्यों के-नामों का भी उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके पूर्व भी शास्त्र ग्रन्थ लिखे जा रहे थे, वे अब भले ही उपलब्ध न हों।

संस्कृत साहित्य के आचार्यों और कवियों की अलग-अलग सीमायें रही हैं। आचार्य केवल लक्षण लिखने का कार्य करते थे और उदाहरण के लिये अन्य कवियों की कृतियों से रचनायें छांट-छांट कर उपस्थित करते थे। भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष आदि की अलंकृत कविताओं को जो उद्धृत होने का सबसे अधिक गौरव प्राप्त है उसका एकमात्र कारण यही है कि जिन अलंकारों के लक्षण आचार्यों ने निर्मित किये, उनका इन कवियों की रचनाओं में चरम विकास हुआ। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि इन अलंकृत ग्रन्थों के ही आधार पर लक्षणों का निर्माण हुआ है। कृतियां पहले बनती हैं और उनके नियम बाद में। इस प्रकार यदि देखा जाय तो अलंकारों का स्वाभाविक रूप में क्रमिक विकास हुआ है जिन्हें बाद में आचार्यों ने शास्त्रीय स्वरूप देना आरम्भ कर दिया।

हिन्दी के आचार्यों की स्थिति संस्कृत के आचार्यों की-सी नहीं रह सकी, क्योंकि उन्हें मूल रूप में लक्षणों का निर्माण नहीं करना था, बल्कि संस्कृत के शास्त्र ग्रन्थों को भाषान्तर करके हिन्दी में सर्वसुलभ बनाना था। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश आचार्य कवि भी हैं और उन्होंने उदाहरण देने के लिये स्वयं कवितायें गढ़ी हैं जिससे अलंकार प्रयोग साधन न होकर साध्य हो गया। कुछ आचार्य कवि तो ऐसे हैं जो मूलतः कवि हैं, किन्तु रीतिकाव्य परम्परा का निर्वाह करने के लिये ही उन्होंने लक्षण प्रस्तुत किये हैं, ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि उनकी रचनाओं में आचार्यत्व की अपेक्षा काव्यत्व अधिक प्रौढ़ रूप में दिखाई पड़ता है। मतिराम का 'ललितललाम' इस प्रकार का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस काल के कुछ कवियों को छोड़ कर प्रायः सभी अन्य कवियों ने काव्यशास्त्र के एक-एक अंग को लेकर अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं-कहीं भ्रामक परिभाषाएं देकर उनके उदाहरणों के लिखने में अपनी सारी कवित्व शक्ति लगा दी है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार संस्कृत में आचार्य वर्ग अलग था उस प्रकार हिन्दी में न हो सका। इसका मुख्य कारण हिन्दी के आचार्यों में काव्यशास्त्र सम्बन्धी मौलिकता का अभाव तथा गद्य साहित्य का न होना है, जिसकी गम्भीर विवेचना के लिए विशेष आवश्यकता होती थी। ये कविगण भाषा पर भी नियंत्रण नहीं रख सके और 'भाव अनूठो चाहिये भाषा कैसिहु होय' का सिद्धान्त प्रसारित हो गया जिससे इस काल के आचार्य कवि शब्दों को तोड़-मरोड़ कर प्रयोग करने तथा ब्रज, अवधी आदि भाषाओं के शब्दों को सुविधानुसार मिश्रण करने का ये लोभ संवरण नहीं कर सके।

हिन्दी अलंकार शास्त्र का वास्तविक आरम्भ 'पुष्प' कवि की अप्राप्य रचना को छोड़ देने पर आचार्यकवि केशव की 'कविप्रिया' से ही होता है। अलंकृत काल (रीतिकाल) के पूर्व भक्ति काल में काव्यशास्त्र के कुछ अंगों पर रचनाएँ हो चुकी थीं जिनका उल्लेख हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रसंग में हो चुका है, किन्तु वे रचनायें अलंकार शास्त्र को सामने रख कर अथवा अलंकार वर्णन की, दृष्टि से ही नहीं की गई हैं। काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सभी उपलब्ध सामग्रियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि केशवदास ही हिन्दी के सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने एक व्यवस्थित ढंग पर अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी केशव ने अपनी अलंकार शास्त्र सम्बन्धी रचना हिन्दी में की, जबकि उनके बाद तक भी पण्डितराज जगन्नाथ को 'रस गंगाधर' ऐसे संस्कृत काव्य ग्रन्थ प्रस्तुत करने का आकर्षण बना रहा तो अवश्य ही इससे वे किसी विशेष अभिप्राय की सिद्धि करना चाहते थे। आचार्य केशव हिन्दी में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देना चाहते थे, किन्तु उनके पश्चात् इस भावना के परम्परा रूप में विकसित न होने के कारण यह कार्य अवरुद्ध हो गया और मुगलकालीन दरबारी सभ्यता ने जिस प्रकार रूप शिल्प, संगीत तथा चित्रकला आदि को प्रभावित किया उसी प्रकार काव्यशास्त्र के इस महत्वपूर्ण धर्म को भी, जिससे लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत करना एक कला प्रदर्शन को छोड़कर और कुछ नहीं रह गया।

इसमें किसी प्रकार का संदेह किया ही नहीं जा सकता कि 'केशव' आचार्यत्व की भावना से संस्कृत-ज्ञान-वंचित युवकों के लिये हिन्दी में काव्यशास्त्र लिख रहे थे। उन्होंने ब्रजभाषा में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का जो श्रीगणेश किया था, उसका महत्वांकन न कर सकने के कारण आज का अनुवादी आलोचक भी केशव को संस्कृत की पुरानी परम्परा का आचार्य मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि केशव ने भाषा में काव्यशास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग दूसरों के लिये भी प्रशस्त कर दिया था। केशव वस्तुतः एक बड़े आचार्य थे जिनका पाण्डित्य अतर्क्य है, उन्होंने काव्यशास्त्र में जितने अंगों का विवेचन किया, उतने अंगों का दूसरे आचार्यों ने नहीं। रीतिकाल के सामान्य प्रवाह से वे केवल इसी आधार पर अलग किए जा सकते हैं कि उनका आचार्यत्व पूर्ण तथा व्यापक है, एकांगी नहीं, परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण विशेषता केशव का कवि-शिक्षा लिखना है—रीतिकालीन आचार्यों ने रस या अलंकारों के लक्षण, उदाहरण प्रस्तुत किये, परन्तु केशव ने कवियशःप्रार्थी युवकों को साधना का मार्ग दिखाया।[1]"

आचार्य केशव के उपरान्त चिंतामणि से लेकर पद्माकर तक एक परम्परा दिखलाई पड़ती है। चिंतामणि ने कविकुल कल्पतरु तथा काव्यप्रकाश की रचना केवल अलंकार वर्णन की दृष्टि से नहीं, काव्यशास्त्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही की है। केवल अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने अथवा अलंकार शास्त्र का निर्माण करने के लिए मति-राम से पूर्व महत्वपूर्ण केवल एक ग्रन्थ संवत् १६९५ के लगभग जसवंतसिंह कृत भाषा-भूषण लिखा मिलता है, अन्यथा इस कोटि का मतिरामकृत 'ललितललाम' प्राप्त ग्रन्थों में

---

१. 'हिन्दी अलंकार साहित्य', ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ० ५० ।

प्रथम महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलंकारों को कंठस्थ करने की दृष्टि से जसवंतसिंह कृत भाषा-भूषण अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, अन्यथा अलंकार शास्त्र का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं हो पाया है। अलंकार शास्त्र संबंधी ग्रन्थ लिखने वाले जिन आचार्यों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे आचार्य बाद में और स्वच्छन्द कवि पहले थे, उनमें महाकवि मतिराम अग्रणी थे। जिस प्रकार नायक-नायिका-भेद के क्षेत्र में मतिराम सर्वप्रथम आचार्य हैं जिनका परवर्ती कवियों ने सबसे अधिक अनुसरण किया, उसी प्रकार अलंकार वर्णन के क्षेत्र में भी उन्होंने एक नवीन अध्याय की सृष्टि की।

मतिराम और उनके अलंकार ग्रन्थ

'ललितललाम' अलंकारों पर लिखा हुआ मतिराम का अत्यंत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अलंकार पंचाशिका, एक और अलंकार ग्रन्थ कवि मतिराम कृत माना जाता है। इस ग्रन्थ के पूर्णरूपेण न मिलने के कारण, इसके संबंध में कुछ कहना कठिन जान पड़ता है। अलंकार पंचाशिका की रचना कवि ने कुमायूँ के राजा उदोतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द को अलंकारों की शिक्षा देने के लिये ही की थी, ऐसा जान पड़ता है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

'ज्ञानचन्द के गुन घने गनै भनै गुनवंत,
वारिधि के मुक्तान को कौने पायौ अंत।
तदपि यथामति सों कह्यो शब्द अर्थ अभिराम,
अलंकार पंचासिका रची रुचिर मतिराम।

पुस्तक के प्राप्त न होने के कारण निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु जितना अंश मिला है उससे यही जान पड़ता है कि उन्होंने 'ललितललाम' में कहे गए लक्षणों के आधार पर संक्षेप में कुमायूँ नरेश की प्रशंसात्मक उक्तियों के साथ थोड़े बहुत परिवर्तनों के सहारे लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये होंगे।

ललितललाम

'रसराज' के बाद 'ललितललाम' मतिराम का काव्य की दृष्टि से सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कवि ने इस ग्रन्थ का संचयन अपने आश्रयदाता बूँदी के महाराज भावसिंह के लिये किया है, जिसमें अलंकारों का वर्णन है। मतिराम मूलतः मर्मस्पर्शी कवि हैं जिससे इनके लक्षण-ग्रन्थों का भी महत्व अपेक्षाकृत काव्य सौष्ठव की दृष्टि से अधिक है। राजदरबार की औपचारिकता से विवश होकर ही उन्हें 'ललितललाम' को अलंकार ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना पड़ा होगा, अन्यथा उनके अलंकारों के उदाहरणों में रस ही छलकता दिखलाई पड़ता है तथा भावनाओं की स्वस्थ-स्वच्छन्द उड़ान सर्वत्र संगृहीत छन्दों में विद्यमान है। रीति-ग्रन्थों का लिखना तथा उन्हें आश्रयदाताओं को समर्पित करना उस काल की सभ्यता का एक अंग सा हो गया था, जिसकी मतिराम उपेक्षा नहीं कर सके। कवि सम्मान प्राप्त करने के लिये लक्षण ग्रन्थ लिखना अनिवार्य था, जिसका परिणाम 'ललितललाम' है। मतिराम ने रावभाऊ सिंह की रुचि का ध्यान रखते हुये सम्मानार्थ 'ललितललाम' लिखा और उन्हें मनोनुकूल सम्मान उससे मिला भी, जिससे उन्होंने विश्वास के साथ आशा भी प्रकट की है कि जो भी कोई इसे कंठस्थ कर लेगा उसे राजसभाओं में पर्याप्त आदर मिलेगा—

'कंठ करै जो, सभनि मैं, सोभै अति अभिराम।
भयो सकल संसार हित, कविता ललितललाम ॥' ललितललाम ४०१
'भाव सिंह की रीझ कौं, कविता भूषन-धाम।
ग्रंथ सुकवि मतिराम यह, कीनौ ललितललाम ॥' ललितललाम ३८

स्वतन्त्र रचनाओं को ही मतिराम ने लक्षण लिखकर उद्धृत कर दिया है, ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि कविताओं की-सी प्रौढ़ता उनके लक्षणों में नहीं है। ललितललाम में आये कुल छन्दों की संख्या ४०१ है जिसमें लगभग आधे दोहे और शेष कवित्त-सवैये हैं। इसके अतिरिक्त आधे से अधिक छन्द तो ऐसे हैं जो अन्य उनकी रचनाओं के हैं अथवा राव भाऊसिंह की प्रशंसा में कहे गये हैं। कुछ थोड़े से छन्द ऐसे हैं जिनकी रचना कवि ने उदाहरणस्वरूप लिखी है। 'ललितललाम' के आरम्भिक पाँच छन्दों में मंगलाचरण है जिनमें एक छन्द राव भाऊसिंह को लक्ष्य करके लिखा गया है। मंगलाचरण के बाद के सतरह छन्दों में 'बूँदी-नगर वर्णन' तथा सोलह छन्दों में 'नृपवंश वर्णन' किया गया है। जिसमें भी कवि ने दो छन्द पूर्णतः राव भाऊसिंह को ही लक्ष्य करके लिखा है। मतिराम अपने आश्रयदाता राव भाऊसिंह पर पूर्णतः रीझ गये जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने ललितललाम के लगभग साठ छन्दों में दिल खोलकर महाराज की प्रशंसा की है। शेष छन्दों में इकतीस छन्द कवि ने अपनी अन्य रचनाओं 'रसराज' तथा 'सतसई' से लाकर उद्धृत कर दिये हैं और अन्तिम तीन छन्दों में कवि ने शुभकामना प्रकट की है। इस प्रकार लक्षण बतलाने के लिये लिखे गये यदि एक सौ चौंतीस दोहों को भी निकाल दिया जाय तो आधे से अधिक ऐसे निकल जाते हैं जिनकी रचना अलंकारों के उदाहरणस्वरूप नहीं लिखी जान पड़ती, केवल ललितललाम के चार सौ एक छन्दों में एक सौ अड़तीस छन्द ऐसे हैं जिन्हें कवि ने 'ललितललाम' ऐसे अलंकार ग्रन्थ के संग्रहार्थ लिखा होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन लक्षण ग्रन्थों की परम्परा अथवा राजदरबार की औपचारिकता से प्रेरित होकर ही उन्हें अलंकार ग्रन्थ प्रस्तुत करना पड़ा है। यही कारण है कि 'ललितललाम' मतिराम की काव्य प्रतिभा की प्रौढ़ता का जितना द्योतन करता है उतना उनके आचार्यत्व का नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मतिराम में आचार्य होने के गुण वर्तमान ही नहीं थे, उनमें आचार्य होने की पूर्ण क्षमता थी, किन्तु अपनी रचना और प्रवृत्ति में वे कवि प्रथम और आचार्य बाद में है। जहाँ तक समसामयिक हिन्दी आचार्य परम्परा का प्रश्न है, तत्कालीन कम हिन्दी आचार्यों के विचार उतने स्पष्ट एवं सुलझे हुए हैं जितने की आचार्य कवि मतिराम के।

कवि मतिराम के चमत्कारवादी न होने का इससे भी प्रमाण मिलता है कि उन्होंने 'ललितललाम' में शब्दालंकारों का वर्णन न करके अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है। ग्रन्थ के तीन सौ साठ छन्दों में अलंकारों का वर्णन किया गया है। जिसमें मतिराम ने शब्दालंकारों की तो चर्चा ही नहीं की है, इसके अतिरिक्त उन्होंने चार रसवत् आदि, तीन भावोदय आदि तथा आठ प्रमाण अलंकारों को भी स्थान नहीं दिया है। आचार्य केशव ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा भूषण ने अन्त में अलंकारों की सूची दी है, किन्तु इन अर्थालंकारों की सूची भी 'ललितललाम' में नहीं दी गई है। 'ललितललाम' में वर्णित अलंकारों की संख्या तथा क्रम लगभग 'कुवलयानन्द' के ही अनुसार है। केवल एक अलंकार 'काव्यलिंग'

जो 'कुवलयानन्द' में मिलता है, 'ललितललाम' में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त वर्णन पद्धति पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव 'ललितललाम' पर स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। भाषा भूषण आदि के समान 'चित्र' अलंकार को भी इस ग्रन्थ में स्थान मिल गया है।

यह कहना कठिन है कि 'ललितललाम' पर किसी एक संस्कृत लक्षण ग्रन्थ का प्रभाव है, क्योंकि अपनी रुचि के अनुसार लेखक ने कई ग्रन्थों का सहारा लिया है ऐसा जान पड़ता है। जैसा कि देखा जा सकता है 'अलंकारों के भेद सर्वत्र कुवलयानन्द के आधार पर नहीं हैं। किसी एक पुस्तक का आधार भी नहीं माना जा सकता। व्यतिरेक, अप्रस्तुत प्रशंसा तथा अल्प के भेद यहाँ नहीं दिये गये—अप्रस्तुत प्रशंसा के भेदों की अवहेलना पर ध्यान देना पड़ेगा। विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास तथा भाविक के भी भेद नहीं लिखे, परन्तु दो-दो उदाहरण दे दिये हैं, जिनसे अलग अलग भेद स्पष्ट हो जाते हैं—विनोक्ति का प्रथम उदाहरण चन्द्रालोक में वर्णित हीनत्व-प्रतिपादन वाला है, और दूसरा 'कुवलयानन्द' में बढ़ाया गया शोभनत्व प्रतिपादन वाला। अर्थान्तरन्यास का प्रथम उदाहरण सामान्य से विशेष का समर्थन करता है और दूसरा विशेष से सामान्य का। भाविक का प्रथम उदाहरण भूतार्थ का है तथा दूसरा भविष्यदर्थ का। लेश तथा तुल्य-योगिता के दो-दो भेदों का ही उल्लेख है।'[1] कुछ अलंकारों के तो मतिराम ने नामों में भी परिवर्तन कर दिये हैं—जैसे कैतवापह्नुति, प्रतियमान उत्प्रेक्षा, अन्योन्य तथा कारणमाला को पर्यायवाची शब्दों द्वारा बदल कर उन्होंने क्रम से छलापह्नुति, गुप्तोत्प्रेक्षा, परस्पर तथा हेतुमाला लिखा है। इस परिवर्तन का कोई ठोस आधार नहीं जान पड़ता—बल्कि यह कवि की रुचि का ही परिचायक है।

ऐसा जान पड़ता है कि मतिराम को नाम बदलने का शौक सा था, जैसा कि उन्होंने अलंकार शब्द के लिये ललाम शब्द का उपयोग किया है और अपने ग्रन्थ का नाम ललित-ललाम रखा है। 'ललाम का अर्थ है सुन्दर, सौन्दर्य या अलंकार, और ललित का अभिप्राय है सुकुमारोपयोगी—अप्पयदीक्षित ने भी अपने लक्ष्य लक्षण संग्रह को ललित ही बनाया था (ललितः क्रियते तेषां लक्ष्य लक्षण संग्रहः।४।—कुवलयानन्द) इस प्रकार ललितललाम का अर्थ हुआ ऐसा अलंकार ग्रन्थ जो सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिये उपयोगी हो।'[2] प्रयत्न लाघव की ओर उन्मुख होने के कारण मतिराम ने बहुत से अलंकारों के नामों में से अक्षर तक कम करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विशेषक के स्थान पर विशेष और विषादन के स्थान पर विषाद लिखा है जो विशेष खटकता भी नहीं और अर्थ लगाने में भी किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती, किन्तु कठिनाइयाँ ऐसे स्थान पर आ जाती हैं जहाँ पर एक ही नाम से दो अलंकारों को स्वीकृति दे दी जाती है। 'ललितललाम' में इस कठिनाई का अनुभव उस स्थान पर होता है जहाँ कवि ने एक स्थान पर तो विशेषक को विशेष बना दिया और दूसरे स्थान पर भी विशेष नामक एक दूसरे अलंकार का भी वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त लक्षण और उदाहरण की सटीक संगति जो कहीं-कहीं नहीं बैठ पाती, उसके लिए मतिराम की स्वतन्त्र काव्य प्रतिभा ही उत्तरदाई है जो लक्षणों के अन्तर्गत नहीं बंध पाती। पूर्ववर्ती

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ० ९१।
२. वही।

आचार्यों में स्मृति तथा स्मरण, भ्रान्ति तथा भ्रम का हेरफेर और संस्कृत में स्वभावोक्ति तथा जाति का एक दूसरे का पर्याय होना तो सामान्य-सी बात रही है, किन्तु अलंकारों के नामों में स्वच्छन्दता की आवश्यकता उन लोगों ने नहीं समझी है जो ललितललाम में पाई जाती है।

ललितललाम में वर्णित अलंकारों की संख्या लगभग एक सौ अस्सी के है जिनमें भेद-उपभेद भी संमिलित हैं। कुछ अलंकारों के तो केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें मुख्यतः प्रमुख अलंकारों के भेद-उपभेद ही हैं। अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों ने जहाँ लक्षण देने के साथ ही साथ भेदोपभेदों का नाम भी गिना दिया है, वहीं मतिराम ने बहुत से भेदोपभेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया है जिससे यह पता लगाना अत्यंत कठिन हो जाता है कि कवि उन्हें स्वतन्त्र अलंकार मानता था, अथवा उपभेद के रूप में स्वीकार करना चाहता है। जैसा कि कुछ अन्य आचार्यों ने पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, मालोपमा आदि को उपमा के भेद माने हैं, किन्तु मतिराम ने इसका कहीं भी संकेत न करके उनका स्वतन्त्र वर्णन किया है।

अलंकार वर्णन

उपमा-चक्र

ललितललाम में उपमा के अनेक भेदों का कथन किया गया है, किन्तु इसकी सूचना मतिराम ने नहीं दी है कि वे उपमा के अमुक-अमुक भेदों का वर्णन कर रहे हैं जैसा कि अन्य आचार्यों ने किया है। उपमा अलंकार को 'ललितललाम' में विशेष महत्व दिया गया है और ग्रन्थ का आरम्भ उपमा अलंकार से ही होता है। उपमेय और उपमान का लक्षण देकर उपमा का लक्षण दिया गया है जिस पर जयदेव का स्पष्ट प्रभाव है[1]।

जिसका वर्णन किया जाय उसे उपमेय और जिसकी समता दी जाय उसको उपमान कहते हैं। जहाँ उपमेय और उपमान की समान सुन्दरता का वर्णन हो, मतिराम वहाँ उपमा अलंकार मानते हैं। इसके भेदों के अन्तर्गत पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा और रसनोपमा का उन्होंने वर्णन किया है। इनके पूर्णोपमा का लक्षण अत्यन्त शिथिल है और मालोपमा, रसनोपमा तथा उपमेयोपमा के लक्षणों पर काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है[2]।

---

१. जहाँ बरनिए दुहुनि की, सम छवि को उल्लास।—(ललितललाम)
उपमायत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।—(जयदेव)

२. (क) जहां एक उपमेय को, होत बहुत उपमान। —ललितललाम
मालोपमापदे कस्योपमानं बहुदृश्यते। —साहित्यदर्पण

(ख) जहां प्रथम उपमेय सो, होत जात उपमान। —ललितललाम
ययोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता। —साहित्यदर्पण

(ग) जहां होत है परस्पर, उपमेयो उपमान। —ललितललाम
पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता। —साहित्यदर्पण
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः। —काव्यप्रकाश

(घ) जहाँ एक ही बात कौं उपमेयोपमान। —ललितललाम
उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः। —साहित्यदर्पण

अनन्वय

एक ही वस्तु को जब उपमेय और उपमान दोनों कहा जाता है तो वहां अनन्वयालंकार होता है।

प्रतीप

प्रतीप अलंकार में प्रसिद्ध उपमान को ही उलट कर उपमेय कहा जाता है। मतिराम ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम नाम से इसके अन्य भेदों का भी वर्णन किया है।

रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय को अभिन्न मानकर तद्रूप वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अलंकार होता है। 'ललितललाम' में समोक्ति अभिन्न रूपक, हीनोक्ति अभिन्न रूपक और अधिकोक्ति अभिन्न रूपक नामक रूपक के तीन प्रमुख भेद स्वीकार किए गए हैं। किन्तु उदाहरण प्रस्तुत करते समय अभिन्न और तद्रूप रूपक को अलग-अलग मानकर समोक्ति, हीनोक्ति तथा अधिकोक्ति के वर्णन दोनों के साथ-साथ अलग-अलग किए गए हैं।

परिणाम

परिणाम अलंकार में उपमान और उपमेय मिलकर (अभिन्न होकर) किसी कार्य का संपादन करते हैं।

उल्लेख

उल्लेख अलंकार के दो भेद माने गये हैं। जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन अनेक लोगों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय, वहाँ प्रथम उल्लेख और जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय वहाँ द्वितीय होता है।

स्मृति-भ्रम और सन्देह

मतिराम ने स्मृति-भ्रम और सन्देह का लक्षण एक ही साथ दिया है, किन्तु प्रत्येक के उदाहरण अलग-अलग दिये हैं। जहाँ किसी वस्तु को देखकर और किसी वस्तु का स्मरण, भ्रम तथा संदेह हो वहाँ उपरोक्त तीनों अलंकार होते हैं। तीनों अलंकारों का लक्षण एक साथ दे देने से लक्षण बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं होता, जब कि उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। लक्षण देने में कवि का संकोच सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।

अपन्हुति

जिस स्थान पर वास्तविक धर्म (उपमेय) को छिपाकर अन्य-धर्म (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ शुद्धापन्हुति अलंकार होता है। 'ललितललाम' में अपन्हुति का लक्षण तथा उदाहरण न देकर शुद्धापन्हुति से आरम्भ कर उसके शुद्धापन्हुति, हेत्वापन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, भ्रान्त्यापन्हुति, छेकापन्हुति तथा छलापन्हुति आदि छः भेदों का ही वर्णन किया गया है।

उत्प्रेक्षा

जहाँ किसी वस्तु की सम्भावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जिसके वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा मुख्य तीन भेद हैं और प्रत्येक के उपभेदों का भी वर्णन

किया गया है। उक्तविषया और अनुक्तविषया वस्तुत्प्रेक्षा के दो भेद तथा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में प्रत्येक के सिद्धविषया और असिद्ध विषया दो भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ वाचक शब्द का अभाव होता है, वहाँ गुप्तोत्प्रेक्षा नाम से एक अलंकार ललितललाम में और स्वीकृत किया गया है। मतिराम के उत्प्रेक्षा का लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथ पर ही आधारित है।[1] 'जो छः भेद किए गए हैं उनके उदाहरण उपयुक्त हैं, परन्तु अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण विचारणीय है। यह भेद वहाँ माना जाता है, जहाँ उत्प्रेक्षा की विषय भूत वस्तु का कथन न हो।[2]'

अतिशयोक्ति

मतिराम ने अतिशयोक्ति का लक्षण नहीं दिया है, परन्तु इसके रूपकातिशयोक्ति, सापन्हवातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, द्विविधसंबंधातिशयोक्ति, द्वितीयसंबंधातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चंचलातिशयोक्ति तथा अत्यंतातिशयोक्ति आदि भेदों का वर्णन किया है। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण हैं परन्तु बड़े अस्पष्ट।

प्रथमतुल्योगिता

'ललितललाम' में प्रथमतुल्योगिता के नाम से ही तुल्योगिता का लक्षण किया गया है और अवर्ण्य तथा वर्ण्य का एक-एक उदाहरण दिया गया है। उपमानों अथवा उपमेयों का जहां एक धर्म वर्णित हो वहां मतिराम ने तुल्योगिता अलंकार माना है।

द्वितीय तुल्योगिता

जहां हित और अहित दोनों में वर्ण्य का समान भाव दिखाया जाय, वहां द्वितीय तुल्योगिता अलंकार होता है।

दीपक

वर्ण्य-अवर्ण्य अथवा उपमेय और उपमान के जहां एक ही धर्म बताये जायँ, वहां दीपक अलंकार होता है।

दीपकावृत्ति

जहां दीपक में (धर्मवाची शब्दों की) आवृत्ति पायी जाय, वहां दीपकावृत्ति अलंकार होता है। यह आवृत्ति शब्द, अर्थ और शब्दार्थ तीन प्रकार की होती है जिसके आधार पर उन्होंने शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति तथा शब्दार्थावृत्ति तीन प्रकार के दीपकावृत्ति के भेद माने हैं।

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ दो भिन्न पदों में विभिन्न एकार्थवाची शब्दों द्वारा एक धर्म की ही व्यंजना की जाय, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।

---

१. सम्भावनमन्योत्प्रेक्षा। —काव्यप्रकाश
भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा। —साहित्यदर्पण
जहँ कीजै सम्भावना, सोत्प्रेक्षा जानि। —ललितललाम

२. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ०।

दृष्टान्त

जहाँ दो पद-समूहों में एक ही धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव वर्णित हो, वहाँ दृष्टांत अलंकार होता है।

निदर्शना

ललितललाम में निदर्शना अलंकार का लक्षण और उदाहरण नहीं दिया गया है, किन्तु प्रथम, द्वितीय और तृतीय निदर्शना के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त तृतीय निदर्शना के असत् और सत् नाम से दो उदाहरण दिए हैं। जहाँ दो समान वाक्यों में एक ही अर्थ का आरोप किया जाय, वहाँ मतिराम ने निदर्शन माना है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमेय में उपमान से विशिष्टता का वर्णन हो, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

सहोक्ति

कारण के साथ कार्य का होना न दिखाकर जब उसका होना अन्य के साथ दिखाया जाता है, तो सहोक्ति अलंकार होता है।

विनोक्ति

जहाँ विना किसी बात के प्रसंग आये ही वस्तु की हीनता अथवा श्रेष्ठता का वर्णन किया जाय, वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति

प्रस्तुत वस्तु से जब अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाय, तो वहाँ समासोक्ति अलंकार मानना चाहिये।

परिकर तथा परिकरांकुर

जहाँ विना विशेष्य का (व्यक्ति विशेष) वर्णन साभिप्राय विशेषणों द्वारा किया जाय, वहाँ 'परिकर' और जहाँ विशेष्य का साभिप्रायता से वर्णन किया जाय, वहाँ 'परिकरांकुर' अलंकार होता है।

श्लेष

एक ही शब्द से जहाँ अनेक अर्थ उत्पन्न होते हैं, वहाँ श्लेषालंकार होता है। प्रकृत, अप्रकृत और प्रकृताप्रकृत इसके तीन भेदों का ही उदाहरण ललितललाम में दिया गया है।

अप्रस्तुत प्रशंसा

प्रस्तुत का नाम लेते हुए जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा की जाय वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है।

प्रस्तुतांकुर

प्रस्तुत कर के जहाँ प्रस्तुत प्रकट किया जाय, वहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है, किन्तु इसके लिये जो उदाहरण दिया गया है, वह 'पर्यायोक्ति' का है।

पर्यायोक्ति

ललितललाम में पर्यायोक्ति का लक्षण प्रथम पर्यायोक्ति के नाम पर दिया गया है, किन्तु उदाहरण उसके दो भेद प्रथम तथा द्वितीय पर्यायोक्ति के ही दिए गए हैं। अन्य वचनों से जहाँ गुप्त अर्थ उत्पन्न हो जाय, वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है।

व्याजस्तुति

निन्दा करने से जहाँ बड़ाई और बड़ाई करने से निन्दा का आभास हो जाय, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है।

व्याज निन्दा

जिस वस्तु या व्यक्ति की निन्दा की जाय, उससे उस वस्तु या व्यक्ति की निन्दा न होकर दूसरे की निन्दा प्रकट हो, वहाँ व्याज निन्दा अलंकार होता है।

आक्षेप

ललितललाम में आक्षेप का उदाहरण नहीं दिया गया है और प्रथम आक्षेप के नाम पर आक्षेप अलंकार का ही लक्षण प्रस्तुत किया गया है। जहाँ अपनी कही हुई बात का समझकर निषेध किया जाय, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। इसके प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेदों के वर्णन किये गये हैं।

विरोधाभास

जहाँ विरोध का आभास मात्र होता है, किन्तु वास्तविक विरोध नहीं रहता, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है।

विभावना

विभावना के छः भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। स्वतन्त्र रूप से विभावना के लक्षण और उदाहरण नहीं दिए गए हैं, किन्तु प्रथम विभावना का लक्षण और उदाहरण विभावना अलंकार का ही है। जहाँ कारण के अभाव में कार्य का होना कहा जाय, वहाँ विभावना अलंकार होता है।

विशेषोक्ति

पूर्ण कारण के रहते हुए भी जहाँ कार्य की सिद्धि न हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।

असंभव

जहाँ प्रयोजन के सिद्ध होने की सम्भावना न प्रकट की जाय, वहाँ असम्भव अलंकार होता है।

असंगति

जहाँ कारण और कार्य में संगति न दिखा कर कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र दिखाया जाय, वहाँ असंगति अलंकार होता है। इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है। असंगति का वर्णन प्रथम असंगति के अंतर्गत ही किया गया है।

विषम

दो वस्तुओं में समानता न होने पर भी उन्हें एक दूसरे के अनुकूल बताया जाय, तो विषम अलंकार होता है। इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और विषम का वर्णन प्रथम विषम के अन्तर्गत ही हुआ है।

सम

जहाँ दो समान रूपों का वर्णन किया जाता है, वहाँ समालंकार होता है। ललित-ललाम में इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और सम का वर्णन प्रथम सम के अन्तर्गत ही है।

विचित्र

जहाँ फल की इच्छा प्रयत्न के विपरीत की जाती है, वहाँ विचित्र अलंकार होता है।

अधिक

आधेय को जहाँ आधार से भी बड़ा कहा जाय, वहाँ अधिकालंकार होता है। इसके दो भेदों का वर्णन किया गया है। प्रथम अधिक के अंतर्गत ही अधिक का वर्णन है।

अल्प

जहाँ सूक्ष्म आधेय हो किन्तु आधार उससे भी सूक्ष्म हो तो, वहाँ अल्प अलंकार माना जाता है।

परस्पर

जहाँ दो वस्तुएँ परस्पर उपकारी हों और उनके नाम बताये जायँ, तो वहाँ परस्पर अलंकार होता है।

विशेष

प्रसिद्ध आधार के अभाव में जहाँ आधेय का वर्णन हो, वहाँ विशेष अलंकार होता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं और प्रथम विशेष के अन्तर्गत ही विशेष का वर्णन है।

व्याघात

जहाँ एक ही वस्तु का प्रभाव दो विभिन्न रूपों में वर्णित हो, वहाँ व्याघात अलंकार होता है। प्रथम और द्वितीय व्याघात के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

हेतुमाला

पूर्व में कारण प्रकट करते हुए जहाँ कार्य का होना बतलाया जाय, वहाँ हेतुमाला अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं। प्रथम हेतुमाला के अन्तर्गत ही हेतुमाला अलंकार का वर्णन होता है।

एकावली

जहाँ एक के बाद एक को लेकर और एक को छोड़ते जाते हैं, वहाँ एकावली अलंकार होता है।

माला दीपक

एकावली और दीपक अलंकार का जहाँ योग हो जाता है, वहाँ माला दीपक अलंकार होता है।

सार तथा यथासंख्य

इन दोनों के लक्षण एक ही दोहे में दिए गए हैं, किन्तु उदाहरण अलग-अलग हैं। क्रमशः जहाँ आगे उत्कर्ष का होना दिखाया जाय, वहाँ 'सार' और जहाँ किसी वस्तु को क्रम से गिनाकर तदनुसार क्रम से बाद में उसका वर्णन किया जाय वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है।

द्विविध पर्याय

जहाँ क्रम से एक में अनेक और अनेक में एक पर्याय के समान स्थित दिखाये जाय, वहाँ द्विविधपर्याय अलंकार होता है। एक में अनेक और अनेक में एक के अलग-अलग उदाहरण ललितललाम में दिए गए हैं।

परिवृत्ति

कम और अधिक दो बातों को जहाँ पलट दिया जाय, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है।

परिसंख्या

कुछ बातों को अन्य स्थानों से हटाकर जब एक ही स्थान पर उनका वर्णन किया जाय तो परिसंख्या अलंकार होता है।

विकल्प

समान बलवाली दो बातों का जहाँ विरोध वर्णन हो, वहाँ विकल्प अलंकार होता है।

समुच्चय

जहाँ एक ही स्थान पर एक ही समय बहुत सी बातों का (गुंफ) वर्णन किया जाय, वहाँ समुच्चय होता है। प्रथम और द्वितीय समुच्चय इसके दो भेद होते हैं। प्रथम समुचय में ही समुचय का वर्णन किया गया है।

कारक-दीपक

क्रम से जहाँ एक में अनेक बातों का (गुंफ) वर्णन हो, वहाँ कारकदीपक अलंकार होता है।

समाधि

दूसरे कारणों से जहाँ अन्य कार्य की सिद्धि होती हो, वहाँ समाधि अलंकार होता है।

प्रत्यनीक

इस अलंकार का लक्षण अत्यंत अस्पष्ट है। 'प्रबल शत्रु के पक्ष पर जहाँ विक्रम उल्लास' से कोई बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु उदाहरण से स्पष्ट होता है कि जहाँ शत्रु के शक्तिमान होने से उसके किसी संबंधी को बाधा पहुँचने का वर्णन हो वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।

काव्यार्थापत्ति

इसका लक्षण भी 'प्रत्यनीक' की भाँति स्पष्ट नहीं है। किन्तु उदाहरण से स्पष्ट होता है कि जहाँ इस प्रकार का वर्णन किया जाय कि अमुक वस्तु जब ऐसी है तो अमुक वस्तु उसके समान कैसे हो सकती है।

अर्थान्तरन्यास

जहाँ विशेष का कथन करके सामान्य का अथवा सामान्य का कथन करके विशेष का वर्णन किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना गया है।

विकस्वर

विशेष का कथन करके जहाँ सामान्य का और पुनः विशेष का कथन किया जाय, वहाँ विकस्वर अलंकार होता है।

प्रौढ़ोक्ति

उत्कर्ष के अकारण (उपयुक्त कारण नहीं) को जहाँ उत्कर्ष का कारण मान लिया जाय, वहाँ प्रौढ़ोक्ति अलंकार होता है।

संभावना

जहाँ 'यो होय' इस प्रकार किसी अर्थ की कल्पना करके 'तु होय यों' इस प्रकार से किसी सम्भावितार्थ (संभव अर्थ) की सिद्धि की जाय, वहाँ संभावना अलंकार होता है।

मिथ्याध्यवसित

यह अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक झूठ को सिद्ध करने के लिए अन्य झूठ का वर्णन किया जाता है।

ललित

जहाँ वर्ण्य वस्तु का वर्णन न करके उसके प्रतिबिम्ब रूप किसी अप्रस्तुत घटना का वर्णन किया जाय, वहाँ ललित अलंकार होता है।

प्रहर्षण

इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और प्रथम प्रहर्षण में ही 'प्रहर्षण' का लक्षण दे दिया गया है। मतिराम प्रहर्षण अलंकार वहाँ मानते हैं, जहाँ प्रयत्न किए बिना ही उत्कंठित अर्थ की सिद्धि का वर्णन हो।

विषाद

इच्छा के प्रतिकूल अर्थ की जहाँ प्राप्ति दिखायी जाय, वहाँ विषाद अलंकार होता है।

उल्लास

जहाँ एक के गुण दोष से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त हो, वहाँ उल्लास होता है। ललितललाम में गुण से गुण, दोष से दोष, गुण से दोष और दोष से गुण, चार प्रकार के उल्लास के उदाहरण दिये गये हैं।

अवज्ञा

जहाँ एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष न प्राप्त हो, वहाँ अवज्ञा अलंकार होता है।

अनुज्ञा

जहाँ दोषयुक्त पदार्थ को गुण समझकर चाहा जाय, वहाँ अनुज्ञा अलंकार होता है।

लेस

जहाँ दोष का गुण रूप में और गुण का दोष रूप में वर्णन किया जाय वहाँ लेस अलंकार होता है। ललितललाम में दोष से गुण और गुण से दोष, दो भेदों का वर्णन किया गया है।

मुद्रा

जहाँ वास्तविक अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्दों से ही अन्य किसी सूचनीय अर्थ का भी बोध कराया जाय, वहाँ मुद्रा अलंकार होता है।

रत्नावली

प्रस्तुतार्थ के वर्णन में जहाँ कुछ अन्य क्रमिक पदार्थों के नाम भी यथाक्रम रखे जायँ, वहाँ रत्नावली अलंकार होता है।

तद्गुण

जहाँ कोई वस्तु अपना रंग छोड़कर अन्य वस्तु का रंग धारण कर लेती है, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है।

पूर्व रूप

कोई वस्तु जब दूसरी वस्तु का रङ्ग छोड़कर पुनः अपना रंग धारण कर लेती है तो उसे पूर्वरूप कहा जाता है। इसके दो भेद हैं। प्रथम पूर्वरूप में ही पूर्वरूप का वर्णन है।

अतद्गुण

जहाँ कोई वस्तु साथ में रहने पर भी दूसरी वस्तु का रंग ग्रहण नहीं करती, जहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।

अनुगुण

अनुकूल रंग पाकर जहाँ किसी वस्तु में उत्कर्ष दिखाया जाय, वहाँ अनुगुण अलंकार होता है।

मीलित

जहाँ दो वस्तुएँ मिलकर एक हो जाती हैं और भेद स्पष्ट नहीं होता, वहाँ मीलित अलंकार माना जाता है।

सामान्य मीलित

दो वस्तुओं के भिन्न रूप होते हुए भी जहाँ कोई विशेष अन्तर न स्पष्ट हो, वहाँ सामान्य मीलित अलंकार होता है।

उन्मीलित

सामान्य मीलित में जहाँ भेद सूचक विशेषता दिखाई जाय अर्थात् अपनी कुछ विशेषता के कारण दो पहचान में न आनेवाली वस्तुओं में भेद स्पष्ट हो जाय, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है। ललितललाम में विशेष उन्मीलित का भी एक उदाहरण दिया गया है।

गूढ़ोत्तर

जहाँ किसी बात के उत्तर से विशेष अभिप्राय लक्षित होता हो, वहाँ गूढ़ोत्तर होता है।

चित्र

इसके दो भेद स्वीकार किए गए हैं। प्रथम चित्र में ही 'चित्र' अलंकार का लक्षण दिया गया है। जहाँ प्रश्न के अक्षरों में ही उत्तर विद्यमान हो वहाँ चित्र अलंकार होता है।

सूक्ष्म

अन्य व्यक्ति के मन की बात समझ कर जहाँ अभिप्राय सहित चेष्टा का वर्णन हो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।

पिहित

जहाँ अन्य व्यक्ति की क्रिया जानकर दूसरा भी अभिप्राय युक्त कार्य करे, वहाँ पिहित अलंकार होता है।

व्याजोक्ति

वास्तविक कारण के स्थान पर जहाँ दूसरा कारण बताकर वास्तविक कार्य को छिपाया जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है।

गूढ़ोक्ति

जिसकी बात उससे न कह कर दूसरे से कहने में गूढ़ोक्ति अलंकार होता है।

विवृतोक्ति

श्लेष के सहारे जहाँ छिपे अर्थ को प्रकट किया जाय, वहाँ विवृतोक्ति अलंकार होता है।

युक्ति

वास्तविक भाव को छिपाने के लिए जहाँ अवास्तविक कार्य प्रकट किया जाता है, वहाँ युक्ति अलंकार होता है।

लोकोक्ति तथा छेकोक्ति

जहाँ लोक में प्रचलित उक्ति का अनुकरण किया जाय वहाँ लोकोक्ति और जहाँ लोक प्रचलित उक्ति विशेष अर्थ लिये वर्णित हो, वहाँ छेकोक्ति अलंकार होता है।

वक्रोक्ति

श्लेष और वचन वक्रता से जहां वास्तविक अर्थ में परिवर्तन आ जाय वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है।

जाति

जहाँ जिसका जैसा स्वभाव हो, वहाँ वैसा वर्णन करना जाति अलंकार होता है।

भाविक

घटित और घटने वाली अवस्था का जहां वर्णन प्रत्यक्ष-वर्तमान काल में किया जाता है, वहाँ भाविक अलकार होता है।

उदात्त

ललितललाम में उदात्त का लक्षण नहीं दिया गया है। उसके दो भेद 'द्विविध' और 'उपलक्षण' का वर्णन किया गया है। प्रथम में संपत्ति के आधिक्य का वर्णन होता है और दूसरे में किसी महान पुरुष को अंग भाव मानकर उसके चरित्र से अंगी के महत्व प्राप्त होने का वर्णन होता है।

अत्युक्ति

झूठी सुन्दरता का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना अत्युक्ति है।

निरुक्ति

जहाँ किसी नाम का किसी योगवश प्रसिद्ध अर्थ त्यागकर व्युत्पत्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पित किया जाय, वहां निरुक्ति अलंकार होता है।

प्रतिषेध

जहाँ किसी वस्तु का निषेध प्रसिद्ध होते हुए भी पुनः अभिप्रायांतर से गर्भित निषेध किया जाय, वहाँ प्रतिषेध अलंकार होता है।

विधि

जहाँ किसी बात की सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का प्रथम वर्णन करके पुनः उसकी ही सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का वर्णन किया जाय, वहाँ विधि अलंकार होता है।

हेतु

जहाँ कारण का कार्य-सहित वर्णन हो, वहाँ हेतु अलंकार होता है। इसके तीन भेद माने हैं और हेतु के अन्तर्गत ही प्रथम हेतु का वर्णन किया है।

अलंकारों के लक्षण

मतिराम के उदाहरण जितने सुन्दर बन पड़े हैं, उतने लक्षण नहीं। कवि का मन वहाँ रम गया है, उसके लिये एक से अधिक उदाहरण देने में भी उसने संकोच नहीं किया है। यदि उसने संकोच कहीं किया है तो लक्षण प्रस्तुत करने में। मतिराम ने सभी लक्षणों को दोहों में ही लिखा है, कितनों को तो लक्षण से नहीं वरन् उदाहरण द्वारा ही प्रस्तुत किया है। एक अलंकार अथवा एक भेद के लक्षण प्रस्तुत करने में मतिराम ने एक से अधिक दोहा खर्च नहीं करना चाहा है। यही कारण है कि इनके लक्षण कहीं-कहीं अपूर्ण रह गये हैं। यदि दोहे के चारो चरण में उन्होंने लक्षण लिखा होता, तो उनमें पूर्णता आने की अधिक संभावना थी। किन्तु अवकाश रहते हुए भी उन्होंने दूसरों का अनुकरण करना चाहा है जिससे लक्षण इतने संक्षिप्त हो गये हैं कि कहीं-कहीं स्पष्ट ही नहीं हो पाते। उदाहरण के लिये अनन्वय, भेदकातिशयोक्ति, समासोक्ति, विरोधाभास तथा एकावली को लिया जा सकता है।

अनन्वय

उपमेय ही को जहाँ उपमान बतला दिया जाय, वहाँ 'अनन्वय' अलंकार होता है किन्तु ऐसा न लिख कर मतिराम का यह कहना कि 'एक ही बात को उपमेय तथा उपमान बनाना अनन्वय है, अनन्वय के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाता।

जहाँ एक ही बात को उपमेयो उपमान।
तहाँ अनन्वय कहत हैं कवि 'मतिराम' सुजान ॥५३॥ ललितललाम

मतिराम के अनुसार यदि यह कहा जाय कि 'यह आंख उस आंख के समान सुन्दर है' तो अनन्वय अलंकार होगा, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनन्वय अलंकार तो तब होगा जब यह कहा जाय कि 'उन अखियों के समान सुन्दर तो वे ही अखियाँ हैं।' इस अलंकार में आग्रह उसी वस्तु का रहता है, उसी बात का नहीं। उदाहरण देते समय स्वयं मतिराम ने अपने दिए हुए लक्षण का अनुकरण नहीं किया है और 'छवि भावसिंह कैसी भावसिंह भूमिपाल में' ही मानी है।

भेदकातिशयोक्ति

जहाँ अभिन्न उपमेय को भिन्न कहा जाय, वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है। 'औरै' वा इसके पर्याय 'नवीन', 'न्यारा' आदि प्रायः इसके वाचक शब्द हुआ करते हैं। मतिराम ने 'औरै यों' को वाचक शब्द तो माना है, किन्तु लक्षण से भाव स्पष्ट नहीं होता।

"औरै यों करि कै जहाँ बरनत सोई बात।
भेदकातिशयोक्ति उक्ति तहँ कहत बुद्धि अवदात ॥११६॥" ललितललाम

मतिराम ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि नायिका वही है, किन्तु आज उसकी 'चितवन चलन और मृदु मुसकान' में कुछ ऐसे सुखद विशिष्ट गुण आ गये हैं जिनका वर्णन करना कठिन है, किन्तु लक्षण के दोहे से उदाहरण का भाव स्पष्ट नहीं हो पाता।

समासोक्ति

जहाँ प्रस्तुतार्थ के वर्णन में आए हुए समानार्थ-सूचक श्लिष्ट वा अश्लिष्ट (साधारण) विशेषण—शब्दों की सत्ता से किसी अप्रस्तुतार्थ अर्थात् जिसका वर्णन करना हो, का बोध होता है, वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है। मतिराम का लक्षण इतना सामान्य है जिससे यह स्पष्ट ही नहीं हो पाता कि 'प्रस्तुत' अथवा 'अप्रस्तुत' से उनका क्या तात्पर्य है।

"जहँ प्रस्तुत में होत है अप्रस्तुत को ज्ञान।
समासोक्ति तहँ कहत हैं कवि जन परम सयान ॥१६२॥" —ललितललाम

'जहँ प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान'—यह 'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्' 'चन्द्रालोक' का शिथिल अनुवाद है, परन्तु 'परिस्फूर्तिः' में जो व्यंजना है वह 'ज्ञान' में न आ सकी।[1]

१. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० ९२।

विरोधाभास

इस अलंकार का लक्षण ललितललाम में इस प्रकार दिया गया है जिससे असंगति, विभावना, तथा विशेषोक्ति आदि अलंकारों का भी बोध हो जाता है।

"जहँ विरोध सों लगत है, होत न साँच विरोध।
कहत विरोधाभास तहँ बुध जन बुद्धि विशोध ॥" —ललितललाम

स्वाभाविक संबंध के विपरीत वर्णन को असंगति, कार्य और कारण के संबंध के अस्वाभाविक वर्णन को विभावना तथा पूर्ण कारण के वर्तमान रहने पर भी कार्य के अभाव के वर्णन को विशेषोक्ति अलंकार कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि मतिराम के उपरोक्त लक्षण से केवल विरोधाभास अलंकार का ही बोध नहीं होता। लक्षणों का शास्त्रीय होना आवश्यक है।

एकावली

जहाँ पूर्व कथित बातों को उत्तर कथित बातों से शृंखलाबद्ध सूत्र में लाना हो, वहाँ एकावली अलंकार माना जाता है। इसका लक्षण मतिराम ने लिखा है—

एक अर्थ लै छोड़िये और अर्थ लै ताहि।
अर्थ पाँति इमि कहत है, एकावली सराहि ॥२५८॥ —ललितललाम

इस दोहे से भी कुछ स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार इनके काव्यार्थापत्ति, विकस्वर, प्रौढ़ोक्ति तथा मिथ्याध्यवसित आदि अलंकारों में भी अस्पष्टता देखी जा सकती है।

लक्षण प्रस्तुत करने में मतिराम ने संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव विशेष रूप से ग्रहण किया है। 'चन्द्रालोक, कुवलयानन्द के अतिरिक्त काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। उपमा तथा उत्प्रेक्षा के प्रसंग विशेषतः इन्हीं से प्रभावित हैं। कारणमाला, सार तथा परिवृत्ति के ये स्थल देखिये—'[1]

(क) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता। —काव्यप्रकाश
परं परं प्रति यदा पूर्व पूर्वास्य हेतुता। —साहित्यदर्पण
पूरब-पूरब हेतु जहँ उत्तर-उत्तर काज। —ललितललाम

(ख) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। —काव्यप्रकाश
उत्तरोत्तर मुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। —साहित्यदर्पण
उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। —ललितललाम

(ग) परिवृत्ति विनिमयो यो अर्थानां स्यात्समासमैः। —काव्यप्रकाश
परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्। —साहित्यदर्पण
घाटि बाढ़ि दै बात को, जहाँ पलटिबो होय। —ललितललाम

1. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० ९१।

अलंकारों के उदाहरण

ललितललाम के उदाहरणों में काव्यगत विशेषता जितनी अधिक है, उतनी उदाहरणगत नहीं। इसका मुख्य कारण यही है कि मतिराम के लक्षण अस्पष्ट हैं। जब तक अलंकारों के लक्षणों में स्पष्टता नहीं होगी, तब तक कदापि उपयुक्त उदाहरण उपस्थित नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि कहीं-कहीं लक्षणों के साथ उदाहरणों का मेल नहीं खाता। प्रमाण स्वरूप हम इनके रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण को ले सकते हैं। रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण मतिराम ने दो दोहों में दिया है, फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता—

इन्द्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम।
आगि लपट, वर्षा करै, ताप धरै घनश्याम॥ —ललितललाम

'आगि लपट', 'वर्षा' तथा 'ताप' किसी के उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं। विरहानल, अश्रुप्रवाह तथा विरह ताप के स्थान पर इनका प्रयोग मानने से उपमेय-उपमान भाव नहीं बनता। दूसरे उदाहरण में—[1]

'आल बाल घन समय को, ग्रीषम ऋतु की वेलि।' ललितललाम नायिका के लिये 'वेलि' शब्द का प्रयोग तो परम्परासिद्ध है, किन्तु सात्विक भावों के लिये 'आल बाल' का प्रयोग सुन्दर तो है, पर अप्रसिद्ध है। ललितललाम के उदाहरणों में यह प्रायः देखा जाता है कि वे जिन अलंकारों के लिये प्रस्तुत किए गये हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे अलंकारों के चमत्कार उनमें अधिक झलक मारते हैं। उदाहरण के लिये अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा को ले सकते हैं—

'तेरे अंग-अंग में मिठाई औ लुनाई भरी
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि में नाइए सुधा सो, सब
सौतनि के लोचननि लौन—सो लगाइए॥' —ललितललाम

'सुधा-सो' और 'लोन-सो' में अनुक्तविषया अलंकार हो सकता है, किन्तु 'मिठाई और लुनाई' का रूपीकरण किया गया है जिसमें उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'मिठाई' से सुधा और 'लुनाई' से लोन में क्रम अलंकार है तथा नायिका का अपने अंगों से एक की आंखों में अमृत बरसाना और दूसरी की आंखों में नमक छिड़कना आदि प्रसंग से 'उल्लेख' अलंकार का चमत्कार आ जाता है। ऐसी स्थिति में उत्प्रेक्षा, क्रम तथा उल्लेख अलंकारों के चमत्कार में अनुक्तविषया अलंकार गौण हो जाता है।

ललितललाम में असम्बन्धातिशयोक्ति का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

कैसे वह बाल, लाल, बाहर बिजन आवे।
बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है॥ —ललितललाम

---

१. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ० ९५।

उदाहरण लक्षणानुकूल नहीं है। लक्षण में पहले 'योग में अयोग' का है तब अयोग में योग का, परन्तु उदाहरण पहले 'अयोग में योग' का है तब 'योग में अयोग' का। इसके अतिरिक्त अत्युक्ति का चमत्कार इतना अधिक है कि मुख्य प्रतिपाद्य विषय छिप जाता है। 'समासोक्ति' का उदाहरण भी सदोष है—

'कहा कहौं लाल, तल बेली तलफत परयो,
बाल अलबेली को वियोगी मन लाज को।' —ललितललाम

उपरोक्त उदाहरण में मन का मानवीकरण किया गया है जिससे किसी अप्रस्तुत वियोगी का संकेत नहीं मिलता।

प्रथम विभावना में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु उदाहरण से स्पष्ट नहीं होता—

'लाज भरी अँखियाँ बिहँसी बलि,
बोल कहें बिन उत्तर दीनो॥' —ललितललाम

परिवृत्ति अलंकार का लक्षण तो न्यूनाधिक का विनिमय है, परन्तु चमत्कार वहाँ रहता है, जहाँ सम्बन्धित व्यक्तियों का स्वयं प्रयास हो। इसीलिये विश्वनाथ[1] का उदाहरण जयदेव[2] के उदाहरण से अधिक आकर्षक है। मतिराम के उदाहरण में प्रयत्न तीसरे ही व्यक्ति का है, विनिमय करने वाले तो चुपचाप देखते रहते हैं[3]—

गायन को बकसी कसाइन की आयु सब,
गायनि की आयु सो कसाइनि कों बकसी। —ललितललाम

जितना ही ललितललाम में कवि ने लक्षण प्रस्तुत करने में संकोच दिखाया है, वह उदाहरणों में उतना ही रमा है। भले ही दोनों की संगति न बैठा पाया हो। बड़े-बड़े छन्दों में एक ही अलंकार के एक से अधिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। दोहों का प्रयोग उदाहरण देने में बहुत कम किया गया है। प्रायः कवित्त और सवैयों का ही प्रयोग अधिक है। 'जो उदाहरण कवित्त या सवैयों में दिए गए हैं उनके पहले तीन चरणों में से अलंकार का प्रायः संबंध नहीं होता, केवल चौथा चरण ही पर्याप्त समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, अनावश्यक चरण पाठक को भ्रम में भी डाल सकते हैं, यह वर्णनप्रियता आचार्यत्व में सर्वत्र बाधक है।[4]'

अन्य प्रमुख आचार्य और मतिराम

आचार्य केशव और मतिराम

आचार्य केशव मूलतः आचार्य थे। वे महाकवि मतिराम की भाँति कवि प्रथम, आचार्य बाद में नहीं, बल्कि आचार्य पहले और कवि बाद में थे। आचार्य भावना से प्रेरित

---

१. दत्वा कटाक्षमेणाक्षी, जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्वा, गृहीतो मदनज्वरः॥

२. जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम्।

३. हिन्दी अलंकार साहित्य, ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ० १७।

४. वही, पृ० १६।

होकर उन्होंने केवल काव्यशास्त्र के किसी अंग विशेष पर ही नहीं लिखा, बल्कि काव्यशास्त्र के विविध अंगों को समेटना चाहा है। काव्य में चमत्कार को महत्वपूर्ण स्थान देने तथा आलंकारिक सिद्धान्त पर श्रद्धा रखने वाले हिन्दी आचार्यों में आचार्य केशव का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। अलंकारों के अभाव में काव्यसुषमा की कल्पना केशव के लिये कठिन है—

"यद्यपि सु जाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण विनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥" —कविप्रिया

किन्तु आचार्यकर्म का निर्वाह करने के लिये उन्होंने भाषा का कार्य और कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उसका उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्य-दोष, अलंकार रस तथा विभिन्न प्रवृत्तियों आदि पर सम्यक् रूप से विचार किया है। मतिराम का आचार्य इतना जागरूक नहीं है। उन्होंने केवल तत्कालीन रीति-परम्परा का निर्वाह करने के लिये ही अपनी अनुपम कविताओं को लक्षणों के अनुसार उपस्थित किया है, किन्तु आचार्य केशव जानबूझकर हिन्दीकवियों के लिये शास्त्र ग्रन्थ रच रहे थे।

केशव ने अलंकारों को १ साधारण २ विशिष्ट, दो भागों में विभाजित किया है, किन्तु उन्होंने न तो इनकी परिभाषा ही दी है और न उनकी व्याख्या करके उन्हें स्पष्ट ही किया है। मतिराम के ललितललाम में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं पाया जाता है। केशव का अलंकार विषयक ग्रन्थ कविप्रिया है, जिसमें उन्होंने विशिष्टालंकारों की नामावली गिनाई है—

'जाति, स्वभाव, विभावना, हेतु, विरोध विशेष।
उत्प्रेक्षा, आक्षेप, क्रम, गणना, आशिष लेष॥
प्रेमा, श्लेष, सभेद है, नियम, विरोधी मान।
सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वा पुनि जान॥
रस अर्थान्तरन्यास है, भेद सहित व्यतिरेक।
फेरि अपन्हुति उक्ति है, वक्रोक्ति सविवेक॥
अन्योक्ति, व्यधिकरण है, सुविशेषो कवि भावि।
फिरि सहोक्ति को कहत है, क्रम ही सो अभिलाष॥
व्याजस्तुति निन्दा कहै, पुनि निन्दा स्तुति वन्त।
अमित सु पर्यायोक्ति पुनि, युक्त सुनो सब सन्त॥
स समाहित जु सिद्ध पुनि और प्रसिद्ध विपरीत।
रूपक दीपक भेद पुनि, कहि प्रहेलिका मीत॥
अलंकार परवृत कहो उपमा जमक सुचित्र।
भाषा इतने भूषणनि भूषित कीजे मित्र॥ —कविप्रिया

मतिराम ने ग्रन्थारम्भ में अलंकारों की किसी प्रकार की सूची केशव की भाँति नहीं दी है। आचार्य केशव ने मुख्य सैंतीस अलंकारों के नाम गिनाये हैं, किन्तु इनके अवान्तर भेदों

को मिलाकर इनकी संख्या बढ़ गई है। प्रमुख अलंकारों में 'जमक' ऐसे शब्दालंकारों का भी नाम केशव ने लिया है, किन्तु मतिराम ने एक भी शब्दालंकार का वर्णन नहीं किया है। केशव अलंकारों में कुछ तो नये नाम पूर्ववर्ती आचार्यों में जो नहीं मिलते आये हैं और कुछ के नामकरण नये हैं। केशव के स्वभावोक्ति, गणना, आशिष, प्रेम, उर्ज, रसवत्, अमिता, समाहित, सुसिद्ध, विपरीत, प्रसिद्ध, और प्रहेलिका आदि अलंकारों का वर्णन ललितललाम में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त कुछ अलंकारों के भेदों में भी केशव और मतिराम में अन्तर पाया जाता है।

केशव ने जिन नवीन अलंकारों की उद्भावनाएँ की हैं, अथवा नाम बदले हैं, उनका पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर विवेचन भी किया है। उनकी प्रतिभा एवं पाण्डित्य का दर्शन हमें उनके विशिष्टालंकार प्रसंग में मिलता है। जिससे उनके बहुमुखी ज्ञान, अथाह पाण्डित्य, निस्संग विवेचन तथा उपयुक्त उदाहरण देने की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है। उनके समय में अलंकार शास्त्र का प्रवाह संस्कृत भाषा में ही चल रहा था। केशव संस्कृत में भी लिख सकते थे, परन्तु 'प्रवीणराय' के प्रति स्नेह या बाला-बालकों के प्रति कर्तव्य की भावना उनको भाषा में खींच लाई और भाषा कवि के लिये इस आचार्य ने एक नया क्षेत्र खोल दिया—बिलकुल अछूता, अन्यतम तथा गम्भीर। पाण्डित्य की दृष्टि से वे भाषा कवियों के शिरोरत्न हैं और प्रतिभा की दृष्टि से उनको संस्कृत के सामान्य आचार्यों के साथ आसन मिल सकता है। चमत्कारवादी होने के कारण केशव को 'श्लेष' और स्वाभाविकता को महत्त्व देने के कारण मतिराम को अपेक्षाकृत 'उपमा' अधिक पसन्द है। केशव द्वारा चलाई काव्यशास्त्र की परम्परा अधिक पूर्ण होने के नाते भले ही आगे न बढ़ पाई हो, किन्तु निश्चित ही आचार्य की दृष्टि से उनका स्थान सर्वोपरि है।

जसवन्त सिंह और मतिराम

'भाषा भूषण' जसवन्तसिंह का एकमात्र अलंकार ग्रन्थ है, जिसके आरम्भिक तीन प्रकाशों में 'रस' सम्बन्धी वर्णन है। ग्रन्थ के चौथे प्रकाश से अर्थालंकार का वर्णन किया गया है। अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ सबसे अधिक पाठकों द्वारा पढ़ा जाता है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह कि एक ही दोहे में अलंकार का लक्षण और उदाहरण दोनों दे दिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना दोहों ही में हुई है जिससे कण्ठ करने में बड़ी सुविधा होती है। दोहे की प्रथम पंक्ति में लक्षण और द्वितीय पंक्ति में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

> 'उपमेयहि उपमान जब, कहत अनन्वय ताहि।
> तेरे मुख की जोर को, तेरो ही मुख आहि॥' ४६॥ भाषाभूषण

अलंकारों की संख्या और क्रम बहुत कुछ ललितललाम का सा है। भाषाभूषण से लगता है कि मतिराम को प्रेरणा मिली है। भाषाभूषण और ललितललाम दोनों ही का आरम्भ उपमा चक्र से होता है और समाप्ति 'हेतु' अलंकार से। भाषाभूषणकार ने पंचम प्रकाश में शब्दालंकारों का भी वर्णन किया है, किन्तु मतिराम ने नहीं। भाषाभूषण की रचना 'चन्द्रालोक' की शैली पर 'कुवलयानन्द' का अनुकरण करते हुए की गई है। यह

अपनी शैली का हिन्दी में सर्वोत्तम अलंकार ग्रन्थ है जिसके अनुकरण पर आगे और भी अलंकार ग्रन्थ लिखे गये। इस ग्रन्थ में संक्षेप में अलंकार के सभी तत्व आ गये हैं। सब मिलाकर एक सौ आठ अलंकारों का वर्णन इसमें हुआ है। पाठकसमाज में एक यही ऐसा अलंकार ग्रन्थ है, जो मतिराम के ललितललाम से भी अधिक प्रसिद्ध हो सका है।

चिंतामणि और मतिराम

चिंतामणि मूलतः रससिद्ध आचार्य हैं, अलंकारवादी नहीं, किन्तु 'कवि कुल कल्पतरु' में उन्होंने अलंकारों का भी साधारण वर्णन किया है। इन्होंने अलंकारों के स्पष्ट दो भेद स्वीकार कर उसे 'शब्दा' और 'अर्था' अलंकारों में विभक्त किया है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत उन्होंने 'वक्रोक्ति' अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्ति वेदाभास आदि आठ अलंकारों का वर्णन किया है। मतिराम ने शब्दालंकारों का वर्णन ही नहीं किया है और चिन्तामणि के 'चित्र' का वर्णन उन्होंने अर्थालंकार के अंतर्गत ही किया है। चिन्तामणि के लक्षण और उदाहरण प्रायः उपयुक्त हैं। अर्थालंकारों के वर्णन में कोई नवीनता नहीं है, क्योंकि अलंकार इनका प्रिय क्षेत्र ही नहीं जान पड़ता।

भूषण और मतिराम

महाकवि भूषण का 'शिवराज भूषण' उनका अलंकार ग्रन्थ है, जिसमें उदाहरण स्वरूप उन्होंने अपने आश्रयदाता वीर केशरी शिवाजी की ही प्रशस्ति की है। अन्य अलंकार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ में यह सबसे बड़ी विशेषता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ वीर भाव के छन्दों में लिखा गया है। अलंकारों के सभी लक्षणों को एक ही व्यक्ति शिवाजी पर घटाने के कारण इसके उदाहरणों में दोष भी आ गए हैं।

इस ग्रन्थ में अर्थालंकारों का वर्णन प्रस्तुत करने के पश्चात् शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। चित्र और संकर अलंकारों का भी वर्णन शिवराज भूषण में हुआ है। अन्त में शिवराज भूषण में वर्णित अलंकारों की सूची कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। कुल मिलाकर भूषण ने १०५ अलंकारों का वर्णन किया है जिनमें ९९ को अर्थालंकार, ४ शब्दालंकार तथा २ को चित्र और संकर अलंकारों के अन्तर्गत रखा है। ललितललाम में शिवराज भूषण की भाँति न तो अन्त में अलंकारों की सूची दी गई है और न शब्दालंकारों का ही वर्णन किया गया है। मतिराम ने संकर अलंकार का वर्णन ही नहीं किया है और चित्रालंकार का वर्णन प्रथम चित्र के नाम से अर्थालंकार के अन्तर्गत ही किया है, भूषण की भाँति अलग नहीं।

स्वभावोक्ति अलंकार को लेकर विद्वानों में काफी चर्चा रही है, कुछ लोगों ने इसे अलंकार माना ही नहीं है और कुछ लोगों ने इसे 'जाति' का नाम दिया है। मतिराम ने तो इस प्रसंग को उठाया ही नहीं है, किन्तु भूषण ने इनके दोनों नाम दिए हैं, किन्तु किसी सिद्धान्त की ओर उनका विशेष झुकाव नहीं दिखाई पड़ता।

'शिवराज भूषण' के लक्षणों पर ललितललाम का अधिक प्रभाव है। बहुत से लक्षणों को तो भूषण ने तद्वत् ले लिया है। उपमेय-उपमान, मालोपमा, भ्रान्तापन्हुति, छेकापन्हुति, निदर्शना, सम्भावना, उल्लास तथा तद्गुण आदि अलंकारों के लक्षणों को तो

भूषण ने एकाध शब्द बदल कर पूर्णरूपेण ललितललाम से ले लिया है। 'भूषण कवि थे, आचार्य नहीं और कवि होकर वे कलियुगी राजाओं के विलासी गुणों से संतुष्ट न रह सकते थे। इसीलिये वाणी को उस स्त्रैण वातावरण से निकालने में ही उनका गौरव है, उसको सजाकर लम्पट वातावरण में नचाना उनको न सुहाया, उनकी सरस्वती आभूषणों के प्रति जागरूक नहीं है और यद्यपि वह सामयिक उपहारों की अवहेलना नहीं कर पाई, फिर भी उनसे अपने शरीर को सजाने की कला उसमें न मिलेगी। भूषण के लक्षण निर्दोष नहीं हैं और उनके कुछ ही उदाहरण उपयुक्त हैं। वास्तव में भूषण अलंकारों के भारी आचार्य न होकर काव्योत्कर्ष में महान् हैं, आचार्यत्व में मतिराम की विशेषता है[1]।'

कुलपति मिश्र और मतिराम

मतिराम की भाँति कुलपति मिश्र श्रेष्ठ कवि नहीं थे, बल्कि वे श्रेष्ठ आचार्य थे। अलंकार वर्णन से अधिक महत्वपूर्ण उनका कार्य अलंकारों के सिद्धान्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में है। उन्होंने अपनी अलंकार विषयक तीन मान्यताएं स्थापित की हैं। उन्होंने माना है कि १ अलंकार रसोत्कर्ष का विधायक होना चाहिये, कथन की प्रणाली को ही अलंकार मानना चाहिये और उपमा अलंकार को शिरोमणि है। मुख्यतः कुलपति रस के आचार्य हैं, अलंकार के नहीं। शब्दालंकारों में उन्होंने रस की स्थिति उतनी नहीं स्वीकार की है जितनी कि अर्थालंकारों में। इसीलिये शब्दालंकारों का उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में ही वर्णन किया है—

'जमक, चित्र, अरु श्लेष में, रस को नाहिं हुलास।
यातें याके स्वल्प ही, बरने भेद प्रकास॥ —कुलपति

उपमा को अलंकारों का शिरमौर स्वीकार करते हुए भी उन्होंने शब्दालंकारों का वर्णन अर्थालंकारों से पहले किया है और उसका कारण भी लिखा है—

'प्रथम शब्द यातें कहें प्रथम शब्द के साज'

कि काव्य में शब्द पहले आता है और अर्थ बाद में। इसलिये शब्दालंकारों का पहले वर्णन करना उन्होंने आवश्यक समझा। मतिराम सिद्धान्त विषयक प्रसंग को ललित-ललाम में उठाते ही नहीं। उन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं।

देव और मतिराम

आचार्य कवि केशव का आचार्यत्व बहुत दिनों बाद महाकवि आचार्य देव में प्रकट हुआ। इन्होंने भी केशव की भांति काव्य शास्त्र के विभिन्न अंगों पर लेखनी चलाई है। जिन ग्रन्थों में अलंकार विषयक चर्चा देव ने की है, उनमें भी उन्होंने रस आदि सम्बन्धी चर्चायें की हैं। अलंकार वर्णन का इनका प्रौढ़तम ग्रन्थ 'शब्द रसायन' अथवा 'काव्य रसायन' है जिसके पूर्व की रची इनकी रचना 'भावविलास' पर आचार्य केशव का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि यह रचना इन्होंने उस समय की थी, जब इनका वय थोड़ा था और अध्ययन पूर्ण नहीं हो पाया था।

---

१. 'हिन्दी अलंकार साहित्य' ओमप्रकाश, प्र० सं०, पृ० १०८।

'भावविलास' के आरम्भ में नायिकाओं की चर्चा की गई है। इसमें देव ने अलंकारों की कुल संख्या ३९ मानी है जिसमें शब्दालंकारों को नहीं गिनाया है। केशव ने भी प्रमुख अलंकारों की संख्या ३७ मानी थी, किन्तु वर्णन करते समय भेदोपभेदों के माध्यम से उन्होंने अलंकारों की संख्या काफी बढ़ा दी है। देव ने अपने ३९ अलंकारों में किसी प्रकार का विस्तार नहीं किया है, बल्कि ठीक-ठीक ३९ अलंकारों का वर्णन कर दिया है। देव के समय तक एक सौ अधिक अलंकारों का प्रयोग होने लगा था और इनके पूर्ववर्ती आचार्य मतिराम ने स्वयं एक सौ से अधिक अलंकारों का वर्णन किया है। भावविलास का संक्षेपीकरण अल्पवयी अल्पज्ञता ही हो सकती है, जिसका विकास उन्होंने अपनी प्रौढ़ कृति 'शब्दरसायन' में की है।

भावविलास और शब्दरसायन में इतना ही अन्तर है कि प्रथम में उनका कवि रूप और द्वितीय में उनका आचार्य रूप प्रधान है। भावविलास में देव ने 'छल' नामक एक संचारी और बढ़ाकर संचारियों की कुल संख्या ३३ से ३४ कर दी है, किन्तु 'शब्दरसायन' में आकर फिर उन्होंने 'छल' को संचारियों में स्थान नहीं दिया है, बल्कि उसे 'अवहित्थ' के अंतर्गत ही स्वीकार किया है। 'भावविलास' में अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया गया है, किन्तु 'शब्दरसायन' में विशेष वर्गीकरण के साथ शब्दालंकारों के प्रमुख और अर्थालंकारों के ४० मुख्य तथा ३० गौण भेद कहे गये हैं। भावविलास में जिन ३९ अलंकारों को स्वीकार किया गया था, उनमें से ३२ अलंकारों को लेकर उनमें ८ नये जोड़कर 'शब्दरसायन' में मुख्य अलंकारों की संख्या ४० कर दी गई है और शेष ७ अलंकारों में से उपमेयोपमा तथा अनन्वय उपमा के भेद बना दिए गए हैं और भाविक, संकीर्ण तथा आशिष गौण कहलाये हैं, एवं समाहित तथा अर्थान्तरन्यास को छोड़ ही दिया गया है। केवल सत्तर अलंकारों का ही 'शब्द रसायन' में वर्णन हो ऐसी बात नहीं है, देव ने मुख्य और गौण के मिश्रण से अनन्त भेद अलंकारों के हो सकते हैं, ऐसा स्वीकार किया है।

शब्दालंकार आचार्य देव को अत्यंत प्रिय रहा है, क्योंकि वे ही उनके कवित्तों के प्राण हैं। मतिराम ने काव्य में रस की प्रधानता स्वीकार की है जिससे उन्होंने शब्दालंकार की उपेक्षा ही कर दी है। मतिराम के ललितललाम की पद्धति ही देव ने लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करने में अपनाई है। उनके 'काव्य-रसायन' में प्रत्येक अलंकार का लक्षण एक दोहा में ही प्रस्तुत किया गया है और उदाहरण कवित्त आदि छन्दों में दिए गए हैं।

दूलह और मतिराम

दूलह कवि का 'कवि-कुल-कंठाभरण' अत्यंत प्रसिद्ध है जो मतिराम के ललितललाम की अपेक्षा केशव की 'कविप्रिया' से अधिक प्रभावित है, किन्तु ललितललाम की ही भाँति शब्दालंकारों का इसमें भी नाम नहीं लिया गया है। दूलह के अलंकारों की संख्या एवं क्रम बिल्कुल 'कुवलयानन्द' के ही समान है, किन्तु भाषाभूषणकार के समान संख्या में उन्होंने असावधानी नहीं रखी है। 'आचार्य जयदेव नवीन अलंकारों की स्वीकृति के पक्ष में थे, इसलिये अत्युक्ति (५।११६) के निरूपण के अनन्तर उन्होंने रसवत् आदि अलंकारों की

चर्चा की है, उनकी प्रेरणा से अप्पय दीक्षित ने १५ अलंकारों का भी विवेचन कर दिया। दूलह कवि ने भी वैसा ही किया और इस कदम में कुवलयानन्द को प्रमाण माना।'[1] इन्होंने कुल ११५ अलंकारों का विवेचन किया है। भाषाभूषण का भी पर्याप्त प्रभाव इन पर है और उदाहरण ललितललाम की भाँति छन्दों में अधिक प्रस्तुत किये गये हैं।

आचार्य भिखारीदास और मतिराम

लक्षण ग्रन्थों के क्षेत्र में आचार्य भिखारीदास और मतिराम की तुलना समीचीन नहीं जान पड़ती, क्योंकि भिखारीदास का आचार्यत्व अपनी पिछली पूर्वपरम्परा के अनुभव पर खड़ा हुआ था, जबकि मतिराम के आचार्य होने में ही संदेह लगा हुआ है। आचार्य भिखारीदास का 'काव्य निर्णय' हिन्दी के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों में गिना जाता है और उसे काव्यशास्त्र पर लिखा उत्कृष्ट ग्रन्थ भी स्वीकार किया गया है। इसमें केवल अलंकार वर्णन ही नहीं है, बल्कि काव्यशास्त्र के सभी अंगों की विवेचना करते हुए इसमें एक आचार्य की भाँति ही अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। भिखारीदास जी का ढंग बड़ा ही स्पष्ट, वर्णन क्रम सुलझा हुआ, वैज्ञानिक तथा विषय विवेचन पूर्ण है।

'काव्य निर्णय' पर एक ही नहीं, बल्कि अनेक संस्कृत के काव्य ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। 'चन्द्रालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' का ऋण तो कवि ने भूमिका में स्वीकार भी किया है। चन्द्रालोक अलंकार को काव्य का नित्य अंग भी मानता है। इसमें अलंकार विषयक प्रारम्भिक मयूखों में है, यहाँ भेदोपभेदों का विस्तार नहीं है तथा एक ही छोटे छन्द में लक्षण और उदाहरण समझाए गए हैं। काव्य निर्णय के तृतीय उल्लास में भी ये समस्त प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रतीप अलंकार के ही भेदों का कथन है, प्रतीप संसृष्टि तथा संकर के ही उदाहरण बड़े छन्दों में हैं। अतः हमारा अनुमान है कि काव्य निर्णय का तीसरा उल्लास चन्द्रालोक के अनुकरण पर है, भले ही इसमें अनुप्रासादि को स्थान न मिला हो और इसके अलंकारों के भेदोपभेद व्याख्या, संख्या चन्द्रालोक के आधार पर न हो।[2]

कहीं-कहीं दूसरों से प्रभावित लक्षण और उदाहरण असफल अनुवाद होकर रह गये हैं, किन्तु अनेक दृष्टियों से यह उत्तम ग्रन्थ लेखक को आचार्यपद दिलाने के लिये पर्याप्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नायिका-भेद वर्णन में मतिराम ने परवर्ती आचार्यों को जितना प्रभावित किया है, अलंकार वर्णन में उतना नहीं कर सके हैं।

---

१. 'हिन्दी अलंकार साहित्य', ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० १५९।
२. 'हिन्दी अलंकार साहित्य', ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० १५९।

सतसई परम्परा और मतिराम

महाकवि मतिराम द्वारा लिखी दोहों में एक अत्यन्त सरस एवं प्रौढ़ संग्रह पुस्तक 'मतिराम सतसई' के नाम से उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के बाद में प्रकाश में आने तथा इसी ढंग की प्रौढ़तम रचना 'बिहारी सतसई' से हिन्दी पाठकों के इससे पूर्व ही परिचित हो जाने के कारण, मतिराम सतसई की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन हिन्दी संसार के सम्मुख उतना नहीं हो पाया है, जितना अपेक्षित है। यह अनुपम साहित्य-निधि हिन्दी साहित्य के जिस प्रौढ़काल की रचना है, वह मुक्तक काव्यों का काल है। 'सूर' और 'तुलसी' ने अनुपम काव्य-कृतियों के द्वारा हिन्दी काव्य के जिस भव्य भवन का निर्माण किया था, यहाँ पहुँचकर उसे सजाने का समय आ गया था। इसमें सन्देह नहीं कि मतिराम, बिहारी, देव, तथा पद्माकर आदि महाकवियों ने अपने 'मुक्तक' रत्नों से उसे भलीभाँति सजाया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के इस मध्यकाल में अथवा 'रीतिकाल में मुक्तक काव्य की बाढ़ सी आ गयी। इस काल में प्रबन्धकाव्य और गीति काव्य भी लिखे गये, परन्तु बहुत कम और वे भी कविता की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं थे।'[1] इन मुक्तकों की अपनी साहित्यिक विशेषता है जिसके कारण आलंकारिक कवियों को इसने अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित कर लिया। इस काल में कलात्मकता एवं चमत्कार लाने के लिये जिन मुक्तकों का प्रयोग किया गया, काव्य का वह शैलीगत स्वरूप मध्यकालीन हिन्दी काव्य परंपरा के लिए एक आकस्मिक घटना नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके पीछे एक विशाल साहित्यिक परम्परा है जो संस्कृत साहित्य से ही चली आ रही थी और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल पड़ने तथा अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इस खेवे के कवियों द्वारा अपना ली गयी।

मुक्तककाव्य

मुक्तक, काव्य की वह समर्थपूर्ण शैली है जिसे अभिप्रेत भावों को व्यक्त करने के लिये किसी भी प्रकार की सहायता अपेक्षित नहीं। अपनी लघु सीमा में पूर्ण खण्ड चित्रों की जैसी अनुपम अभिव्यक्ति मुक्तकों के माध्यम से सम्भव हो सकी है, वह प्रबन्ध काव्यों के लिए स्पृहा की वस्तु है। 'काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है, न वह गेय ही है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष विशेष का चित्र मात्र होता है। पूरे जीवन का चित्र नहीं होता। राज सभाओं और कवि सम्मेलनों के लिए यह बहुत उपयुक्त होता है।'[2]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्ण लाल, तृ० सं०, पृ० ९२।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्ण लाल, तृ० सं०, पृ० ९२।

ऐसे स्थानों पर कवि को अपने काव्य का चमत्कार दिखलाने के लिए समय की सीमा होती है जिसके भीतर ही उसे अपने काव्य प्रभावों की सृष्टि करनी होती है। 'राजा महाराजाओं की सभाओं तथा सहृदय कवि मंडलियों में, जहाँ अनेक कवि अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाने को लालायित रहते हैं, वहाँ अपनी कवित्व शक्ति का चमत्कार दिखाने के उद्देश्य से यदि कोई कवि प्रबन्ध काव्य लिखकर ले जाय तो वह कहाँ तक अपने महत्व की सद्यः स्वीकृति की आशा कर सकता है? इसके लिए मुक्तक का ही आश्रय लिया जा सकता है।'[1] प्रबन्ध काव्य की तत्कालीन असुविधाओं को तदनुकूल काव्यांग मुक्तक के माध्यम से दूर किया गया। प्रबन्ध काव्य के प्रत्येक पद्य एक दूसरे के आश्रित रहते हैं और संयुक्त रूप में ही कवि भाव का वहन करते हैं। कवि जब अपनी रचना द्वारा एक क्रमबद्ध सुसंगठित ललित कथा प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे प्रबन्ध काव्य का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे भावों की अभिव्यक्ति मुक्तकों के माध्यम से संभव नहीं हो सकती। प्रबन्धकाव्य के प्रत्येक पद्य की अलग सत्ता नहीं रहती, वह अपनी भावपूर्णता के लिये आगे पीछे आनेवाले छन्दों की उपेक्षा रखता है और उसे अपने अस्तित्व के लिये दूसरे पद्यों का सहारा लेना पड़ता है। साहित्य शास्त्र के अनुसार रस निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि विपुल सामग्रियों की योजना स्थायी भाव के साथ करना, जितना प्रबन्धों के माध्यम से संभव है, उतना मुक्तकों के माध्यम से नहीं। प्रबन्ध की विस्तृत भूमि ही ललित कथा का प्रसार भार वहन कर सकती है, जिसके लिये मुक्तक सर्वथा असमर्थ हैं। प्रबन्ध की विशालता को अपनी लघु सीमा में समेट न रखने की शक्ति रखते हुए भी 'मुक्तक' अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओं के कारण अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके हैं।

प्रबन्ध काव्य की सारी सुविधाओं के अभाव में भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में मुक्तक का कार्य प्रबन्ध काव्य से कहीं अधिक कठिन हो जाता है। प्रसंग के पूर्वापर सम्बन्धों से वंचित रहने के कारण तथा परिस्थितिसाहचर्य के अभाव में, पूर्वापर प्रसंगों की कल्पना का कार्य 'मुक्तकों' को सहृदय पाठक या श्रोता पर ही छोड़ देना पड़ता है, जिससे उसके लिये कला की अपेक्षा प्रबन्धों से अत्यधिक बढ़ जाती है, क्योंकि उसे अन्य पद्यों के सहारे का भरोसा नहीं रहता। जहाँ कहीं भी मुक्तक अपनी पूर्णता के अभाव में पूर्वापर प्रसंगों पर आश्रित होना चाहता है, वहीं उसकी दुर्बलता है। अभिनव गुप्ताचार्य के अनुसार—

"पूर्वापरनिरपेक्षापिहितेन रसचर्वणाक्रियते तदेव मुक्तकम्।"

अर्थात् पूर्वापर प्रसंग के निर्देश के लिये और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाय उसे मुक्तक कहते हैं।[2] स्वर्गीय पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने प्रबन्ध और मुक्तक का परस्पर भेद स्थापित करते हुये कहा है कि 'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।'[3] निःसंदेह मुक्तक वह चुना हुआ गुलदस्ता है जिससे काव्य गोष्ठियों तथा राज सभाओं की शोभा बढ़ी है। यह अपने में पूर्ण

---

१. सतसई सप्तक, सं० श्यामसुन्दरदास प्र० सं०, पृ० ४।

२. सतसई सप्तक —सं० श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० १।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, —पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२९।

होता है· जिसे दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि 'मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने के लिये स्वतः समर्थ हो। जिस छन्द का लगाव पूर्वापर किसी दूसरे छन्द से नहीं होता, वह अनुबंधहीन स्वच्छन्द पर स्वतः अर्थद्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है।'[1] मुक्तकों के माध्यम से दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं जिसे सरस या रसयुक्त तथा नीरस या रसविहीन कह सकते हैं। किन्तु मुक्तक की प्रत्येक रचना को चमत्कार-विधायक होनी ही चाहिये, जो उसका अनिवार्य धर्म है। मुक्तक के क्षेत्र में यों तो कवित्त, घनाक्षरी और सवैये आदि सभी आते हैं, किन्तु मध्यकालीन हिन्दी कवियों के लिये 'दोहा' उनका अत्यन्त प्रिय छन्द रहा है, जिसमें उन लोगों ने अपने भावों के मोती पिरोये हैं।

सतसई का प्रिय छन्द दोहा

मुक्तक काव्य की रचना के लिए जिस 'दोहे' का व्यापक प्रयोग सतसइयों की परम्परा में हमें दिखलाई पड़ता है, वह इन कवियों का आविष्कृत अपना कोई नवीन छन्द नहीं, बल्कि इसकी एक दीर्घ परम्परा हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही वर्तमान थी, जहाँ से लेकर इन कवियों ने इसे अपने भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इन लोगों ने केवल काव्य रूप 'दोहों, को ही नहीं ग्रहण किया, बल्कि उसके विषय-वस्तु एवं परम्परा को भी थोड़े परिवर्तनों के साथ तद्वत् ग्रहण कर लिया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। दोहों का सुन्दर एवं बहुल प्रयोग हमें सर्वप्रथम अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। यह 'अपभ्रंश का लाड़ला छन्द है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था, पर सातवीं, आठवीं शताब्दी में इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोक चित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जो इन्दु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया, सरह, कन्ह तिल्लोपा आदि बौद्ध-सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का वाहन बना, गोरखनाथ जैसे अलख जगाने वालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का सन्देश वाहक बना। शृंगार के क्षेत्र में इसकी दुन्दुभी बहुत पहले बज चुकी थी। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, सन्देश रासक और ढोलामारू के दोहों में इस छन्द की भाव-वाहन-योग्यता अद्भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी बाबा कब छोड़ने वाले थे। इसे पवित्र भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कराने का श्रेय उन्हीं को है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोहों में रचना करने की एक विशाल परम्परा सतसईकारों के पीछे वर्तमान थी जिसमें धार्मिक उपदेशों, रहस्यवादी उक्तियों, अट-पट बानियों, उलटबासियों, भक्तिभावना तथा शृंगारिक अभिव्यक्तियों की सृष्टि हो चुकी थी। सतसइयों के नाम से संग्रहीत दोहों में हमें केवल शृंगारिक ही नहीं, बल्कि धार्मिक उपदेशों से ओतप्रोत सूक्तियों, अन्योक्तियों तथा नीतिपरक भावों से सम्बन्धित दोहे भी प्रभूत मात्रा में मिल जाते हैं जिसकी चर्चा हम आगे सतसई प्रसंग में करेंगे।

---

१. बिहारी—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० ८५।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० १०३।

सतसई परम्परा

जिस प्रकार दोहों का व्यापक प्रयोग हिन्दी कवियों के लिये नया नहीं था, उसी प्रकार सतसइयों के नाम से ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा भी उनकी अपनी नवीन नहीं थी, बल्कि भारतीय साहित्य में उसकी एक दीर्घ परम्परा वर्तमान थी, जिसका लाभ इन कवियों ने अवश्य उठाया। हमारे भारतीय संस्कार कुछ ऐसे हैं जिसके कारण हम प्रत्येक अच्छी वस्तु को संख्या में जानने के अभ्यासी हैं। हमारे लोकों की संख्या तीन है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रमुख शक्तियाँ तीन हैं तथा पूजनीय वेदों की संख्या चार है आदि ऐसे प्रमाण हैं जिनका अनुकरण हमारे लिये अनिवार्य अंग सा हो गया। हमारे इन संस्कारों का काव्य क्षेत्र में भी प्रकट होना अनिवार्य था और हुआ। 'वस्तुतः सात सौ या तीन सौ, या सौ फुटकर पद्यों के संग्रह के रूप में काव्यरचना की प्रथा इस देश में बहुत पुराने काल से होती आ रही है। गीता में सात सौ श्लोक हैं, जोड़-बटोर कर चंडीपाठ के श्लोकों की संख्या को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है। तुलसी और रहीम के नाम के साथ भी सतसई का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन भारत में कवि लोग प्रायः ही अपनी फुटकल पद्यों की रचनाओं को संख्यापरक नाम दे दिया करते थे। सौ पद्यों के संग्रह को शतक कहते थे। अमरुक का शतक तो प्रसिद्ध ही है, भर्तृहरि के भी तीन शतक प्रसिद्ध हैं, मयूर कवि का सूर्य स्तुतिपरक सूर्य शतक और बाण का चंडी की स्तुति करनेवाला चंडी शतक पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। हिन्दी रीतिकाल के आरम्भ होने के पहले भी और बाद में भी संस्कृत में शृंगारी शतकों की परंपरा चलती रही है। चौदहवीं शताब्दी से पहले तो उत्प्रेक्षावल्लभ ने सुन्दरी शतक लिखा था।'[1] इस प्रकार यदि हम देखें तो संख्यापरक छन्दों के संग्रह प्रस्तुत करने की परम्परा बहुत पीछे जाती है, जिनका अन्तिम स्वरूप हमें हिन्दी की सतसइयों में प्राप्त होता है।

सतसई अथवा शतक के नाम से जितने संग्रह उपलब्ध हैं, उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन संग्रहों के अन्दर ठीक-ठीक छन्दों अथवा दोहों की संख्या सात सौ ही नहीं है, फिर भी सात सौ की संख्या न जाने कवियों को इतनी प्रियकर क्यों हुई। 'मुक्तकों के संग्रहों में सात सौ की संख्या के लिये जितना आग्रह दिखाई देता है, उतना और किसी संख्या के लिये नहीं। अमरुक ने शतक लिखा और रसनिधि ने हजारा लिखकर मुक्तक को हजारी का मनसब दिया सही, परन्तु विशेषतः लोगों ने यही प्रयत्न किया कि उनके संग्रहों में लगभग सात सौ पद्य रहें। सात सौ से कुछ अधिक पद्य रहने पर भी उनके संग्रहों के नाम सप्तशती या सतसई ही रखे गए।'[2] इस प्रकार के संग्रहों के माध्यम से एक विशेष प्रकार की रचनाओं को ही प्रश्रय दिया गया। आरम्भ में हिन्दी साहित्य में आर्यों द्वारा जो ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये, उनमें मुख्यतः दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं, जो उनके विभिन्न दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। 'पूर्वी आर्य अधिक भाव प्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ि युक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, प्र० सं०, पृ० ३२५, ३२६।

२. बाबू श्यामसुन्दरदास, सतसई सप्तक, प्र० सं०, पृ० ४।

आर्य अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ि-रुद्ध, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे। पूर्वी आर्यों में ही उपनिषदों की ज्ञानचर्चा, बौद्ध और जैन आचार्यों का रूढ़ि से विद्रोह, तन्त्र और वामाचार की स्थापना, सहजमत और योगमार्ग का प्रचार और आध्यात्मिकता-स्वरसित भावप्रवण गीति काव्य का विकास हुआ।'[1] इस प्रकार या तो उस समय आध्यात्मिकता प्रवण ग्रन्थों के दर्शन हो पाते थे या तो परम्परा पोषक कर्मकाण्ड प्रवण शास्त्रों का। इन दो प्रकार की प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त पूर्वी आर्यों में जो रूढ़ि विद्रोही एवं सरस गीति साहित्य के विकास को बल मिल रहा था, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर ईसवी सन् के बाद एक तीसरे प्रकार की भावधारा का अभ्युदय हुआ, जिसमें अध्यात्मवादी, मोक्षकामी, कर्मकाण्डवादी तथा स्वर्ग कामी आदि रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया। इनमें ऐहिकता-मूलक सरस कवित्व है। ये उस जाति की रचनायें हैं जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं। इसके पूर्व जिन दो प्रकार की रचनाओं की चर्चा है उनसे इनमें विशेष अन्तर है। 'ये पहली रचनाओं की भाँति धारावाहिक रूप में नहीं लिखी जाती थीं और किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र को अवलम्बन करके भी नहीं गाई जाती थीं, बल्कि फुटकल श्लोकों के रूप में, छोटे-छोटे पद्यों में ही अपने आप में सम्पूर्ण अन्य निरपेक्ष भाव से लिखी जाती थीं। आरम्भ में ऐसी रचनायें प्राकृत भाषा में लिखी गईं और बाद में चलकर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं।'[2] सन ईसवी का आरम्भिक काल ऐसी रचनाओं का आरम्भिक काल नहीं है, बल्कि वह काल है जबकि इस प्रकार की रचनायें अत्यधिक संख्या में लिखी गईं। इस प्रकार की रचनाओं का आरम्भ प्राकृत भाषा में ही हुआ और इस प्रकार की कविताओं का सर्वप्रथम उपलब्ध संग्रह ग्रन्थ 'हाल' की 'सप्तसती' या सतसई है। इस ग्रन्थ का प्रभाव बाद के भारतीय साहित्य पर भी पड़ा।

मुक्तक काव्यों के लिये अपनाये गये विषयों की भी कई श्रेणियाँ मिलती हैं। काव्य के अन्दर शृंगार को जब तक स्वतंत्र रूप से स्थान नहीं मिल सका था, तब तक ऐसी कविताओं के माध्यम से भक्तिपरक रचनायें होती रहीं, जिन्हें ही ऐसे संग्रहों को साहित्यिक संज्ञा प्रदान करने का श्रेय है। 'स्तोत्र और भक्ति के ग्रन्थों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते ही थे, पर जब लोग शृंगार की रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती नाम का ग्रहण होने लगा। प्राकृत में जब से हाल की गाथा सप्तशती का संग्रह हुआ, तब से शृंगार के वैसे ही रसपूर्ण मुक्तकों की रचना करने का और लोगों को भी हौसला होने लगा।'[3]

मुक्तक काव्यों का संग्रह तैयार करने के लिये किसी एक निश्चित संख्या का होना आवश्यक था जिसके लिये भारतीय स्वभाव उत्तरदाई है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। मुक्तकों को सौ के बन्धन में बाँधने की परम्परा का प्रचलन बहुत पहले हो चुका था, जिसका हिन्दी कवियों को केवल अनुकरण भर करना था और उन्होंने किया भी।

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्र० सं०, पृ० १११

२. वही, पृ० १११, ११२।

३. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बिहारी की वाग्विभूति, प्र० सं०, पृ० ५१।

'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत में 'सप्तशती' और 'सप्तशतिका' शब्दों के रूपान्तर हैं, जो 'सात सौ पद्यों का संग्रह' इस अर्थ में कुछ योग रूढ़ से हो गये हैं।[1] हिन्दी कवियों में सतसई और सतसैया शब्द ही लोकप्रिय हो सका, निःसन्देह जो प्राकृत एवं संस्कृत संग्रह ग्रन्थों की तौल पर बनाया गया। हिन्दी सतसइयों के पूर्व दो सप्तशती अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं, जिनमें से एक सातवाहन द्वारा संगृहीत प्राकृत में लिखी 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' और दूसरी संस्कृत में गोवर्धनाचार्य प्रणीत 'आर्या सप्तशती' हैं। हाल की 'सतसई' में हमें सर्वप्रथम आध्यात्मिक, पौराणिक तथा पारलौकिक गम्भीर विचारों की शुष्कता को छोड़कर मानवजीवन के लौकिक सम्बन्धों, उसके जीवन में आनेवाले ऐहिक आकर्षणों तथा जीवन के सरस एवं मर्मस्पर्शी चित्रों तथा विचारों के दर्शन होते हैं। इसमें 'जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है, जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिका की रसमयी क्रीड़ायें और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रस में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेमगाथायें, ग्रामवधूटियों की शृंगारचेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।[2] विवेचक विद्वानों के बीच भी इस पुस्तक ने अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की है। इसकी आधी से भी अधिक गाथाओं को साहित्य के आकार ग्रन्थों में स्थान मिला है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक,' 'मम्मटाचार्य' के 'काव्यप्रकाश' तथा 'भोजदेव' के सरस्वतीकण्ठाभरण' में गाथासप्तशती की गाथाओं का उल्लेख मिलता है, जिससे इसकी लोकप्रियता एवं श्रेष्ठता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है।

'गाथासप्तशती' को आदर्शमान कर अथवा उसके अनुकरण पर लिखी गई सतसइयाँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं, जिनमें एक प्रकार की रचना के माध्यम से शृंगारिक ऐहिकतापरक रचनायें प्रस्तुत की गईं और दूसरे प्रकार की रचनाओं के माध्यम से सूक्ति अथवा भक्तिपरक छन्दों अथवा दोहों की सृष्टि हुई। सतसई के नाम से संख्यापरक संग्रह प्रस्तुत करनेवाले आगे के प्रायः सभी कवियों पर 'गाथा सप्तशतीकार' का प्रभाव है जिसका अनुकरण कवियों ने अपने वर्ण्यवस्तु के अनुसार किया। कुछ कवियों ने संख्या, शैली, विषयवस्तु तथा उक्तिवैचित्र्य आदि सभी कुछ 'गाथा सप्तशतीकार' का अपने ढंग से अपनालिया है और कुछ कवियों ने केवल संख्या और उक्तिवैचित्र्य को ही अपनाया है और वर्णन सामग्री को अपनाने में अपनी रुचि विशेष का ही परिचय दिया है। इस प्रकार 'गाथासप्तशती' से प्रभावित जिस सतसई परम्परा का आगे विकास हुआ, विषयवस्तु के आधार पर उसके दो स्वरूप हो गये, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

दोनों प्रकार की 'सतसइयों' का उद्देश्य, तीव्रतम अनुभूत ज्ञान को सहज संवेदनीय बनाना होने के कारण, वे अपनी अभिव्यंजना शैली में बहुत कुछ समान रहीं और दोनों

१. बिहारी की सतसई, पद्मसिंह शर्मा, प्र० सं०, पृ० २१।
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ०, ११२।

में ही उक्ति-वैचित्र्य को प्रमुखतम स्थान मिला है। शृंगारपरक रचना हो अथवा नीति संबंधी दोनों में ही कवि प्रयत्न करता है कि अकेले पद्य में विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस वह लाकर भर दे कि उसके स्वाद से पाठक तृप्त हो जायँ। सहृदयता की तृप्ति के लिये उसे किसी प्रकार अगली-पिछली कथा का सहारा न ढूँढना पड़े, जिससे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मुक्तककार को कई ऐसे हथकंडों की आवश्यकता पड़ती है जो उसको इस महत् कार्य में सफलता दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। 'सबसे पहले उसके कथन में कुछ वक्रता या बांकपना होना चाहिये। उसे घुमाव-फिराव से बात कहनी चाहिये। बिल्कुल सीधे ढंग से कहने से बात का महत्व बहुत कुछ घट जाता है। सिंहद्वार या सदर फाटक से आक्रमण करनेवालों को दृढ़ अवरोध का सामना करना पड़ता है। इसीलिये किले में प्रवेश करने के लिये आक्रमणकारी ऐसे किसी किनारे के छोटे-मोटे दरवाजे की टोह में रहते हैं जिसका कोट के निवासियों को उतना ख्याल न हो। दिल में प्रवेश करने के लिये भी बात को ऐसे ही मार्ग ढूँढने चाहिये। विदग्धवाणी को ऐसे मार्ग सहज ही मिल जाते हैं।'[1] उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से कवि चतुरतापूर्ण अत्यन्त लघु मर्म भरी वाणी में सहसा हृद्‌गत भावों का ऐसा रहस्योद्घाटन करता है कि उसकी बातें सीधे हृदय में प्रविष्ट होकर तत्काल ही अपना प्रभाव उत्पन्न कर देती हैं। आकस्मिक प्रयोग के कारण इसकी विदग्धता किसी भी प्रकार से क्षीण नहीं होने पाती और इसका अचानक एवं शीघ्र किया हुआ आक्रमण ऐसा प्रभावशाली सिद्ध होता है कि आक्रान्तों को अवसर न मिलने के कारण इसकी सफलता को निर्विघ्न स्वीकार कर लेना पड़ता है। सतसई की यह प्रमुख शैलीगत विशेषता है जिसका प्रत्येक अवस्था में पाया जाना अनिवार्य है।

शृंगारिक एवं ऐहिकतापरक सतसइयों का एक मात्र मूलस्रोत 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' ही है जिसे हम सतसई परम्परा की आदिभूमि के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस शृंखला की दूसरी कड़ी जिसका पूर्णतः मेल एक दूसरे से बैठ जाता है, वह है संस्कृत में लिखी 'आर्या सप्तशती'। इस ग्रन्थ की रचना १२ वीं शताब्दी में पण्डित गोवर्धनाचार्य ने की थी। पण्डित गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के सभा कवि थे। इसका विकास अट्ठारहवीं शताब्दी में लिखी जानेवाली कवि विश्वेश्वर की 'आर्या सप्तशती' तक ही रहा। 'संख्यापरक नाम देकर संस्कृत में दर्जनों काव्य लिखे गये हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि गोवर्धनाचार्य के 'आर्या सप्तशती' की रचना, 'हाल' के 'गाथासप्तशती' के अनुकरण पर ही हुई, जिसका संकेत भी उनकी रचनाओं में प्राप्त हो जाता है। अपनी एक 'आर्या' में उन्होंने लिखा है—

'वाणी प्राकृत समुचित रसाबलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूप नीरा कलिंद कन्येव गगनतलम्॥'

कि वाणी की वास्तविक सरसता प्राकृत में ही है, जिसे मैं संस्कृत में बलपूर्वक लाने का उसी प्रकार प्रयत्न कर रहा हूँ, जैसे नीचे बहनेवाली यमुना को आकाशोन्मुख करने का प्रयत्न किया जाय। 'वाणी प्राकृत समुचित रसा' कहते हुए गाथा सप्तशती पर उनकी दृष्टि

१. सतसई सप्तक—बाबू श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० ७।

थी इसमें सन्देह नहीं और 'बले नैव संस्कृतं नीता' से ध्वनित होता है कि उन्होंने किसी सीमा तक प्राकृत से अनुवाद किया है।[1]' प्राकृत में पाई जानेवाली सतसई का लिखित सर्व प्रथम रूप 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' ही है जिसका ही अनुकरण 'आर्या सप्तशती' में सम्भव है। आर्या सप्तशती में गाथा सप्तशती का विषय और छन्द-संख्या दोनों दृष्टियों से अनुकरण किया गया है। श्रीमार्कण्डेयपुराणान्तर्गत एक और सप्तशती 'दुर्गासप्तशती' के नाम से मिलती है, किन्तु इसमें केवल नाम साम्य ही है। दुर्गा सप्तशती और गाथा सप्तशती में यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो यही कि उसमें इसकी छन्द संख्या भर का अनुकरण है।

दुर्गा सप्तशती में जिस प्रकार केवल छन्द संख्या का साम्य है, उस प्रकार की साम्यता को दृष्टि में रखकर हिन्दी कवियों ने भी सतसइयाँ लिखीं, जिनमें शृंगारिक तथा सरस ऐहिकतापरक छन्दों अथवा दोहों का नितान्त अभाव है। इन सतसइयों को सूक्ति-सतसई कहना अधिक तर्क संगत जान पड़ता है, क्योंकि इन रचनाओं का प्रधान उद्देश्य उपदेश है, जिनके प्रणयन श्रोत महाभारत में आये विदुर अथवा भीष्मपितामह द्वारा दिये गये नीति के आदर्श उपभेद ही हैं। इनमें आये हुए भक्ति सम्बन्धी कुछ मुक्तकों अथवा दोहों को छोड़ कर, जिनकी गणना शान्त रस में की जा सकती है, अधिकांश पद्य सूक्तिमात्र ही हैं। इस प्रकार की सतसइयों में कहा जाता है कि 'रहीम' की एक सतसई थी, जिसके लगभग आधे छन्द मिलते हैं। किन्तु जबतक इस पूरे ग्रन्थ संग्रह का पता नहीं चल जाता, तब तक इसके सम्बन्ध में साधिकार कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। 'तुलसीदास' और 'वृन्द' की ही दो प्रमुख ऐसी सतसइयाँ हैं जिन्हें सूक्ति सतसइयों की परम्परा में रख सकते हैं।

'तुलसी सतसई' की रचना उस समय हुई थी जिस समय गोस्वामी जी का अत्यधिक झुकाव जानकी जी की ओर हो रहा था।[2] वेणीमाधव दास ने अपने ग्रन्थ 'मूलचरित्र' में सतसई का जो रचना काल लिखा है, वही तिथि गोस्वामी जी द्वारा रचना काल सम्बन्धी उनके दोहे से भी स्पष्ट होती है। उन्होंने इसका रचना काल वैशाख मास संवत् १६४२ माना है। इस ग्रन्थ की रचना 'सीता जी' की जन्म तिथि के अवसर पर हुई थी। तुलसीकृत 'सतसई' सात सर्गों में विभक्त है जिसके संपूर्ण ७४७ दोहों में भक्ति उपासना, परामक्ति, सांकेतिक वक्रोक्ति द्वारा रामभजन, आत्मबोध, कर्म सिद्धान्त और ज्ञान सिद्धान्त सम्बन्धी विषयों की चर्चा है। अन्तिम सर्ग में राजनीति निरूपण सम्बन्धी दोहों की सृष्टि हुई है। इसके अतिरिक्त इसके अन्दर बहुत से ऐसे दोहे प्राप्त हो जाते हैं जिनकी रचना कबीर की साखियों के ढंग पर हुई है।

'वृन्द' कवि की 'सतसई' की रचना लगभग गोस्वामी तुलसीदास की 'सतसई' के ११९-१२० वर्ष बाद हुई। इन्होंने इसकी रचना ढाका में संवत् १७६१ में की, जैसा कि पुस्तक के अन्त में स्वयं कहा है—[3]

---

१. सतसई सप्तक, श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० ११।

२. 'अहि रसना थन-धेनु रस गनपति द्विज गुरुवार।
माधवसित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार॥'

३. सतसई सप्तक—बाबू श्यामसुन्दरदास, प्र० सं०, पृ० ११।

संवत् ससि रस वार ससि कातिक सुदि ससिवार।
सातैं ढाका सहर में उपज्यो इहै विचार ॥७०६॥

'वृन्द ने सत्य स्वरूप, रूपक-वचनिका, अलंकार सतसई, शृंगार शिक्षा, हितोपदेशाष्टक, भाव-पंचाशिका आदि कई ग्रन्थ लिखे, परन्तु कोई उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जितनी कि उनकी रची हुई वृन्द-विनोद सतसई हुई।'[1] इस सतसई के अन्दर कोरे उपदेशों को ही स्थान नहीं दिया गया, बल्कि इसमें पाई जानेवाली सूक्तियों में सर्वत्र विदग्धता है। अपने सरस एवं सरल भावों तथा अनोखे दृष्टान्तों के कारण ही इस रचना को जितनी ख्याति मिल सकी, उतनी ख्याति गोस्वामी जी की सतसई को भी नहीं प्राप्त हो सकी।

हिन्दी सतसई की परम्परा प्रधानतः शृंगार सतसइयों की परम्परा है। इसका आरम्भ तुलसी सतसई के पश्चात् और वृन्द कवि की सतसई के पहले ही हुआ। इन शृंगार सतसइयों में यद्यपि बहुत से ऐसे दोहे मिल जाते हैं, जो उपदेश और सूक्तिपरक हैं तथा उतनी ही उच्चकोटि की कृतियाँ हैं जितनी कि तुलसी और वृन्द की, किन्तु इन्हें हम सूक्ति सतसइयों की श्रेणी में नहीं रख सकते। इनका प्रधान विषय शृंगार है और ये शृंगार सतसइयाँ हैं जिनका प्रचार सूक्ति सतसइयों से कहीं अधिक हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी शृंगार सतसइयों की परम्परा का आरम्भ कविवर बिहारी की 'सतसई' से मानना चाहिए।[2] हिन्दी के पूर्ववर्ती सतसईकार 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' के द्वारा सतसई की जिस परम्परा का निर्माण हुआ, उसकी समस्त विशेषताओं के दर्शन सर्वप्रथम हमें बिहारी 'सतसई' में होते हैं। तीन ग्रन्थ बिहारी के बहुत प्रिय जान पड़ते हैं—हाल की गाथा सप्तशती, अमरुक का शतक और गोवर्धन की आर्या सप्तशती। बिहारी के दोहों में इन रचनाओं के भावानुवाद यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। बिहारी की कला दूसरों के भावों को काट-छाँट कर तराश के साथ अपने ढंग से उपस्थित करने में अद्भुत सचेष्ट थी। अधिक असंगत न होगा यदि कहा जाय कि पूर्ववर्ती कवियों के शृंगारिक भावों का कलात्मक रूप ही बिहारी 'सतसई' है। यही कारण है कि विद्वानों ने एक स्वर से सहसा घोषित कर दिया कि हिन्दी सतसई परम्परा का आरम्भ कविवर बिहारी की 'सतसैया' से ही होता है। कविवर बिहारी अपनी सतसैया में गाथा सप्तशती की जो ताजगी और दीप्ति नहीं ला सके, वे सभी गुण प्रभूत मात्रा में हमें मतिराम सतसई में मिल जाते हैं।

बिहारी सतसई के आरम्भ और समाप्त होने के पूर्व मतिराम सतसई के अधिकांश श्रेष्ठ दोहों की रचना हो चुकी थी, उनका ग्रन्थाकार संग्रह चाहे जब किया गया हो। बिहारी सतसई के आरम्भ होने का सूत्र अनुमान से सं० १६९१-९२ तक जाता है। यह एक प्रकार से निश्चित-सा जान पड़ता है कि बिहारी सतसई के सभी अथवा अधिकांश प्रमुख दोहों की रचना उसके प्रथम ऐतिहासिक दोहे—

---

१. वही, पृ० ३६।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, प्र० सं०, पृ० ३२१।

'नहिं पराग नहिं मधुप मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बंध्यों, आगे कौन हवाल ।।'

के पश्चात् ही हुई, क्योंकि इसी दोहे से प्रसन्न होकर उनके प्रधान आश्रयदाता राजा जयसिंह ने ऐसे ही रचे जाने वाले दोहों पर एक मोहर प्रति दोहा पुरस्कार देने का अपना निश्चय कविवर को सुनाया और परिणामस्वरूप सतसई के अन्य मार्मिक एवं सरस दोहों की रचना मोहरों के पुरस्कार के साथ हुई। कविवर बिहारी 'नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ वृत्ति लेने प्रति वर्ष जाया करते थे। इनका जोधपुर और बूँदी में जाना कहा जाता है। ये आगरे भी जाया करते थे। सं० १६९१-९२ के लगभग जब ये अपनी वृत्ति लेने आगरे गये तो पता चला कि महाराज जयसिंह नई व्याह लाई हुई रानी पर मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं। राजकार्य भी सँभालना छोड़ दिया है। यह आदेश भी था कि यदि कोई रंग में भंग करेगा तो कुशल नहीं। किसी को कुछ कहने कहलाने का साहस नहीं था। प्रधान महारानी श्री अनन्त कुमारी (चौहान रानी) इस घटना से बहुत व्यग्र थीं। बिहारी ने अपना समाचार राजा तक पहुँचाने का बहुत उद्योग किया, पर किसी को साहस नहीं हुआ।'[1] महारानी की अत्यधिक चिंता और मन्त्रियों के आग्रह पर बिहारी ने उपरोक्त दोहे के आधार पर राजा जयसिंह को सचेष्ट किया। कविवर बिहारी मुगल सम्राट शाहजहाँ के अत्यन्त कृपा पात्र थे और जयसिंह पर उसकी दृष्टि बराबर लगी रहती थी जिससे वे आश्वस्त थे कि राजा जयसिंह उसे छेड़कर सम्राट् का कोप भाजन नहीं बन सकते और ऐसा ही हुआ। जयसिंह को दोहा पढ़ते ही चेत आ गया। 'आगे कौन हवाल' की गूढ़ व्यंजना भी राजा को सूझ गई। 'इस तरह बेखबर रहोगे तो आगे कैसे निभेगी। शाहजहाँ तुमसे भिड़ने का अवसर ही देख रहा है। महाराज ने बिहारी का बड़ा उपकार माना। बहुत सी स्वर्ण मुद्रायें उनको भेंट कर उन्होंने उनका सम्मान किया और आगे के लिये भी प्रति दोहा एक अशर्फी देने की प्रतिज्ञा की।'[2] इस प्रकार की सतसई राजाश्रय में प्राप्त कृपा और धन-संपत्ति के बीच की रचना है, जो कम से कम संवत् १७०३ के पूर्व तो समाप्त नहीं ही हो सकी थी। बाबू श्यामसुन्दर दास ने इसका समाप्ति काल संवत् १७०४ का शीतकाल माना है और जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी लगभग यही स्वीकार किया है।[3] क्योंकि सतसई के अन्तिम दोहे में बलख की लड़ाई का उल्लेख है जो इसी संवत् में हुई थी और जिसमें राजा जयसिंह ने औरङ्गजेब की बड़ी सहायता की थी। इस युद्ध में राजा जयसिंह ने जिस रणकौशल का परिचय दिया था, उसका संकेत बिहारी सतसई के इस दोहे में स्पष्ट रूप से उद्धृत है—

'यौं दल काढ़े बलकतैं, तै जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं, ज्यौं हरि गाई गुवाल ।।' ७११ ।।

---

१. बिहारी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १०३।
२. सतसई सप्तक, श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० २४—२५।
३. वही, पृ० २५।
कविवर बिहारी—जगन्नाथदास रत्नाकर, प्र० सं०, पृ० ११६।

बिहारी के दोहों को शृंगारपरक मुक्तकों का सर्वप्रथम नमूना मानने में एक और आपत्ति जान पड़ती है, वह है उनकी अन्यतम प्रौढ़ता। दोहों का काव्य में प्रयोग कबीर, जायसी तथा तुलसी की रचनाओं में आकर मज सा अवश्य गया था, किन्तु शृंगारिक दोहों में प्रौढ़तम रचना करने वाले प्रथम और अन्तिम कवि बिहारी ही जान पड़ते हैं।

बिहारी के दोहों की प्रौढ़ता से तात्पर्य हमारा उनकी कलागत प्रौढ़ता ही है, भावगत नहीं। भावों की स्वाभाविकता उनकी कलाबाजी एवं मठार के कारण दब-सी गई है, जो काव्य का प्राण है। यही कारण है कि बिहारी के दोहे बुद्धि को जितना चमत्कृत करते हैं, हृदय को रस में उतना नहीं डुबो पाते। भावों की स्वाभाविक आधार भित्ति पर ही बुद्धि तथा कला को अपनी कारीगरी दिखाने का अवसर मिलता है। कला एवं वैलक्षण्य काव्य में सहसा उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसके लिये उसे विकास की आरम्भिक पगडंडियों पर चलना पड़ता है। बिहारी के दोहे मंजिल तक ले जानेवाली सीढ़ियाँ नहीं, बल्कि मंजिल हैं, जिसकी आधार भूमि हिन्दी कविता में पहले ही से अवश्य वर्तमान थी। या तो आरंभिक रचनाओं को संग्रह का स्वरूप प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ या तो वे बिहारी सतसई के पूर्ण प्रसिद्ध हो जाने के पश्चात् सामने आईं। ऐसी ही कुछ स्थिति 'मतिराम सतसई' की है, जो निःसन्देह बिहारी सतसई से पूर्व की रचना है। इसकी ख्याति हिन्दी जगत में तत्काल बिहारी सतसई के समान जो नहीं हो पाई, उसके लिये 'मतिराम' के 'रसराज' की अत्यधिक प्रसिद्धि ही उत्तरदायी है।

मतिराम के उत्कृष्टतम नायिकाभेद ग्रन्थ 'रसराज' की रचना बिहारी सतसई के आरम्भ होने से पूर्व ही संवत् १६९० के आसपास हो चुकी थी, जिसमें 'मतिराम सतसई' के लगभग १२५ से अधिक उत्कृष्टतम दोहे पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संवत् १६९१ के आसपास जब बिहारी सतसई का प्रथम दोहा साभिप्राय लिखा गया, उस समय तक मतिराम सतसई के उत्तम दोहों की रचना हो चुकी थी। मतिराम सतसई किसी परिस्थिति विशेष की ही न तो रचना है और न तो उसकी रचना 'मोहरों' के नुस्खे पर ही की गई है। इस कवि ने समय-समय पर अपने मस्ती के क्षणों में लिखा है जिससे उसके हृदय की सहज एवं स्वाभाविक अनुभूतियाँ सरलतम भाषा में मर्मस्पर्शी प्रभावों के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। इनके दोहों में बिहारी के दोहों की भाँति न तो तराश-मठार है और न तो वे बुद्धि को ही चमत्कृत करने का प्रयत्न करते जान पड़ते हैं। अपने दोहों के माध्यम से जिस स्वाभाविक भावभूमि की सृष्टि मतिराम ने की है, उसी पर आगे चलकर बिहारी ऐसे श्रेष्ठ कलाकार ने अपनी कलात्मक बुद्धि का चमत्कार दिखाया, ऐसा जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त बिहारी के अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमें पूर्ववर्ती कवियों का भावानुवाद करके रख दिया गया है जिससे उनकी अध्ययनशीलता तथा जागरूक कलात्मकता का परिचय मिल जाता है। मतिराम के दोहों में इस प्रकार की किसी तैयारी के चिह्न नहीं जान पड़ते।

बिहारी सतसई मतिराम सतसई के बाद की रचना होते हुए भी हिन्दी जगत को उससे पहले आकर्षित कर सकी है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह किया ही नहीं जा सकता। इसके ७१३ दोहों में शृंगारी साहित्य की रचना अपनी चरम सीमा को पहुँच गई

है। उक्तिवैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता का ऐसा अनुपम उदाहरण एक ही स्थान पर तो समस्त हिन्दी काव्य में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकता। रीतिमुक्त कविता होने पर भी इसके दोहों में नायिका-भेद सम्बन्धी उत्तमोत्तम उदाहरण भरे पड़े हैं। कवि के सामने रचना करते समय नायिका-भेद सम्बन्धी हिन्दी की रचनायें अवश्य थीं, जिनका चरम परिपाक 'मतिराम' द्वारा रचित 'रसराज' में उपस्थित किया जा चुका था। इनके पूर्व सूक्ति सतसइयों की रचनायें हो चुकी थीं और उनका तत्कालीन समाज में काफी प्रचलन भी हो चुका था जिससे इनके कुछ दोहों पर उनका अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। सूक्ति अथवा उपदेशपरक बिहारी के दोहे भी अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं। हाल की गाथा सप्तशती ऐसी रचनाओं का प्रथम संग्रह है और बिहारीलाल की सतसई इस परम्परा में ही पड़ती है। इसके बाद भी सतसइयों की रचना होती अवश्य रही, पर कीर्ति में कोई इसके निकट नहीं पहुँच सकी।'[1]

'रसनिधि सतसई' कवि रसनिधि, जिनका वास्तविक नाम पृथ्वी सिंह था, के 'रतनहजारा' का संक्षिप्त रूप है। इनका रचनाकाल संवत् १६६० और संवत् १७१७ के बीच का है। इनके दोहों में लौकिक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्थान मिला है जिसमें वैयक्तिकता के आग्रह का प्राधान्य हो जाने के कारण अनेक स्थलों पर अश्लीलता भी आ गई है। इसके संक्षिप्त रूप में संगृहीत सतसई सतक में दोहों की कुल संख्या ७०१ है। इनके कुछ दोहों पर सूफियों का प्रभाव जान पड़ता है जिनमें उन्होंने आत्म-तत्व सम्बन्धी विषयों पर कुछ कहने की चेष्टा की है।

रसपूर्ण ७२७ दोहे राम सतसई के नाम से संगृहीत हैं। इसकी रचना महाराज उदितनारायण सिंह, काशीनरेश के आश्रित कवि 'राम' ने की थी, जिनका उपनाम भगत था। 'इनका कविता काल संवत् १८६० से १८८० तक ठहरता है। इनकी सतसई मतिराम ही की भाँति सरस और स्वाभाविक है। उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण की प्रचुरता है। पर ये सुरुचि का सर्वत्र विचार रख सके हैं, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी इनकी कविता रसवती होती थी।'[2]

विक्रम सतसई के रचयिता बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा महाराज विक्रम साहि हैं जिनका पूरा नाम विक्रमादित्य था। 'मतिराम' के वंशज 'बिहारीलाल' जो 'सतसैया' के बिहारी से भिन्न थे, को इन्हीं महाराज के दरबार में आश्रय मिला था। इनका राजत्व-काल संवत् १८२९ से संवत् १८८६ तक रहा, जिसके बीच ही में कभी इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न हुई थी। इनकी कविता उच्च साहित्यिक कोटि की नहीं है, किन्तु दोहे अत्यन्त सरस हैं। इनकी सतसई बिहारी सतसई की अनुकरण है जिसमें अनुकरण के दोष प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। बातें सीधे सादे ढंग से कही गई हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य का हिन्दी सतसइयों पर प्रभाव

इसका उल्लेख किया जा चुका है कि 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' तथा गोवर्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' का प्रभाव हिन्दी के परवर्ती सतसैयाकारों पर पड़ा। हिन्दी के कवियों

1. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३२६।
2. सतसई सतक—श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० ३०।

ने यह प्रभाव कई दृष्टियों से ग्रहण किया जिसकी भी चर्चा हो चुकी है। जहाँ तक संख्या एवं शैली का सम्बन्ध है सभी के नाम सात सौ के आधार पर रखे गये और उनकी रचना मुक्तक छन्द अथवा दोहों में हुई। जहाँ तक भावसाम्य का प्रश्न है, कुछ कवियों में अत्य-धिक पाया जाता है और कुछ में कम, या पाया भी जाता है तो उसको ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया गया है कि वह कवि का अपना हो गया है। मतिराम और बिहारी की सतसइयों का निर्माण हो जाने के पश्चात् हिन्दी के बाद में आनेवाले कवियों ने गाथा सप्तशतीकार तथा आर्या सप्तशतीकार का भाव साम्य ग्रहण न करके, इन्हीं दोनों कवियों के भाव साम्य को ग्रहण किया है। बिहारी के दोहों में 'मतिराम सतसई' के दोहों तथा 'गाथा सप्त-शती' के मुक्तकों, दोनों के भावसाम्य प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं। मतिराम के जिन दोहों के भाव साम्य बिहारी के दोहों में मिलते हैं, उनमें बिहारी की कारीगरी स्पष्ट है। अपनी जिन स्वाभाविक अनुभूतियों को मतिराम ने कला के आग्रह से विरत होकर दोहों का रूप दिया है, उन्हीं को बिहारी के दोहों में कलात्मक तथा तर्कसंगत रूप प्रदान किया गया है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। किन्तु बिहारी सतसई के कुछ दोहे तो 'गाथा सप्तशती' के भावानुवाद जान पड़ते हैं।

पूर्ववर्ती प्राकृत एवं संस्कृत सतसइयों का जितना अधिक प्रभाव बिहारी सतसई पर लक्षित होता है, उतना अन्य पर नहीं। 'परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई में कोई अन्तर ही नहीं है।.... सिर्फ बिहारी ही नहीं, उनके बाद के संस्कृत पढ़े-लिखे हिन्दी शृंगारी कवियों ने भी इन तीन ग्रन्थों से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है। कई कवियों ने इन ग्रंथों के श्लोकों का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है और कई दूसरे लेखकों ने स्थान-स्थान पर इनके भावों का छायानुवाद किया है। साहित्य के मर्मज्ञ आलोचकों ने बताया है कि गोवर्द्धन की 'आर्या सप्तशती' में भी हाल की भाँति सरसता, उल्लास और ताजगी नहीं है। बिहारी इस विषय में शायद गोवर्द्धन से अधिक सौभाग्यशाली हैं।'[1]

गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई

बिहारी सतसई के पूर्व 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' दो प्रमुख सतसइयाँ विद्यमान थीं जिनका अत्यधिक प्रभाव बिहारी की रचनाओं पर पड़ा है। इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक दोहे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

पर गाथा सप्तशतीकार का प्रभाव स्पष्ट है। उसने भी इसी प्रकार की उक्ति कही है—

जावण कोस विकास पावइ ईसीस मालई कलिआ।
मअरन्द पाण लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥ गाथा सप्तशती, ५-४४

1. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं, पृ० १२७।

इसी से कुछ मिलता-जुलता आर्या सप्तशतीकार ने भी लिखा है—

'पिब मधुप बकुल कलिका दूरे रसनाग्र मात्र माधाय ।
अधर विलेप समाप्ये मधुनिमुग्धा वदन मर्प्यसि ॥३९॥

और श्रीमती विकट नितम्बा जी भी इसी स्वर में स्वर मिलाकर कहती हैं—

अन्यासु तावदुपमर्द सहासुभृङ्ग ।
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले ।
व्यर्थंकदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

गाथाकार ने नादान भौंरें के नादानी की चुटकी ली है, जो अविकसित अवस्था में ही मालती कलिका का अपनी अज्ञानता के कारण मर्दन कर रहा है, आर्याकार 'मालती कलिका मर्दनकारी भ्रमर को छोड़ कर बकुल कलिका को कदर्थित करनेवाले भौंरे के पास पहुँच कर दूर खड़े उपदेश दे रहे हैं कि यों नहीं यों रसपान करो, नहीं तो कुछ पल्ले न पड़ेगा।'[1] विकट नितम्बा जी का इन दोनों से अद्भुत है किन्तु अत्यन्त सुन्दर और विस्तृत है। वे भ्रमर को दूसरी जगह खिले चमन में पेटभर कर जी बहलाने का उपदेश दे रही हैं और नवमल्लिका की बाला कलिका पर दयाभाव दिखला रही हैं । बिहारी को अपने नादान भौंरे की नादानी देख कर उसके भविष्य की चिन्ता होती है, कि जब वह अभी पराग विहीन कलिका के फन्दे में ही इतना बेसुध हो गया है, तो उसके परागयुक्त हो जाने पर उसकी क्या अवस्था होगी । उन्हें भोली-भाली कलिका की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी की नादान भौंरे की है ।

परदेशी पति अल्प काल तक ही अपनी प्रेयसी के पास रह कर पुनः परदेश जाना चाहता है जिससे नायिका अत्यन्त दुखी होने लग जाती है । इस अवस्था का चित्रण गाथाकार और सतसैयाकार दोनों ने ही किया है ।[2] गाथाकार की नायिका वियोगजनित दुःख के कारण श्रृंगार आदि प्रसाधनों से विरत हो गई थी और पति के लौट जाने पर अपने वियोगकाल में बिखरे-रूखे-उलझे केशों को पुनः सुलझाने लगी थी, जिनकी उलझन अभी पूर्णतः दूर नहीं हो पाई है, उनका श्रृंगार अभी अधूरा ही है, किन्तु प्रियतम को पुनः जाने के लिये तैयार बैठा देखकर वह अत्यन्त विस्मय में पड़ जाती है तथा अपनी अवस्था को प्रकट कर उसे प्रवास से विरत करने की चेष्टा करती है । बिहारी की नायिका की स्थिति थोड़ी गाथाकार की नायिका से अधिक दयनीय है । वह वियोगकाल में अत्यन्त क्षीणकाय हो गई थी जिससे प्रियतम के आजाने पर भी अभी उसका स्वास्थ्य

1. पद्मसिंह शर्मा, बिहारी की सतसई, प्र० सं०, पृ० ४० ।
2. "अज्जो दुक्कर आरअ पुणो वि तंति करेसि गमणस्स ।
अज्जवि ण होंति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा ॥ (१।०१) गाथा सप्तशती ।
कर्यौ न आये सहज रंग बिरह दूबरे गात ।
अबही कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥ —बिहारी सतसई ।

अपनी स्वाभाविक स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका है, जिसे वह नायक पर व्यक्त कर उसके मन में करुणभाव उत्पन्न करना चाहती है कि जिससे वह परदेश गमन विचार से विरत होकर उसके पास रुक जाय।

इस प्रकार अनेक ऐसे दोहे हैं जिनमें सतसईकार गाथाकार की रचनाओं से उपकृत हुआ है। 'गाथाकार' से प्रभावित 'आर्याकार' के भाव भी सतसैयों में उसी प्रकार अपनाये गये हैं, जैसे कि गाथाकार के।

आर्या सप्तशती और बिहारी सतसई

नायिका नायक के प्रेम में फँसकर अपनी समस्त कठिनाइयों तथा सीमाओं के बावजूद भी चाहकर प्रेम से विरत नहीं हो पाती और बार-बार उसी प्रेमी की ओर दौड़ जाती है। आर्या तथा सतसईकार दोनों ने इस प्रकार प्रेम और मर्यादा के बीच दौड़नेवाली नायिका को 'नाव' का रूपक दिया है जो किनारे न लग कर बार बार भँवर में चक्कर खाती रहती है और नाविकों द्वारा प्रयत्न करने पर भी किनारे नहीं लायी जा पाती। आर्या की नायिका को उसकी सखी सीख देती है कि उसे अपनी मर्यादाओं का ध्यान कर असामाजिक प्रेम से विरत हो जाना चाहिए, किन्तु वह प्रेमाधिक्य के कारण उसी प्रकार अपने प्रेमी अथवा प्रेम को दौड़ जाती है जिस प्रकार किनारे पर लाई जानेवाली नाव किनारे पर न आकर जलावर्त में ही घूम जाती है और वहीं चक्कर काटने लगती है। बिहारी की भी नायिका सामाजिक मर्यादा और लज्जा को तिलांजलि दे चुकी है। जिस प्रकार रस्सी या गुन के टूट जाने पर जल में पड़ी नौका भँवरों में चक्कर काटती फिरती है, उसी प्रकार उनकी नायिका भी लाज रूपी गुन के टूट जाने से नायक के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य रूपी भँवर में पड़कर प्रेम के पीछे चक्कर काटती फिरती है।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि कविवर बिहारी को जो भावभूमि पूर्ववर्ती कवियों से मिली है उसपर उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं कला का चमत्कार दिखाया है।

आर्या सप्तशती की एक नायिका बाल संवारते समय भी गर्दन को तिरछी किये झुकी हुई उलटे बैठे रहने पर भी, अंगुलियों से बालों के बीच जगह बनाकर सबकी आँख बचाकर प्रियतम को देख लेने में सफल हो रही है, उसीको बिहारी ने भी अपने दोहे में बाँधा है।[२] इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों से भी अपने दोहों में भाव ग्रहण किये हैं।

---

१. 'भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्त पतित नौकापि तमनया विनयमवनीय ॥४२२॥ (आर्या सप्तशती)
फिर फिर चित उतहीं रहतु टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौंर मैं भयौ भौंर की नाव॥ (बिहारी सतसई)

२. 'चिकुर विसारणतिर्यक नत कण्ठी विमुख वृत्तिरपि बाला।
त्वमियं अंगुलिकल्पितक चावकाशा विलोकयति ॥ २३१ ॥ आर्या सप्तशती।
'कंजन नयनि मंजन किएँ, बैठी ब्योरति बार।
कच अंगुरनि बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार॥' बिहारी सतसई।

अमरुक शतक और बिहारी सतसई

दोहों के अतिरिक्त बिहारी सतसई के दोहों में संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों के भी भाव ग्रहण किये गये हैं। बिहारी की नायिका बहाना बनाकर सोये हुए पति का सचमुच सोया हुआ समझ कर एकान्त में उसका चुम्बन करती है और चुम्बन का पूर्णानन्द उठाकर नायक को हँसता देख वह अत्यन्त खिसिया नायक के गले से लिपट कर रह जाती है। इसीसे मिलता जुलता भाव अमरुक शतककार का भी है।[1]

सिद्ध हेमचन्द्र और बिहारी सतसई

भ्रमर की स्वाभाविक चंचल वृत्ति की ओर संकेत करते हुए 'सिद्ध हेमचन्द्र' के एक दोहे में भ्रमर को सम्बोधित करके उसे तब तक नीबड़ी पर ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश दिया गया है, जब तक कि सघन पत्तों वाला छाया बहुल कदम्ब पुष्पित नहीं हो जाता, जिससे मिलता जुलता दोहा बिहारी सतसैया में भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सिद्ध हेमचन्द्र में संग्रहीत और भी कई दोहों के प्रभाव बिहारी ऐसे परवर्ती कवियों ने ग्रहण किये हैं।[2]

केशवदास और बिहारी सतसई

बिहारी के दोहों में अपेक्षाकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश के मुक्तकों के भाव हिन्दी कविताओं के भावों से अधिक आये हैं, किन्तु महाकवि केशव के कुछ छन्दों के भाव उनके दोहों पर अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। बिहारी के भाव ग्रहण की अपनी विशेषता रही है, जिस कौशल का प्रदर्शन उन्होंने यहाँ भी किया है। दोहे की लघु सीमा में केशव के छन्द में आये हुए भाव को जिस कलात्मकता के साथ कविवर बिहारी ने उतारा है, उससे उसे हम अन्धानुकरण कदापि नहीं कह सकते, किन्तु भावसादृश्य को एकदम से नकारा भी नहीं जा सकता।[3] इसी प्रकार यदि हम पूर्ण छानबीन करें तो पूर्ववर्ती आचार्यों एवं कवियों के भाव एक-एक दोहे में बिखरे मिलेंगे।

---

१. "शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरंचुम्बिता॥" अमरुशतक, ८२।
"मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय।
हँस्यो खिस्यानी, गर गह्यौ, रही गरैं लपटाय॥" बिहारी सतसई।

२. "भमरा एत्थुवि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु।
घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु॥" सिद्ध हेमचन्द्र, ४-३८७-२।
"इहीं आस अटक्यौ रहै, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं बहुरि बसन्तरितु, इन डारनि वे फूल॥" बिहारी सतसई।

३. "सुख दै सखीन बीच ह्वै के सौंहैं स्याम कै,
कबहूँ कहूँ काम बस कीनो बरबसु है।
कोमल मृणालिका सी मल्लिका की मालिका सी,
बालिका सु वारी ओंठ मानस के पसु है।

गोवर्धनाचार्य और मतिराम

बिहारी की मुख्य रचनाभूमि 'बिहारी सतसई' ही रही जिससे उन्हें सब कुछ दोहों के माध्यम से ही कहना था, किन्तु मतिराम के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं थी। मतिराम ने 'सतसई' के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी रचनायें की हैं और उनकी मुख्य रचनाभूमि 'सतसई' नहीं, बल्कि 'रसराज' है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती कवियों के भाव उनकी 'सतसई' में जितने नहीं आये हैं, उससे कहीं अधिक उनकी अन्य रचनाओं में पाये जाते हैं। गोवर्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' में एक युवती के कटाक्ष का वर्णन आया है जिसके द्वारा कान तक खींच कर चलाये गये नयन बाण नायक के हृदय में प्रविष्ट होकर पुनः बाहर आना ही नहीं जानते, क्योंकि वे सीधे नहीं चलाये गये थे। इसी भाव को लेकर 'मतिराम' ने अत्यन्त अनुपम एक घनाक्षरी की सृष्टि की है, जो 'रसराज' और 'ललित-ललाम' दोनों में संगृहीत है। रसराज में यह स्मृति और ललितललाम में पूर्णोपमा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।[1]

तुलसीदास और मतिराम

महाकवि तुलसी ने अपने एक 'बरवै' छन्द में जानकी जी के काले केशपाशों तथा हथेलियों की स्वाभाविक दमक का अनूठा वर्णन उसके 'मोती' पर डालने वाले प्रभावों के माध्यम से किया है। केशपाश में गुथी हुई मुक्ताओं पर केशों की छाया पड़ कर उन्हें नीलमणि के सदृश चमका देती है और वे ही मुक्ताएँ जब उनकी हथेलियों पर आ जाते हैं, तो उन पर से केशों की छाया विलीन हो जाती है और उनसे प्रकाश प्रस्फुटित होने

जानै ना बिमास भयो 'केसव' सुनै को बात,
देखो आनि गात जात भयो कैधौं असु है॥
चित्र सी जुराखी वह चित्रिणी विचित्र गति,
देखौ धौं नये रसिक यामें कौन रसु है॥ (रसिकप्रिया)

'यों दल मलियत निर्दई दई कुसुम के गात।
कर धर देखी धर धरा अजौं न उर को जात॥ (बिहारी सतसई)

1. 'पर मोहनाय मुक्तो निष्करुणे तरुणितव कटाक्षोयम्।
विशिख इव कलित कर्णः प्रविशति हृदयं ननिःसरिता॥' आर्या सप्तशती, ३५५।

'आलस बलित कोरै काजर कलित
मतिराम वे ललित अति पानिप धरत हैं,
सरस सरस सोहैं सलज सहास
सगरब सबिलास है मृगीन निदरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाछ बरे,
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं,
गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत,
मैन बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं।'(मतिराम)

लगता है। इसी भाव को 'मतिराम' ने अपने ढंग से ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे तुलसी से प्रभावित 'मतिराम' के सुन्दर छन्द उनकी रचनाओं से ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं।[1]

आचार्य केशव और मतिराम

मतिराम की कोमल कल्पना तथा सरसता से ओतप्रोत 'केशव' की कविताओं के भी मार्मिक भाव यत्र-तत्र उनकी कविताओं में विराजमान हैं। बाला के मृदु हास पर उभय कविवर रीझ गये हैं। कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इस मंद हास्य को लेकर दोनों कवियों ने खूब परिभ्रमण किया है। जिस प्रकार केशवदास को 'भोरी गोरी की थोरी थोरी हांसी' को देख कर नाना प्रकार के सन्देह उठे हैं कि यह मन्द हास्य अमुक अमुक वस्तु तो नहीं है, उसी प्रकार मतिराम के मति मुकुर पर भी ऐसे ही अनेक सन्देहों के मनोरंजक प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ते हैं।[2]

रहीम, बिहारी और मतिराम

मतिराम अनेक दृष्टियों से रहीम के सबसे अधिक निकट हैं और बिहारी तथा उनका रचनाकाल प्रायः एक ही रहा जिससे एक दूसरे की रचनायें परस्पर अत्यधिक प्रभावित हैं जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

बिहारी सतसई और रसनिधि

रसनिधि ने कोई अलग से सतसई नहीं लिखी, बल्कि उनके 'रतनहजारा' से ही उत्तम

---

१. 'केस मुकुत सखि मरकत मनि मय होत,
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत।' (तुलसी)
'मुकुत हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत,
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत।' (मतिराम)
'सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत,
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत।' (तुलसी)
'हीरनि मोतिन के अवतरनि सोने के भूषन की छवि छावै,
हार चमेली के फूलन के तिन मैं रुचि चंपक की सरसावै।
अंग के संगतैं केसरि रंग की अंबर सेत में जोति जगावै,
बाल छबीली छपाए छपै नहिं लाल कहो अब कैसे क आवै॥ (मतिराम)

२. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० १६८-१६९।
किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति,
....
मोहन की मोहनी कि गिरा की गोराई है।" (केशव)
बानी के बसन कैधों—बाग के—बिलास कोऊ,
....
बाल के बदन बिकसत मृदु हास है।" (मतिराम)

दोहों को छाँट कर लोगों ने उसे 'सतसई' का स्वरूप प्रदान कर दिया है। बाबू श्यामसुन्दर का सतसई सप्तक में किया हुआ ऐसा ही प्रयास है। जिस प्रकार बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अपने भाव लिये, वैसे ही परवर्ती कवियों ने भी बिहारी के भावों को भी अपनी कविताओं में अपनाया है। रसनिधि ने तो बिहारी के अनुकरण पर ही प्रायः अपने दोहों की रचना की है। उनके भावों और यहाँ तक कि पदावली को भी उन्होंने ज्यों का त्यों ले लिया है। दूसरों के भावों को कलात्मक रूप प्रदान करने की जो क्षमता बिहारी में थी, वह इन कवि महाशय को प्राप्त नहीं थी, जिससे उनके द्वारा लिये गये भावों की दुर्दशा हो गयी है तथा कभी-कभी उसका निर्वाह करने के लिये एक स्थान पर उन्हें एक से अधिक दोहे कहने पड़े हैं जिससे उसका प्रभाव-गाम्भीर्य शिथिल पड़ गया है।[1]

मतिराम और रसनिधि

रीतिकालीन कवियों को नयन बाण से बिंधना अधिक प्रियकर था। 'मतिराम' की नायिका के नयन बाण अधिक तीव्र हैं, किन्तु वे रसनिधि तक पहुँचते-पहुँचते घिस अवश्य गये हैं, क्योंकि वंशी की तान की तीव्रता उनके लिये अधिक कष्टकर हो गई है। फिर भी वे इतने नुकीले तो हैं ही कि दर्द की मात्रा शेष है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य दोहे ऐसे हैं जिनमें 'मतिराम' सी ही तेजी का वर्णन है, जिनमें केवल भाव साम्य ही है, शब्द साम्य नहीं।[2]

बिहारी और राम सतसई

अधिकांश सतसईकार अपनी नायिका का चित्र उतारते ही रहे, किन्तु उसका चित्र नहीं उतार पाये। बिहारी तो इसलिये असमर्थ हो जाते हैं कि उनकी नायिका का सौन्दर्य निरन्तर बढ़ता रहता है जिससे चित्र अपूर्ण ही रह जाता है, रसनिधि करीब-करीब पूर्ण चित्र बना ले जाते हैं, किन्तु 'कटाछों' पर पहुँच कर उनकी भी कलम कट जाती है और 'राम सहाय' की भी असमर्थता कुछ कविवर बिहारी की सी है। 'राम सहाय' की नायिका

---

१. 'दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियें दई नई यह रीति॥' (बिहारी)
'उरझत दृग बधि जात मन कहो कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आइके देखी बड़ी अनीति॥
अद्भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आय।
जुरे कहूँ टूटे कहूँ कहूँ गाँठ परिजाय॥' (रसनिधि)
२. 'लाल तिहारे नैनसर, अचिरज करत अचूक।
बिन कंचुक छेदे करैं, छाती छेदि छटूक॥' (मतिराम)
'अब लग बेधत मन हते दृग अनियारे बान।
अब बंसी बेधन लगी सह सुरन सौं प्रान॥
चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराइ।
कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन आइ॥' (रसनिधि)

की बाँकी अदा के कारण चित्रकार चित्र नहीं बना पाता। स्वरूप को तो चित्रकार अपनी कला से कागज पर उतार सकता है, पर वह बाँकी अदा को किस प्रकार अंकित करेगा।[1]

मतिराम और राम सतसई

मतिराम की प्रौढ़ा धीरा अधीरा नायिका परस्त्रीगामी पति के प्रातःकाल लौटकर आने पर उसे अपना अंगस्पर्श नहीं करने देती और ज्योंही वह उसकी भुजाओं को पकड़ कर अपने आलिंगनपाश में लेना चाहता है, उसके नेत्र क्रोध के कारण लाल वर्ण के हो जाते हैं जिससे उसका 'मान' करना स्पष्ट हो जाता है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'राम' कवि की नायिका की भी है, वह पति के आँखों की लाली से ताड़ जाती है कि वह दूसरी स्त्री के साथ रात भर जगकर रति-क्रीड़ा करता रहा है, जिससे क्रोध में उसके भी नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं।[2]

रसनिधि और राम सतसई

बिहारी की नायिका के चित्र न बनने की बात रसनिधि और राम सहाय की सतसई में समान रूप से वर्णित है। इन तीनों कवियों ने इस प्रसंग की उद्भावना एक सी ही की है।

बिहारी और विक्रम सतसई

नायिका की एड़ी की लाली पर अतिशयोक्ति करते हुए बिहारी ने अपना प्रसिद्ध दोहा कहा है, जिस पर सहृदय साहित्यकार झूम पड़े हैं, जिससे मिलता जुलता दोहा विक्रम सतसईकार ने भी कहा है जिस पर बिहारी की स्पष्ट छाप है।[3]

मतिराम और विक्रम सतसई

'मतिराम' की यौवना प्राप्त नायिका प्रियतम को परदेश जाने के लिये तैयार देखकर आँखों से आँसुओं की झड़ी लगा देती है, जिससे वह नायक के मन में करुणा उत्पन्न

---

१. "लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
  भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥" (बिहारी)
  "चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
  कलम छुवत कर आंगुरी कटी कटाछन आइ॥" (रसनिधि)
  "सगरब गरब खीचैं सदा चतुर चितेरे आय।
  पर वाकी बाँकी अदा नेकु न खींचा जाय॥" (राम सहाय)

२. "आवत उठि आदर कियो, बोली बोल रसाल।
  बाँह गही नन्दलाल जब, भए बाल दृगलाल॥" (मतिराम)
  'कहुँ निसि मैं बसि भयन बस आये अपन उताल।
  लाल नयन ते बाल के लाल नयन लखि लाल॥' (राम सहाय)

३. 'पाइ महावरु दैन को नाइन बैठी आइ।
  फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ॥' (बिहारी)
  'सहज अरुन एड़ीनि की लाली लखे विसेखि।
  नायक हीये जकि रही नाइन पाइन पेखि॥' (विक्रम सतसई)

करने का सफल प्रयत्न करती जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त आँसू की झड़ी की बरसात से उपमा देकर कवि इसका भी संकेत कर देना चाहता है कि वर्षा-ऋतु विरहीजनों के लिये अत्यन्त कष्टकर है। जाने के पूर्व केवल भावी वियोग की आशंका से ही जब नायिका करुण बरसात हो गई है तो वास्तविक वियोग में उसकी कैसी अवस्था होगी। इसी प्रकार की कुछ रोक-थाम 'विक्रम सतसई' कार ने भी की है। यद्यपि उसकी नायिका वातावरण को करुणा-पूर्ण बनाती नहीं जान पड़ती, किन्तु फिर भी वह ऐसे सम्मोहक वातावरण की सृष्टि करती जान पड़ती है जिसमें नायक का जाना असम्भव हो जाय। वसन्त-ऋतु की मादकता प्रेमी-जनों के हृदय में मिलन की आकांक्षा में वृद्धि करती है, जिस वसन्तऋतु की सी सुषमा का विस्तार 'विक्रमसाहि' करते जान पड़ते हैं। ऐसा लोगों का विश्वास है कि 'हिंडोला' राग गाने से वसन्त ऋतु का आभास बिना ऋतु के भी हो जाता है और नायक को रोकने के लिये नायिका इसी अस्त्र का प्रयोग करती है। यद्यपि दोनों कवियों के वर्णन में साम्य नहीं है, किन्तु निश्चित रूप से परदेश जानेवाले पति को रोकनेवाला भाव दोनों कवियों में समान रूप से वर्तमान है।[1]

रसनिधि और विक्रम सतसई

चञ्चल नेत्रों की सुषमा शृंगारिक कवियों का प्रिय विषय रहा है, जिसकी उपमा प्रायः कवियों ने मृग से दी है, किन्तु बिहारी के मुहजोर 'तुरङ्ग' को 'रसनिधि' और 'विक्रम' ने 'मतङ्ग' कहा है। रसनिधि के मतवारे दृग-गजों का झोंका बेचारा प्रेमी अपने कोमल शरीर पर नहीं थाम पाता, तो 'विक्रम साहि' के 'मतङ्ग' मर्यादा की जंजीरें बराबर तोड़ते रहते हैं।[2]

राम और विक्रम सतसई

नायिका की लाल एड़ी का प्रसंग बिहारी, राम और विक्रम आदि तीनों ने उठाया है, किन्तु 'राम सहाय' ने उसे थोड़ा व्यापक बना दिया है जिससे वह केवल एड़ी के लिये ही न होकर उसकी छबीली छटा के लिये हो गया है, किन्तु सबका स्रोत बिहारी का प्रसिद्ध दोहा ही है जिससे परवर्ती सतसईकार प्रभावित हुए हैं।[3]

---

१. "प्राननाथ परदेश कौं चलिये समौ बिचारि।
स्याम नैन घन बाल के बरसन लागे वारि॥" (मतिराम)
"माँगी बिदा बिदेस कौ दै जराइ अनमोल।
बोली बोल न सुघर तिय दियो अलाप हिंडोल॥" (विक्रम सतसई)

२. "मतवारे दृग-गज कहूँ ऐसे दीजत झोल।
नेही-दृग-तन क्यों थकैं इनकी झोकैं जोर॥" २०३॥ (रसनिधि)
"तोरत कानि जंजीर हठ पल अंकुस न डरात।
लाज अगाड़ केहू न रुकत दृग मतङ्ग चल जात॥१९८॥ (विक्रम सतसई)

३. "छैल छबीली की छटा कहि महावरी संग।
जानि परे नाहन करौ जबहिं निचोरन रंग॥" (राम सहाय)

इसी प्रकार यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक मुक्तक की जाँच-पड़ताल की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक शृंगार सतसईकार ने या तो अपनी कविताओं के लिये भाव पूर्ववर्ती संस्कृत एवं अपभ्रंश काव्यों से लिये हैं या तो स्वयं एक दूसरे सतसईकार के भावों से परस्पर प्रभावित हैं। सूक्ति एवं उपदेश प्रधान सतसइयों की कोई एक निश्चित परम्परा नहीं स्वीकार की जा सकती है। इनमें आदर्श ग्रन्थ पूर्ववर्ती धार्मिक ग्रन्थ रहे जिसका उल्लेख किया जा चुका है। प्रायः इन लोगों की अन्य रचनाओं से दोहों को इकट्ठा करके सतसई का स्वरूप दे दिया गया, जैसा तुलसी सतसई से स्पष्ट है। तुलसी ने 'सतसई' की रचना की थी ? इस सम्बन्ध में विवाद है जिससे उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। शृंगारिक सतसइयों के अतिरिक्त भी सात सौ दोहों के संग्रह होते थे और उनको सतसई का नाम दिया भी गया, किन्तु उनमें केवल नाम छन्द और संख्या साम्य ही है। उन्हें परम्परा में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आजकल भी सतसइयाँ लिखी गई हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने 'नासई' और 'ग्यारहसई' का उल्लेख किया है जिसमें 'नौसई' तो प्रसिद्ध कवि देवकीनन्दन की कही जाती है।[1] जिन लोगों ने 'हजारा' लिखे उनके भी सात सौ दोहों को इकट्ठा करके 'सतसई' का रूप बाद में लोगों ने दे दिया जिससे सतसई परम्परा की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। रसनिधि की सतसई, सतसई सप्तक में जो संगृहीत है, इसी प्रकार की है।

महाकवि मतिराम के समकालीन कवि रहीम और विहारी

महाकवि मतिराम ने जिस समय अपनी रचना आरम्भ की, उस समय हिन्दी साहित्य में जिस किस्म की रचनायें हो रही थीं, उस पर मुसल्मानी संस्कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हिन्दी में कुछ अच्छे मुसल्मान कवि भी रचनायें कर रहे थे, उनमें मुख्यतः ऐसे हिन्दू थे जिनके परिवार वाले कुछ ही काल पहले मुसल्मान हुए थे, जिससे हिन्दी की शृंगारिक तथा प्रेम सम्बन्धी, जिनमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के रूपों का चित्रण होता था, इस प्रकार कविताओं के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति का अद्भुत रसायन तैयार हुआ। इस प्रकार की कविताओं में वाग्वैदग्ध्य का जो विशिष्ट गुण उत्पन्न हुआ, उसने आधुनिक युग के गम्भीर आलोचकों तक को मस्ती में झुमा दिया है। अब्दुल रहीम खानखाना ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न मुसल्मान कवि थे जिनके सम्पर्क में भक्त शिरोमणि महाकवि तुलसी से लेकर गंग और मतिराम आदि सहृदय कवि आये और उनकी कविताओं से कुछ न कुछ प्रभाव ग्रहण किया। रहीम के आधे से अधिक दोहे उपलब्ध नहीं होते, किन्तु जितने दोहे प्राप्त हो सके हैं, उनसे लगता है कि यदि सम्पूर्ण दोहे मिल जाते तो उसे सूक्ति अथवा उपदेश सतसईयों की श्रेणी में रखा जाता। इसके अतिरिक्त हिन्दी सतसई परम्परा में 'रहीम सतसई' सर्वप्रथम होती।

कविवर रहीम के समकालीन ही सैयद मुबारक अली बिलग्रामी भी थे, जिनका रचनाकाल 'रहीम' से थोड़े ही पीछे था। यद्यपि 'मुबारक' अली सतसई परम्परा में न आकर

१, बिहारी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० ७६।

'शतक' परम्परा में ही आते हैं और 'अलक शतक' तथा 'तिलशतक' दो ग्रन्थों की रचना उन्होंने 'शतक' नाम से ही की, किन्तु अपनी शृंगार सम्बन्धी कविताओं में उन्होंने उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का जो चमत्कार दिखाया उसका प्रभाव हिन्दी के परवर्ती मुक्तककार बिहारी आदि पर अवश्य पड़ा। 'ये संस्कृत, फारसी और अरबी के अच्छे पण्डित और हिन्दी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है ये केवल शृंगारिक कविता ही करते थे। इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक-एक अंग पर सौ-सौ दोहे बनाये थे।'[1]

जिस प्रकार की ऐहिकतापरक शृंगारी कविताओं की रचना सहृदय मुसलमान कवियों ने आरम्भ की, राधा-कृष्ण की आड़ लेकर हिन्दी शृंगारी कवियों ने उसका खूब अनुकरण किया। वर्णन उत्कर्ष को लेकर दूर तक जाने की जो सूझ इन कवियों द्वारा हिन्दी कविता में आई,[2] उसका सबसे कम प्रभाव कविवर मतिराम पर है, जिसके कारण ही रीति-बद्ध रचना करने पर भी वे सहृदय कवि पहले हैं और रीतिकार बाद में। उनकी कविता में उछलकूद के नहीं, बल्कि हृदय की स्वाभाविक सरस अनुभूतियों के दर्शन होते हैं, जिसका एक मात्र कारण है, उनका पूर्ववर्ती कवियों से अत्यधिक प्रभावित न होना। जहाँ कहीं भी इन्हें हिन्दी कविता में सरसता एवं सहृदयता की स्वाभाविक भूमि मिली है, वहाँ ही ये महाकवि लुभाकर कल्पना लोक से उतर पड़े हैं, यही कारण है कि भावसाम्य की दृष्टि से यदि इनकी कवितायें किसी के अत्यधिक निकट जाती हैं, तो कविवर रहीम के।

रहीम और मतिराम

महाकवि मतिराम का रचनाकाल रहीम की रचनाकाल के बाद का है। इन्होंने उस समय कविता करनी आरम्भ की जब 'रहीम' की कीर्ति फैल चुकी थी और तुलसीदास ऐसे महान कवि उनकी कविता का आदर करने लगे थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि मतिराम सम्भव है जहाँगीर के दरबार में रहीम से मिले हों। रहीम की कविता का जितना प्रभाव मतिराम पर पड़ा है, उतना अन्य किसी हिन्दी कवि पर नहीं पड़ा प्रतीत होता।[3] किन्तु रहीम के दोहों का उतना प्रभाव 'मतिराम' सतसई पर नहीं है जितना कि उनके बरवै आदि की 'रसराज' आदि मतिराम की अन्य रचनाओं पर रहीम के बरवै नायिका-भेद का क्रम एवं वर्णन वैसा ही है जैसा कि 'रसराज' में पाया जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों का अध्ययन करने से जान पड़ता है कि मतिराम ने अपनी रचना करने के पूर्व 'रहीम' का बरवै नायिका-भेद देखा अवश्य था, क्योंकि रसराज में जो

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००२ वि०, पृ० २२१।

२. 'चिबुक कूप में मन पर्यो छवि जल तृषा विचारि।
कढ़ति मुबारक ताहि तिय अलक डोरि-सी डारि॥
चिबुक कूप रसरी अलक, तिल सुचरस, दृग बैल।
बारी, बैस, सिंगार को, सींचत, मन मथ छैल॥ (मुबारक अली)

३. रहीम रत्नावली, मायाशंकर याज्ञिक, प्र० सं०, पृ० ५१।

उदाहरण नायिका-भेद के दिये गये हैं, उनमें से बहुतों के भाव रहीम के बरवै नायिका-भेद से लिये गये हैं। अनेक स्थलों पर तो दोनों कवियों को कविताओं में शब्द साम्य तक भी पाया जाता है।

रहीम ने 'प्रथम अनुसयना' की अवस्था का चित्रण किया है, जिसका भावानुवाद, मतिराम का चित्रण जान पड़ता है—

'ग्रीषम दहत दवरिया, कुंज कुटीर।
तिमि तिमि तकत तरुनहिं, बाढ़त पीर॥' (रहीम)
ग्रीषम ऋतु में देखि कै, बन में लगी दवारि।
एक अपूरब बात यह, जरत हिये बरनारि॥' (मतिराम)

इसमें सन्देह नहीं कि मतिराम के वर्णन में कलात्मकता अधिक है, किन्तु 'ग्रीषम दहत दवरिया' और 'ग्रीषम ऋतु में लगी दवारि' में शब्द और भाव साम्य दोनों उपस्थित हैं। रहीम की नायिका ग्रीष्मदाह से कुंजकुटीर को दहता देखकर पीड़ा की अधिकता का अनुभव करने लगती है जिसमें चमत्कार विशेष नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु मतिराम की नायिका में अनोखी बात यह है कि देखती है वह बन में लगी दावाग्नि को, परन्तु जलन का अनुभव अपने हृदय में करती है। इस असंगतिपूर्ण स्थिति को दिखलाकर कवि ने नायिका की जिस अवस्था का चित्रण, साहित्यिक कलात्मकता के माध्यम से किया है, उसकी रहीम की उक्ति से कोई तुलना ही नहीं है, फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रहीम कवि की सरस स्वाभाविक एवं अछूती अनुभूतियों की कदर 'मतिराम' ऐसे सहृदय कवि को भी करनी पड़ी है। इसी प्रकार की साम्यता के दर्शन हमें इन दोनों कवियों के द्वितीय अनुसयना, तृतीय अनुसयना, अन्य सम्भोगदुःखिता, प्रेमगर्विता, मुग्धा खंडिता, परकीया खंडिता, मुग्धा कलहांतरिता, मुग्धा विप्रलब्धा, मुग्धा उत्कंठा, अनुकूल नायक, मुग्धा अभिसारिका, परकीया प्रवत्स्यतिपतिका, परकीया आगतपतिका तथा परिहास आदि के उदाहरणों में दिखलाई पड़ता है।

जैसा मैंने ऊपर संकेत किया है कि रहीम के अधिकांश दोहे अन्योक्ति, सूक्ति एवं उपदेश प्रधान हैं, जिससे वे मतिराम सतसई को नहीं प्रभावित कर सके हैं, किन्तु बरवों का प्रभाव उनकी सतसई पर स्पष्ट रूप से विद्यमान है। आँखमिचौनी का खेल दोनों कवियों को पसन्द आया है—

"खेलत जानेसि टोलिया, नन्दकिशोर।
छुइ वृषभान कुमरिया, भेगा चोर॥" (रहीम)
"छुवत परस्पर हेर कै, राधा नन्दकिशोर।
सबमें वेई होत हैं, चोरमिहचनी चोर॥" (मतिराम)

रहीम की राधा को आँखमिचौनी में 'कृष्ण' छूकर स्वयं चोर इसलिये बन जाते हैं कि उन्हें एकान्त मिलन का आनन्द मिल सके। आँखमिचौनी खेल में जो चोर होता है वह अन्य खिलाड़ियों में से जिस किसी को सबसे पहले छू देता है वही चोर बन जाता है और दूसरों को चोर बनाने का प्रयत्न करता है। चोर के छू जाने के भय से सभी खिलाड़ी जब

छिपने के लिए आड़ ले लेते हैं तो एक प्रकार की आवाज के साथ चोर के आँख में बँधी पट्टी खोल देने की व्यवस्था है जिस कार्य को वह स्वयं करता है और वह छिपे हुए खिलाड़ियों को ढूँढ़ता है। इस खेल में प्रेमी-प्रेमिकाओं को लोगों की आँख बचाकर मिलने की पूर्ण सुविधा रहती है जिससे लाभान्वित होने के लिये राधा को छूकर कृष्ण ने चोर बनना स्वीकार किया। रहीम का प्रयत्न एक ओर से ही है, किन्तु मतिराम का दोनों ओर से। नायक-नायिका के हृदयों में धड़कन समान रूप से है। खेल का केवल उपक्रम ही है, क्योंकि राधा-कृष्ण ही एक दूसरे को परस्पर छूकर चोर बनते हैं और एकान्त मिलन का रस लूटते हैं।

दोनों की नायिकायें पराये पुरुष के प्रेम का आनन्द उठाने की सुविधा प्राप्त करने में समान रूप से कुशल हैं—

"बाहर लै कै दियवा बारन जाय।
सास ननद घर पहुँचत, देत बुझाय॥" (रहीम)
बार-बार वा गेहसों बारि-बारि लै जाति।
काहे ते बिन बात ही, बाती आजु बुझाति॥" (मतिराम)

रहीम के ही भाव मतिराम की कला की निखार पाकर चमक उठे हैं। जिस बात को रहीम ने सीधे-सादे ढंग से कह दी है, उसी को मतिराम ने अत्यन्त अनुप्रासिक ढंग से कहा है। इसके अतिरिक्त मतिराम की नायिका रहीम की नायिका से कहीं अधिक चतुरा है और वाचाल भी। रहीम की नायिका अपने प्रेमी के घर से जलाकर ले जाती हुई अपने घर तक पहुँचते ही दिया बुझा देती है, जिससे कि उसे जलाने के लिये बार-बार उसके घर जाने का अवसर मिले, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं है कि उसकी चतुरता का भेद सास-ननद पर खुल सकता है। मतिराम की नायिका इस सम्भावना से पूर्ण अवगत है, उसे इसका ज्ञान है कि हवा के अभाव में ही जो उसका दिया बार-बार बुझ रहा है इसका भेद घरवालों पर खुले बगैर नहीं रह सकता, जिससे वह वाचाल होकर सम्भावना को स्वयं प्रकट कर देती है कि न जाने क्यों हवा के न रहने पर भी मेरा दिया बार-बार बुझ जा रहा है जिससे मुझे बार-बार दौड़ना पड़ रहा है। किसी बात को छिपाने का उत्तम ढंग दूसरों के कहने के पूर्व स्वयं उसका कह देना होता है, मतिराम का यह मार्मिक ढंग रहीम में ढूँढना व्यर्थ है, किन्तु जहाँ तक उनके कोरे भावों तथा अछूती उक्तियों का सम्बन्ध है, मतिराम को उसका ऋणी होना ही पड़ेगा। इस प्रकार के एक नहीं अनेक दोहे मतिराम सतसई से उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन पर रहीम की रचनाओं का प्रभाव है।

उपरोक्त भावसाम्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि रहीम की कविताओं का मतिराम ने अनुकरण किया है अथवा उनके ही प्रोत्साहन एवं आश्रय में इन्होंने कविता आरम्भ की जैसा कुछ विद्वानों का मत है।[1] मतिराम का रचनाकाल रहीम का

१. जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में 'फूलमंजरी' की रचना करनेवाले मतिराम कुछ समय के लिये रहीम के समकालीन अवश्य थे और जब दोनों का जहाँगीर के दरबार का

जीवनकाल हो सकता है, किन्तु उनका वैभवकाल नहीं। सम्राट अकबर की मृत्यु के बाद रहीम का सम्मान धीरे-धीरे मुगल दरबार में कम होने लगा था। जहाँगीर और रहीम खान-खाना में कम पटती थी जिससे अवस्था यहाँ तक पहुँची कि उन्होंने एक युद्ध में दुश्मनों का साथ दिया और उसके लिये उन्हें सम्राट जहाँगीर का कोप भाजन बनना पड़ा। उनकी सारी जागीर छिन गई और कवियों को लाखों रुपये दान देनेवाले दानी रहीम 'मधुकरी' के महँगे हो गये थे।[1] यह घटना उस समय की है जब कि जहाँगीर को सिंहासन पर बैठे सत्रह वर्ष पूरे हो चुके थे और वह अठारहवीं जुलूसी वर्ष मनाने जा रहा था।[2] इसका संकेत पूर्व में ही किया जा चुका है कि महाकवि मतिराम ने अपना काव्य जीवन सम्राट जहाँगीर के सोलहवें जुलूसी वर्ष में या उसके बाद ही आसपास के किसी साल में 'फूलमंजरी' से आरम्भ किया था। ऐसी स्थिति में उनकी रहीम से भेंट सोलहवें जुलूसी वर्ष के आसपास आगरे या दिल्ली हो सकती है, किन्तु मतिराम का अन्य किसी प्रकार का उनका आश्रय ग्रहण करना संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके दो एक वर्ष के बाद ही रहीम दर-दर की खाक छानने लगे और उनकी स्थिति पूर्व की सी नहीं रह सकी। रहीम की कविताओं में मार्मिकता है तथा उसके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। 'जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिए कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के लिये पर्याप्त रूप पा जाता है। उनकी कवितायें उनकी जीवन्त अनुभूतियाँ हैं। कविवर मतिराम भी हृदय के सच्चे भावों के मस्त गायक थे। इनकी रचनाओं में 'न कहीं भी कोई ठूँस-ठाँस है, न दूर की कौड़ी लाने का कोई प्रयास है।[3]' इन दोनों कवियों की कविताओं में भाव साम्य का कारण उनकी समान प्रवृत्तियों का होना है। रहीम का कवि

संबंध भी था, तो परस्पर परिचय अवश्य हुआ होगा। केशव, गंग, मंडन आदि प्रसिद्ध अगणित कवियों की तरह मतिराम को भी काव्य प्रेमी रहीम के यहाँ आश्रय मिला हो तो क्या संदेह हो सकता है? यह अनुमान करना असंगत नहीं हो सकता कि रहीम ने ही मतिराम को काव्यरचना के लिये अवश्य ही प्रोत्साहित किया होगा।
(रहीम रत्नावली, मायाशंकर याज्ञिक, प्र० सं०, पृ० ५८)

१. 'ये रहीम दर दर फिरैं, माँग मधुकरी खाँहिं।
यारो यारी छोड़िये, वे रहीम अब नाहिं॥' (रहीम)

२. "यह समाचार पाकर उनके साहस का स्तंभ हिल गया और बेरमबेग रुक नहीं रह सका और न इन्हें भगाने का साहस कर सका। जब तक इस घबराहट में पड़ा रहा तब तक बहुत से लोग नदी पार कर गये और उसी रात्रि में अभागे विद्रोहीगण एक दूसरे से अलग होकर भाग खड़े हुए। शाही सौभाग्य से खानखाना विचार में पड़ गया। ....सेवा में चला आया।"—जहाँगीरनामा, अनु० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ७९९,८००

३. हिन्दी साहित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३३५।

मतिराम के कवि के जो निकट आ गया है उसका एकमात्र कारण दोनों की साधना भूमि एवं चिन्तन पद्धति का एक होना है।

मतिराम और बिहारी

कला की दृष्टि से मतिराम सतसई में संगृहीत दोहों की स्पष्ट दो कोटियाँ हैं। एक कोटि में मतिराम के वे दोहे रखे जा सकते हैं जो काव्यकला की दृष्टि से पूर्णतः खरे उतरते हैं और दूसरी कोटि में उनके वे दोहे आते हैं जिनमें मार्मिकता एवं हृदय की सच्ची और स्वाभाविक अनुभूतियाँ तो व्यक्त हुई हैं, किन्तु कलात्मकता उतनी नहीं है, जितनी प्रथम कोटि के दोहों में पायी जाती है। प्रथम कोटि के अधिकांश दोहे जिनकी संख्या दो सौ से भी अधिक है मतिराम की अन्य प्रौढ़ रचनाओं 'रसराज' और 'ललितललाम' में संगृहीत हैं। 'रसराज' की रचना संवत् १६९० के पूर्व हो चुकी थी और लगभग दो सौ सतसई में पाये जाने वाले दोहे अकेले रसराज में ही पाये जाते हैं, ऐसी स्थिति में इनकी रचना कविवर बिहारी के रचनाकाल के पूर्व हो चुकी थी। कवि की आरम्भिक रचनाओं में भावुकता, उमंग, सरसता एवं प्रवाह आदि यौवन की उमंग के कारण बाद की रचनाओं से अधिक भले हो, किन्तु काव्यकला सम्बन्धी पटुता बाद की रचनओं में पूर्व की अपेक्षा अधिक आ पाती है, क्योंकि यह मुख्यतः हृदय की नहीं बल्कि अभ्यास की वस्तु है। यहाँ पहुँचकर यौवन की बाढ़ का भावजल कुछ-कुछ स्थिर होने लगा जाता है, जिससे काव्यकला-तट के निर्माण में कवि को सुविधा रहती है।

मतिराम के प्रथम कोटि में आनेवाले दोहों को यदि पहले की और दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं को बाद की रचना मान लें तो किसी भी प्रकार संगति नहीं बैठती। दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं की किसी प्रकार से प्रथम कोटि की रचनाओं के साथ तुलना नहीं की जा सकती। वे काव्यकला तथा भाव प्रत्येक दृष्टि से प्रथम कोटि की रचनाओं से घट कर हैं, इसमें सन्देह नहीं। मतिराम सतसई का यह दोहा—

'प्रान पियारो पग पर्‌यो तू न लखति यहि ओर,।
ऐसो उरखु कठोर, तौ उचितै उरखु कठोर॥'

'रसराज' में बिब्बोक-हाव और 'ललितललाम' में द्वितीय सम के उदाहरण रूप में उल्लिखित है—

"नवल बधू के संग में अहितौ बात हिताति।
ता सांसनि के लगे छाती अति सियराति॥"

यह दोहा केवल मतिराम सतसई में ही पाया जाता है, जिनके तुलानात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर उपरोक्त कथन की पुष्टि हो सकती है। प्रथम दोहे में नायक मानिनी नायिका को प्रसन्न करने के लिये अपने स्वाभिमान की कुछ भी परवाह किये बिना ही उसके पैरों पर पड़कर मना रहा है, किन्तु कवि ने नायिका का इतने पर भी रुठी रहना दिखाकर अर्थात् अभिमानी नायिका द्वारा नायक का अपमान करा के बिब्बोक-हाव की अनुपम सृष्टि की है। इसके अतिरिक्त दोहे के दूसरे चरण में नायिका के हृदय की कठोरता

प्रकट करके कि प्रिय के पैरों पर पड़ने पर भी उसका हृदय नहीं पसीज रहा है, कवि ने नायिका के कठोर कुचों का औचित्य दिखलाकर द्वितीय समालंकार का दोहे में सफल प्रयोग किया है। इससे कवि की मार्मिक सूझ, सुन्दर रस विधान तथा सफल अलंकार प्रयोग की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु दूसरे दोहों में ऐसी प्रौढ़ता का परिचय नहीं मिलता। उसमें सीधे-सादे ढंग से नवोढ़ा नायिका की उष्ण-मादक स्वासों के सुखकर प्रभावों की व्यञ्जना अत्यन्त छिछले ढंग से की है जिससे कवि की स्वस्थ रुचि का कोई परिचय नहीं मिल पाता। इसी प्रकार से और भी ऐसे दोहों को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनमें इनसे भी अधिक अन्तर मिलता है। ऐसी स्थिति में कहना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि सतसई के अन्य दोहे जो उनकी अन्य किसी रचना में नहीं पाये जाते, उस समय की रचनायें हैं जब कि उनके 'रसराज और ललितललाम' ऐसे प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। निश्चित ही अधिकांश वे दोहे जो भाव, भाषा एवं कला की दृष्टि से रसराज और ललितललाम में आये हुए दोहों से घट कर हैं, प्रथम कोटि की रचनाओं के पूर्व की रचनायें हैं।

मतिराम के दोहों को सतसई का रूप चाहे जब कभी दिया गया हो किन्तु उसके अधिकांश दोहों की रचना संवत् १९६० के पूर्व हो चुकी थी जिसके बाद बिहारी सतसई के दोहों की रचना आरम्भ हुई।

जिस मुसल्मानी संस्कृति और काव्य में वाग्वैदग्ध्य का संकेत हम ऊपर कर आये हैं, उसका सबसे अधिक प्रभाव बिहारी सतसई के दोहों पर है। उक्ति-वैचित्र्य के कारण बिहारी सतसई के जिन दोहों की धूम सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में मची उनकी संख्या दो सौ से कम की ही है, अधिक नहीं। 'वस्तुतः मतिराम बिहारी के समान उक्तिवैचित्र्य के उतने अच्छे कवि नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक सरल और सहज भाव से हृदयानुराग को व्यक्त करने का प्रश्न है मतिराम बहुत ही मर्मस्पर्शी कवि हैं। इनकी उक्तियों में परम्परा का वैसा बोझ नहीं है और इसीलिये उनमें 'शोभा' के भार से 'सूधो पांय' धर न सकने की आशंका बहुत अधिक नहीं है। रीतिकाल के बहुत थोड़े कवियों के साथ मतिराम का नाम लिया जा सकता है। भाषा का ऐसा सहज प्रसन्न प्रवाह दुर्लभ है।'[1] इसमें दो मत हो नहीं सकते कि मुक्तक काव्य के क्षेत्र में इतना कम लिखकर भी जितना यश और कीर्ति बिहारी को मिली उतनी मध्यकाल के किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं, जिसके कई कारण हैं।

बिहारी सतसई का एक राजाश्रय में लिखा जाना तथा उसके साथ एक ऐतिहासिक घटना का जुट जाना उसके मान-सम्मान के मुख्य कारणों में प्रधान कारण है। 'शृंगार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान बिहारी सतसई का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकायें रची गईं। इन टीकाओं में चार-पाँच टीकायें तो बहुत प्रसिद्ध हैं।'[2] उक्ति-वैचित्र्य के अद्भुत चमत्कार के कारण बिहारी के दोहों में सहसा पाठक

१. हिन्दी साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३३५।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ वि०, पृ० २७६।

या श्रोता को चमत्कृत कर देने की जो शक्ति वर्तमान है, उससे ही वे असंख्य साहित्य मर्मज्ञों के कंठहार बन पाये हैं। इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण बिहारी सबसे अधिक प्रसिद्ध हो सके हैं।

बिहारी सतसई के दोहे बुद्धि को जितना प्रभावित करते हैं, उतना हृदय को नहीं और हृदय को प्रभावित करने की जितनी शक्ति मतिराम सतसई के दोहों में है उतनी मध्यकालीन हिन्दी कवियों की कविता में नहीं, फिर भी दुर्भाग्य था कि इसे उतनी ख्याति नहीं मिल सकी जितनी कि बिहारी सतसई को मिली। इस दुर्भाग्य के एक नहीं अनेक कारण हैं। सर्व प्रमुख कारण तो यह है कि मतिराम सतसई के उत्तमोत्तम दोहे रसराज की अनुपम सुषमा में खो गये जो कि सतसई के हृदय कहे जा सकते हैं। रसराज के छन्दों की मार्मिक अभिव्यक्ति तथा काव्य गाम्भीर्य की तुलना में सतसई के दोहे अत्यन्त हलके पड़ गये जिससे उनके सामने इन दोहों को भूल जाना साहित्य मर्मज्ञों के लिये स्वाभाविक ही था। जब कभी भी मतिराम के काव्य की दाद साहित्यिकों द्वारा दी गई तो इन दोहों को 'रसराज' तथा 'ललितललाम' का अंग मानकर उपेक्षा की गई। इस साहित्यिक उपेक्षा को सतसई के दोहों का अपमान नहीं बल्कि 'रसराज' तथा 'ललितललाम' आदि रचनाओं का सम्मान ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उक्तिवैचित्र्य के अभाव एवं उछल कूद से विरत गाम्भीर्य होने के कारण उन्हें जादू की वह छड़ी नहीं मिल सकी जो बिहारी के दोहों को मिली थी। जितनी टीकायें आदि हुई वे 'ललितललाम' आदि की ही, जिनमें दोहों की टीका उनके साथ ही हो सकी और इस प्रकार बिहारी सतसई की सी टीका बहुला होने का भी सौभाग्य मतिराम सतसई को न मिल सका। जिस मुसल्मानी संस्कृति का संगम हिन्दू संस्कृति से हुआ था और जो हिन्दी कविता में नवीन जीवन फूँक रही थी उसका सबसे कम प्रभाव मतिराम की कविताओं पर पड़ा है। जिससे वे हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का लोकजीवन के साथ संगम करा रहे थे। वे बिहारी के 'नागर नैन' के शिकार की अपेक्षा गंवारि के दृगधनुही के तीर अधिक पसंद करते थे।[1] तत्कालीन हिन्दी कविताओं का प्रचार दरबारों के ही माध्यम से हो रहा था जिससे मतिराम सतसई के दोहे अपने कूद-फांद के अभाव में उस सुविधा से वंचित रहे। इस ग्रन्थ के बाद में प्रकाश पाने के कारण जो एक प्रकार की बात चल पड़ी कि उसकी रचना 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर हुई है, उसने इसकी ख्याति को सबसे अधिक चोट दी है। इन्हीं कारणों से बहुत से लोग मतिराम सतसई में बिहारी के दोहों की छाप ढूँढ़ते हैं।

मतिराम की कृतियों से बिहारी का प्रभावित होना सम्भव है, किन्तु मतिराम का बिहारी से प्रभावित होना सम्भव नहीं। जिन लोगों ने यह स्वीकार किया है कि बिहारी के अनुकरण पर मतिराम सतसई की रचना हुई, उन्हीं लोगों ने यह भी स्वीकार किया है कि

---

१. "खेलन सिखए अलि भलें चतुर अहेरी मार।
कानचारी नैन-मृग नागर-नरनि सिकार॥" (बिहारी)
नागरि नैन-कमान-सर करत न ऐसी पीर।
जैसे करत गंवारि के दृग-भनुही के तीर॥" (मतिराम)

रीति मुक्त होते हुए भी विहारी के दोहों में से नायिका-भेद के उत्तमोत्तम उदाहरण छाँटे जा सकते हैं। हिन्दी नायिकाभेद परम्परा में जिस कवि का अनुकरण अधिक हुआ वे हैं मतिराम, जिनका एक मात्र नायिका-भेद ग्रन्थ 'रसराज' विहारी सतसई की रचना होने के पूर्व लिखा ही नहीं जा चुका था, पूर्ण प्रसिद्धि भी पा चुका था। ऐसी स्थिति में अधिक सम्भावना है कि विहारी के जिन दोहों पर नायिकाभेद की छाप है वे 'रसराज' से प्रभावित हों। परन्तु जहाँ तक सतसइयों का सम्बन्ध है, बात तो वस्तुतः यह है कि दोनों के प्रेरणास्रोत एक रहे, दोनों में से किसी एक ने भी दूसरे का प्रभाव ग्रहण नहीं किया है। दोनों ही महान यशस्वी कवि थे और दोनों का ही राजदरबारों में सम्मान था, ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि एक दूसरे के प्रभाव से बचने का प्रयत्न करता। इस प्रकार की कविताओं का सम्मान लोक की जनता में नहीं, बल्कि नगरों और राजदरबारों में ही था और प्रचार की न तो अधिक सुविधायें थीं और न तो मुद्रण की व्यवस्था ही थी तथा इन दोनों कवियों के रचना काल में जितना अन्तर है उसके बीच दोनों सतसईकार एक दूसरे के दोहों से परिचित हो सके होंगे, हमें सन्देह है।

भावसाम्य को दिखलाने के लिये तथा विहारी का प्रभाव दिखलाने के लिये जैसे तर्क उपस्थित किये गये हैं उनसे तो मतिराम की अपेक्षा विहारी ही अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। स्वरूप निर्माण के पश्चात् शृंगार होता है न कि शृंगार के पश्चात् स्वरूप निर्माण। मतिराम के दोहे काव्य के वे स्वरूप तथा साधना की वह आधार भूमि हैं जिनका कविवर विहारी ने शृङ्गार किया तथा उन पर उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार दिखलाया है। जैसे—

"होत दस गुनों अंक है, दियें एक ज्यों बिन्दु।
दिये दिठौना यौं बढ़ी आनन आभा इन्दु॥" (मतिराम सतसई)
"कहत सबै बेंदी दिये आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दियें अगनित बढ़त उदोत॥"

निश्चित ही विहारी का दोहा मतिराम के दोहे से अधिक प्रौढ़ है। यदि विहारी का दोहा मतिराम के सामने होता तो वे कदापि शिथिल अतिशयोक्ति न करते जब कि दोनों दोहों का मुख्य लक्ष्य शोभाधिक्य का वर्णन करना है। 'अगनित,' दस गुनों से अवश्य ही अधिक है, इसका अनुभव विहारी कर सके हैं और जब उन्हें सीमा स्वीकार न हुई तो उन्होंने उसे बढ़ाकर असीम कर दिया। इसी प्रकार अनेक दोहों को सामने रख कर देख सकते हैं।

जिन विद्वानों का यह कहना है कि विहारीलाल के दोहे हिन्दी साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते, वह वहीं तक सत्य है जहाँ तक उक्ति वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य का सम्बन्ध है, पर जहाँ तक मर्मस्पर्शिता, स्वाभाविकता तथा सरसता का प्रश्न है मतिराम के दोहों की किसी से कोई तुलना ही नहीं है। सरसता एवं मिठास के लिये मतिराम हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। काव्य की भाषा में यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि मतिराम का काव्य यदि विशाल राजमहल है तो विहारी का काव्य सजा-सजाया बंगला, मतिराम का काव्य प्रकृति सुषमा से युक्त विशाल मनोरम कानन है तो विहारी का काव्य कलमी पौधों से सजा

सुन्दर उपवन और मतिराम की कविता यदि सुषमा युक्त कमल है तो बिहारी की कविता कलमी गुलाब जिसमें कलाकार की बुद्धि लगी है। मतिराम की दृष्टि बिहारी की अपेक्षा सजीवता पर अधिक रही और बिहारी की कलात्मकता पर। मतिराम के काव्य का सौंदर्य 'ज्यों-ज्यों निहारने वाला' है तो बिहारी का चकाचौंध कर देने वाला जिससे हलके-फुलके मन को बिहारी मतिराम की अपेक्षा शीघ्र चमत्कृत करते जान पड़ते हैं।

मतिराम सतसई की व्यापकता

हिन्दी सतसइयों में जितने प्रकार के विषयों को वर्णन के लिये अपनाया गया है, उन सभी विषयों पर कहे गये अनूठे दोहे मतिराम सतसई में संगृहीत हैं। विषय की व्यापकता की दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी सतसइयों में जितने विषय मिलाकर मिलेंगे उतने अकेले इम मतिराम सतसई में प्राप्त कर सकते हैं। रीतिमुक्त, रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध आदि गुणों की प्रामाणिकता दिखलाने के लिये 'मतिराम सतसई' अकेली पर्याप्त है। सरस, स्वाभाविक एवं मनोहर अलंकारिक छटाओं के साथ उनके दोहे सतसईकार का गौरव वर्द्धन करते जान पड़ते हैं। सतसई के दोहों को नागरी नागर चित्रण, गँवारि चित्रण, भक्ति परक, राजनीति सम्बन्धी, सामाजिक स्वकीया परक, परकीया चित्रण, विरह प्रधान, संयोग शृंगार, मानिनी, विपरीत रति सम्बन्धी, वात्सल्य प्रधान, नीतिपरक तथा प्रकृत सम्बन्धी श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रमाण के लिये प्रत्येक का एक-एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर।
जैसें करत गँवारि के दृग-धनुहीं के तीर॥ ५॥

लगनि लगे लोचन लखे जासों मोहन लाल।
करि सनेह तानाल सों सिखे सकल ब्रज लाल॥ १५॥

तन रोचित रोचन लहे, रंचन कंचन गोतु।
पिया पिया बासो दिया, छिया छिया जग होतु॥ ६॥

गुन ओगुन को तनकहु प्रभु नहिं करत विचार।
केतक कुसुमन आदरत हर सिर धरत कपार॥ ४३॥

ज्यों-ज्यो परसे लाल तन, त्यों-त्यों राखति गोई।
नवल बधू लाजन ललित इंदु बधू-सी होइ॥ २६॥

नैन बिसारे बान सों चली बटाउइ मारि।
बचन सुधा रस सींचिकै वाहि जीव दै नारि॥ ३०॥

सुलति है वह सुन्दरी कनक-बेलि अभिराम।
वाकी तपनि मिटै, लु रस बरसो घन घनस्याम॥ २८॥

हियो हिये सो मिलि चल्यो, नैन चले मिलि नैन।
इते उते मारी फिरै, लाज कहूँ ठहरै न॥ ६२॥

मान जनावति सबनि कौं, मन न मान को ठाट ।
बाल मनावन कौं लखै, लाल तिहारी बाट ॥१००॥

मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग ।
सुन्दरि रति बिपरीति में, प्रगट कियो अनुराग ॥ ५९ ॥

अवगुन बरनि उराहनौ ज्यौं ज्यौं ग्वालिनि देहि ।
त्यौं त्यौं हरि तन हेरि हँसि हरषति महरिहि येहि ॥ १४ ॥

कोटि कोटि मतिराम कहि, जतन करो सब कोइ ।
फाटे मन अरु दूध मैं, नेह न कबहूँ होइ ॥ ७० ॥

जहाँ तहाँ रितुराज में, फूले किंशुक जाल ।
मानहु मान मतंग के, अंकुष लोहू लाल ॥ ९६ ॥

(मतिराम सतसई)

अष्टम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मतिराम का स्थान

मध्यकालीन हिन्दी कविता

हिन्दी का यह काव्यकाल हिन्दी कविता का विकासकाल नहीं, बल्कि काव्यकाल का विकासकाल है। पूर्ववर्ती कवियों ने अपनी सुन्दर-सुन्दर रचनाओं से हिन्दी साहित्य के भण्डार को भर दिया था जिसे सजाना शेष रह गया था। जिससे इस समय के कवियों के सामने हिन्दी कविता की विस्तृत भूमि प्रस्तुत थी, जिस पर आसन लगा उन लोगों ने कला की साधना की। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के बीच हिन्दी कवि की ऐसी स्थिति बन गयी थी कि अपनी कविता में चमत्कार एवं कला उत्पन्न करने के लिए समृद्ध संस्कृत साहित्य के पूर्ववर्ती कवि एवं आचार्यों की ओर तो वह देख लेता था किन्तु वर्तमान को छोड़कर भविष्य की ओर झांकने की उसे फुरसत नहीं थी। इस काल में भी भक्ति प्रधान तथा वीरतापूर्ण उक्तियों की सृष्टि हुई, किन्तु उनका स्थान अत्यन्त गौण रहा। शृंगार रस इसकाल के कवियों का सर्वप्रिय विषय रहा। इन कवियों द्वारा संस्कृत साहित्य के शृंगार प्रधान शास्त्रीय ग्रन्थों को आदर्श मान लेने के कारण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में संस्कृत रीति साहित्य की नवीन उद्धरणी हो गई, जिससे इस काल में काव्य-लक्षण, भाव-भेद, रस-भेद, नायिका-भेद, नख-शिख, षट्ऋतु, ध्वनि, अलंकार, पिंगल और काव्य के गुण-दोष आदि सम्पूर्ण काव्यांगों पर सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की गई। जो शृंगार रस इस काल में अत्यन्त लोकप्रिय रहा, उसको लक्ष्य करके लिखी जानेवाली कविताओं अथवा शृंगार-साहित्य की दो प्रमुख धारायें रहीं जिन्हें 'रीतिमुक्त' और 'रीतिबद्ध' नाम दिया जा सकता है।

रीतिमुक्त और रीतिबद्ध काव्य के अतिरिक्त हिन्दी काव्य की एक तीसरी श्रेणी भी थी, जिसकी रचना ऐसे कवियों द्वारा हो रही थी, 'जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी, अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही कीं, पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनायें रची हैं। ये वस्तुतः मध्यमार्गी थे। रीति से बँधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। यद्यपि जो लोग रीति ग्रन्थ लिखते थे, वे भी अपनी उक्तियों के प्रदर्शनार्थ ही रीति का सहारा लेते थे, तथापि वे लक्षण से बाहर नहीं जा सकते थे, जो कुछ कहना होता था, उसीके भीतर कहते थे। पर जो रीति से केवल सहारे का काम लेते थे, वे अपनी स्वतंत्र सत्ता भी चाहते थे।'[1] ये रीति सिद्ध कवि रीति-ग्रन्थ लिखनेवाले कवियों की अपेक्षा अपनी कविताओं में व्यक्तिगत विशेषताओं का स्फुरण अधिक कर सके हैं

---

१. बिहारी—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० ५८।

और उनकी वैयक्तिक जीवन्त अनुभूतियों के सम्पर्क में आकर हिन्दी कविता अपने पूर्ण वैभव में चमक उठी है।

रीतिमुक्त, रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध शैली पर जिस शृंगार-साहित्य की रचना हो रही थी, उसके भी संयोग और विप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार दो प्रमुख रूप थे। इन दो प्रमुख काव्य रूपों के लिये जो प्रधान विषय इस काल के कवियों द्वारा चुना गया, उसके भी पारलौकिक और लौकिक दो मुख्य रूप हैं, किन्तु मध्यकालीन हिन्दी कविता में लिया गया पारलौकिक तत्व भक्त कवियों के पारलौकिक तत्व से नितान्त भिन्न था, जिसपर लौकिकता एवं ऐहिकता की छाप स्पष्ट है। इन कवियों के राधा-कृष्ण, सूर, नन्ददास आदि कवियों को रसमग्न कर देने वाले आराध्य नहीं, बल्कि 'सुमिरन को बहानो' थे। कुछ कवियों की कवितायें तो अत्यंत छिछले स्तर तक उतर आई हैं, जिससे उस काल की अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। किन्तु इस काल के सभी ऐसे कवि नहीं थे, जिन्होंने सामाजिक कुरुचियों का ही प्रकाशन किया है, बल्कि 'मतिराम' ऐसे कवि भी मिल जाते हैं, जिनकी कविताओं में स्वस्थ लोकजीवन से ओतप्रोत रसस्निग्ध हृदयहारी भावों को स्थान मिला है।

अधिकांश कवियों की रचनाभूमि मुसलमानी एवं भारतीय राजाओं के दरबार होने के कारण उनकी रचनायें शृंगारिक अवश्य हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य प्रकार की कवितायें हुई ही नहीं। भक्तिपरक, सूक्ति एवं नीति प्रधान, प्रकृतचित्रण तथा वीररसपूर्ण आदि विभिन्न प्रकार की प्रौढ़ रचनायें भी इस काल में हुई हैं, भले ही वे संख्या में प्रेमपरक कविताओं से कम हों। महाकवि मतिराम की प्रतिभा काव्य क्षेत्र में सीमा जानती ही नहीं। शृंगार प्रधान कवि होने पर भी उनकी कविताओं में मध्ययुगीन सभी प्रकार की कविताओं के सुन्दर नमूने भरे पड़े हैं। मतिराम मध्यकाल में सबसे अधिक सहृदय, सर्वज्ञ, सरस एवं सजग कवि एवं कलाकार थे। उनके व्यक्तित्व में कवि एवं आचार्यत्व का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ था।

इसकाल की रीतिपरक कविताओं को काव्य विषयक मान्यताओं की दृष्टि से रस और अलंकार दो सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें अनुपम काव्य कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। मध्ययुगीन रीति सम्बन्धी कविताओं की सन्तुलित एवं सहृदयपूर्ण व्याख्या अभी बहुत कम हुई है। जितनी व्याख्यायें प्राप्त हैं, अधिकांश एकाँगी हैं। कुछ विद्वानों ने खीझकर उसे नितान्त हेय, पतनोन्मुख तथा घृणा का भाव जगानेवाला काव्य घोषित कर दिया है। इसके अन्दर अश्लीलता, प्रेरणाहीनता, आश्रयदाता की प्रशंसा करनेवाला, चमत्कार प्रियता तथा रूढ़िवादिता आदि दोषों को ही जो ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है, उससे इसकी काव्यगत अन्य विशेषतायें सामने नहीं आ सकी हैं, जो रहीम, मतिराम, रसखान तथा पद्माकर आदि सहृदय कवियों की कविताओं में विद्यमान हैं।

महाकवि मतिराम की काव्य प्रतिभा और उसके प्रेरणा श्रोत

आरम्भ में भारतीय कवियों की दृष्टि लौकिक की अपेक्षा पारलौकिक अधिक रही, जिससे कलाकारों ने अपनी रचनाओं में वर्तमान जीवन की अपेक्षा मृत्यु के बाद आनेवाले जीवन को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि हमें आरम्भिक कृतियों में लौकिकता,

पारलौकिकता और धर्म तथा साहित्य आदि का अद्भुत संमिश्रण मिलता है। स्वस्थ लौकिक साहित्य का आरम्भ भारतवर्ष में सर्वप्रथम 'हाल' की सतसई से ही दिखलाई पड़ता है, जिसमें पहले पहल ऐसे भावों के दर्शन होते हैं, जिनका परलोक से कोई सम्बन्ध नहीं। काव्य रूप में स्पष्ट अन्तर उपस्थित होने के भी लक्षण यहाँ तक आकर अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं। 'हाल सतसई' में लौकिकभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये रूपकों, एवं प्रबन्ध छन्दों का सहारा नहीं लिया गया, बल्कि उनके लिये स्फुट छन्दों, जिन्हें मुक्तक कहते हैं को ही उपयुक्त समझा गया जो पूर्ण कलात्मकता के साथ जनसाधारण के प्रेम-विरह और आनन्द को चित्रित करते थे। 'पंडितों का अनुमान है कि भारतीय साहित्य में यह नई परम्परा थी, जिसका प्रचलन आभीरों के कारण हुआ था। अनुमानतः आभीर जाति ईसा से पूर्व भारत में आई थी, यह जाति आनन्दी और वीर थी। कई विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि राधा इसी जाति की प्रेम की देवी थीं जो बाद में वैष्णव धर्म में आ गयीं और कृष्ण की आदि शक्ति के रूप में पूजित होने लगीं। वैदिक आर्य भावुक थे और जीवन के प्रति उनमें आस्था भी सुदृढ़ थी। किन्तु उपनिषदों, जैनों और बौद्धों की शिक्षा के कारण, भारतीय जीवन में एक प्रकार की अस्वस्थ वैराग्य-भावना का उदय हुआ, जिसके विरुद्ध हाल की प्रतिक्रिया आभीरादि जीवन भोगिनी जातियों के आगमन के बाद उत्पन्न हुई। हाल की सतसई का भारतीय कवियों के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, एवं उसके अनुकरण पर संस्कृत में भी रचनायें की जाने लगीं।'[1] इस प्रकार मुक्तकों के माध्यम से लौकिक जीवन से ओत-प्रोत काव्य का जो मनोरम प्रवाह संस्कृत काव्यों से होता हुआ मध्यकालीन हिन्दी कवियों तक पहुँचा और जिससे अप्रतिहत वेग को तीव्र गति देने के लिये न जाने हिन्दी के कितने कवियों ने हृदय के रस को निचोड़ कर उसको वर्धमान बनाया।

इसका उल्लेख किया जा चुका है कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भागवत-धर्म की उन्नति हो रही थी, जिसमें भक्तिमार्ग के वैष्णव सम्प्रदाय की प्रबलता थी जिसके भाव मनुष्यों के हृदयों को आन्दोलित कर रहे थे। इन्हीं भावों का विकास शृंगारिक कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ। ब्रजभूमि में पहुँचकर वैष्णव धर्म को और भी बल मिला, जहाँ इस पर एक विशेष रङ्ग चढ़ गया। ब्रज नायक श्रीकृष्णचन्द्र के जीवनचरित्र का प्रथमांक यहीं खेला गया था, जिसका रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदय में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और मति उस भाव और उस कला की ओर विशेष रूप से झुक गयी। राधा और कृष्ण के क्रियाकलापों को लेकर जिस भावुकतापूर्ण एवं गरमागरम काव्यों की सृष्टि पन्द्रहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दी कवियों द्वारा हुई, जैसी पहले नहीं हुई थी, इसका भी कारण है। भारतीय संस्कृति का जिस मुस्लिम संस्कृति से मेल हुआ था और जिसने शृंगारपरक हिन्दी कविताओं को प्रभावित किया था, उसका यह वैभव काल था।

भारतीय स्वभाव से गम्भीर एवं दार्शनिक होते हैं और मुसलमान विनोदी एवं

१. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर' प्र० सं०, पृ० १४९।

भावुक। 'भावुकता जवानी का गुण है और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जवान नहीं थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब-जब हिन्दुत्व का सम्पर्क जवान संस्कृतियों से हुआ है, तब-तब वह बुढ़ापे को भूलकर एक प्रकार के यौवन का अनुभव करने लगा है और तब-तब उसमें भी लहर अवश्य उठी है।'[1] यही कारण है कि मुस्लिमकाल में हमारे यहाँ जो साहित्य लिखा गया, उसमें फारसी और उर्दू जितनी तो नहीं, किन्तु पहले से कुछ अधिक भावुकता अवश्य प्रकट हुई। ऐसी भावधारा का जब मेल भारतीय भागवत सम्प्रदाय के आधार पर लिखे जाने वाले शृङ्गारिक साहित्य से हुआ तो उसमें एक अद्भुत उमंग और ताजगी का संचार हुआ। धीरे-धीरे जो भक्तिपरक शृंगारिक कवितायें बंग और बिहार में जयदेव तथा विद्यापति ठाकुर एवं चण्डीदास के कलकण्ठों में गूँजी थीं, जिनके पदों को चैतन्य महाप्रभु ने नेत्रों में आँसू भर कर गाया था तथा महाकवि सूर ने जिन भावों को अपनी असंख्य गीत परम्परा में उतारा था, वे भक्ति का दामन छोड़ कर लौकिकता की भूमि पर उतरने लगीं, जिनमें केवल राधा-कृष्ण का नाम भर ही ले लिया जाता था।

धार्मिक काव्य मुख्यतः वह है जिसका प्रादुर्भाव भक्तों के द्वारा हुआ। इस श्रेणी में तुलसी, सूर, नन्ददास, कबीर इत्यादि की गणना है और मानुषिक अथवा लौकिक काव्यों को राजकवियों तथा भक्तेतर मनुष्यों ने लिखा है। इस श्रेणी में गंग, मतिराम, बिहारी, पद्माकर और देव आदि कवि माने जाते हैं। मतिराम की कविताओं में वे सभी गुण प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं जिनके कारण वह शुष्क धार्मिकता की भावभूमि छोड़कर सरस एवं हृदयहारी लौकिकता के धरातल पर उतर पड़ी थी। लोकजीवन को डुबाती शृंगार की जो भावधारा अप्रतिहत वेग से हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी, उससे पूर्णप्रभावित होते हुये भी मतिराम के काव्यों की अपनी अलग विशेषता है। लौकिक सरस भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति नायक और नायिकाओं के माध्यम से करने वाले महाकवि मतिराम के ऊपर मुसलमानी संस्कृति के सम्पर्क से प्राप्त ओछी भावुकता एवं उछल-कूद का सबसे कम प्रभाव है। उनकी कविताओं में सरस हृदयस्पर्शी मार्मिकतापूर्ण स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के साथ भारतीय चिंतनधारा की गम्भीरता विद्यमान है, किन्तु कहीं भी शुष्कता नहीं आने पायी है।

शृंगार एवं प्रेम सम्बन्धी भावों की परम्परा के साथ ही उससे पुरानी काव्य-शास्त्र की परम्परा भी चली आ रही थी, जिसके द्वारा हिन्दी कविता का अलंकरण हो रहा था जिसका हिन्दी काव्यों में 'केशव' के बाद एक सम्प्रदाय सा ही खड़ा होता जा रहा था जिसका वर्णन किया जा चुका है। इस आलंकारिक एवं रीतिप्रधान काव्यों के माध्यम से हृदय के सूक्ष्म भाव दबते से जा रहे थे और ऐहिकतापरक तथा स्थूलतम भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। मतिराम की कवितायें रस और अलंकार दोनों सम्प्रदायों के अन्दर आती हैं, किन्तु मानव भावों की सूक्ष्मता तथा अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता से उनकी कविता कहीं भी दूर हटती नहीं जान पड़ती। उनकी स्वाभाविकता को पाकर

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, प्र० सं०, पृ० ३१७।

अलंकार ऐसे शुष्क साहित्य अंग भी सरस हो उठे हैं। कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व यदि किसी एक जगह ढूँढ़ना हो तो मतिराम उसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इनमें इन दोनों गुणों का अद्भुत संमिश्रण हुआ है। शृंगार सम्बन्धी मानव अनुभूतियों के समस्त मार्मिक भावों को सफल अभिव्यक्ति देने में मतिराम पूर्ण सफल हुए हैं। काव्य की कलात्मकता की पूर्ण-रूपेण रक्षा करते हुये स्वाभाविकता से दूर न हटना मतिराम ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का ही कार्य है।

दरबारी कवियो द्वारा आश्रयदाताओं को लक्ष्य करके जो प्रशस्तियाँ लिखा जा रही थीं, उनमें भी मतिराम के स्वाभाविक कवि गुणों की छाप स्पष्ट है, जिससे उनकी सर्वज्ञता का भी परिचय मिल जाता है। मध्यकालीन हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले समस्त मुक्तक छन्दों पर मतिराम का समान अधिकार था। सवैयों के सर्वोत्तम उदाहरण 'रसराज' के छन्द हैं, कवित्त एवं घनाक्षरी द्वारा व्यक्त चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ 'ललितललाम' आदि रचनाओं में भरी पड़ी हैं और सतसई के मार्मिक दोहे अपने आपमें अनूठे हैं।

मतिराम की काव्य प्रतिभा

मध्ययुगीन कवियों के शास्त्रीय सीमाओं में बँधे रहने के कारण, उनकी कविताओं में मानव मन की सहज स्वच्छन्द अनुभूतियों को खुलकर अभिव्यक्ति पाने का अवसर बहुत कम होता था। कवि के सामने छन्द, अलकार और पिंगल आदि शास्त्रीय व्यवस्था थी, जिसके बीच से होकर उसे अपने काव्य रस की सरिता बहानी थी। भावों का वह उन्मेष जो सौंदर्य के माध्यम से तत्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है और जिसके माध्यम से जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति का संकेत करती हुई भाषा का सहारा लेकर काव्य सुषमा प्रकट होती है, उसके स्वाभाविक चित्र का उतारना रीतिकालीन कवियों के लिये अपनी सीमाओं के कारण कभी भी सम्भव नहीं था। वे प्रायः शास्त्रीय संकेतों पर कलाप्रदर्शन का अभ्यास करते और व्यापकता से अधिक एकांगिता की ओर दृष्टि रखते थे। यही कारण है कि इस काल के कवियों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे एक प्रकार का कोई छन्द अपनी रचना के लिये चुनकर तदनुकूल रस एवं भाव की अभिव्यक्ति करते थे तथा उस क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करते। किन्तु सभी कवियों में यह व्यापक प्रयत्न पाया जाता है कि रीति ग्रन्थों की रचना से साहित्य को अधिकाधिक समृद्ध बनाया जाय। इस प्रभाव का ही परिणाम है कि भूषण ऐसे वीररस प्रधान ओजस्विनी कविता से वाणी का शृंगार करने वाले कवि भी लक्षण ग्रन्थों की चपेट में आ गये।

इस काल के प्रत्येक कवि का अपना कोई न कोई विशिष्ट छन्द रहा है, जिसमें उसे सिद्धहस्त कहा जा सकता है। यदि मतिराम और रसखान ने अनुपम सवैयों की सृष्टि की है तो रहीम और बिहारी ने अनूठे दोहे रचे हैं, देव की घनाक्षरियाँ और कवित्त यदि अपनी सानी नहीं रखते तो भूषण और पद्माकर के कवित्त सबसे आगे हैं। ऐसे कवि कम ही मिलेंगे जिन्होंने दो से अधिक छन्दों में अपनी प्रौढ़ रचनायें की हों। दोहा लक्षण ग्रन्थ लिखनेवालों का सबसे प्यारा छन्द रहा है, जिसका प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने लक्षण प्रस्तुत करने के लिये किया है और कुछ लोगों ने तो उसी में अपने उदाहरण भी लिखे हैं।

जिन लोगों ने उदाहरण सवैयों एवं कवित्तों में दिये हैं, उन लोगों ने भी लक्षणों के लिए दोहों का ही प्रयोग किया है। मतिराम ऐसे कवि विरले ही मिलेंगे, जिन्होंने चौपाई, बरवै और सोरठा को छोड़कर तत्कालीन प्रचलित सभी शृंगारिक छन्दों में समान अधिकार दिखाते हुए सफलता के साथ रचना की है। यह बात दूसरी है कि मतिराम का सबसे प्रिय छन्द सवैया रहा है, जिसमें उन्होंने प्रौढ़तम ग्रन्थ 'रसराज' लिखा है, किन्तु दोहा और कवित्त आदि छन्दों पर भी उनका अधिकार तत्कालीन कवियों के समान ही था। उनकी रचनाओं में से एक भी छन्द हम ऐसा ढूँढ कर नहीं निकाल सकते, जो उनकी प्रतिभा के अनुकूल न हो।

स्वाभाविकता

इस काल का काव्य निर्माण कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ कि प्रायः उसमें मर्यादा विशेष का अतिक्रमण हो गया। उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार को बहुतेरे कवियों ने काव्य का लक्ष्य बना लिया जिससे कविता की स्वाभाविकता नष्ट होकर, खिलवाड़-सी जान पड़ने लगी। शृंगार वर्णन तो कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा जान पड़ता है। इसके मूल में जनता की रुचि उतनी नहीं है, जितनी कि आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि प्रधान थी। महाकवि मतिराम का भी लगभग सम्पूर्ण जीवन राजाश्रय एवं राजदरबारों में व्यतीत हुआ था जिससे तत्कालीन प्रवृत्तियों का शिकार इन्हें भी होना पड़ा। अन्य कवियों की भाँति इन्होंने भी सम्राट् जहाँगीर, राव भाऊसिंह, भोगराज तथा ज्ञानचन्द आदि राजा-महाराजाओं की स्तुति में अतिशयोक्ति पूर्ण कवितायें की हैं, किन्तु ऐसी कविताओं को हम उनका काव्य लक्ष्य नहीं मान सकते। उनकी कविताओं के सुन्दरतम नमूने वे कवितायें हैं जो किसी राजा-महाराजा के आश्रय में नहीं लिखी गई हैं तथा जिनमें कवि ने अपनी सहज स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है, जिनकी संख्या उनके काव्य में अधिक है। उनका ग्रन्थ 'रसराज' इस प्रकार की सुन्दर रचनाओं से भरा पड़ा है, जिसमें नायक-नायिका-भेद की सीमा होते हुए भी कवि ने अत्यन्त सरस, स्वाभाविक प्रसंगों की योजना की है।

इस युग का सारा का सारा साहित्य दरबारों में लिखा जाने के कारण साधारण समाज से अपना सम्बन्ध एक प्रकार से तोड़ चुका था। उसमें दरबारों एवं नगरों के चित्र ही सजा-कर चित्रित किये जाते थे, जिससे सच्चे भारत की झलक जो गाँवों में रहता है, ढूँढ़ना व्यर्थ ही था। किन्तु मतिराम तत्कालीन कवियों में सबसे अधिक दरबारों एवं नगरों में रहकर भी सबसे कम दरबारी एवं नगर जीवन से प्रभावित हैं। उनके हृदय में ग्राम्यजीवन के प्रति सहज आकर्षण सदैव वर्तमान रहा जो उनकी कविता की स्वाभाविकता का मूल मन्त्र है। गाँवों का सीधा-सादा जीवन वहाँ के सच्चे नरनारी एवं उनके प्रेम व्यापार कवि को नगरों की अपेक्षा अधिक आकर्षित करते दिखलाई पड़ते हैं। चमत्कार प्रधान आलंकारिक कवियों को गाँवों की स्वाभाविक सुषमा तथा उनमें गाये जाने वाले गीतों में आनन्द नहीं मिला, पर उनमें आनन्द का अभाव नहीं है। रुचि भेद के कारण ही उनके आनन्द की मिठास में अन्तर आ गया था, किन्तु मतिराम ने इस मिठास का अनुभव किया था, जो उनकी काव्य प्रतिभा का सर्वोत्तम उदाहरण है।

शृंगार प्रधान कवि होने के कारण ग्राम के विविध पक्षों का चित्रण मतिराम की कविताओं में तो नहीं मिलता, किन्तु स्त्री-पुरुषकी स्वाभाविक भाव-भंगियों तथा उनके सहेटों का जो मार्मिक चित्र उन्होंने खींचा है, उनमें भारत का ग्रामीण जीवन अपने सम्पूर्ण सौष्ठव के साथ उभड़ आया है। गाँवों ने अपने अन्तःपुरों, चौपालों, बाग-बगीचों, खेतों और खलिहानों में कहीं शृंगाररस का, कहीं करुणरस का, कहीं हास्यरस का और कहीं वीररस का स्रोत खोल दिया है, जिसमें सहृदय नर-नारी डुबकी लेते रहते हैं। इस नैसर्गिक आनन्द में रसपान करते हुए मुग्ध होकर थोड़ी देर के लिए संसार के माया जाल से वे मुक्त होकर स्वर्गीय सुखरस का भरपूर आनन्द उठाते हैं। इस जीवन से रस लेकर जिस कविता की सरस धारा फूटती है, उसकी समानता नगर-कवियों की लम्बी-चौड़ी उक्तियाँ कभी नहीं कर सकतीं। मतिराम ने इसका अनुभव किया था, जिससे उन्होंने अपनी कविताओं में ग्राम-जीवन को स्थान दिया है।

सभ्य समाज में पहुँचकर इस युग में कविता भी सभ्य हो गयी थी। पिंगल, व्याकरण, रस, अलंकार और मुहावरे नामक सभ्यता के शुभ लक्षणों से उसका नख-शिख दुरुस्त हो गया था। उसके असली रूप (जो गाँवों में था) से कविगण परिचित नहीं हो पाते थे। कालिदास की भ्रूविलासानभिज्ञा और उसके भोलेपन का दर्शन गाँवों में ही होता है। ग्रामीण नायक-नायिकाओं के भी हृदय होता है और वे भी अपनी विरहपीड़ा को खेतों-खलिहानों में परस्पर मिलकर सहलाते हैं। वर्षा ऋतु में जल के आधिक्य तथा खेतों के सहेट स्थल ज्वार के छोटे रहने के कारण नष्ट हो जाने पर गंवारि स्त्री अपने प्रेमी से मिलने का अवसर एवं सुविधा खो चुकी थी और वर्षा ऋतु की समाप्ति तथा शरदागम के साथ खेतों में ज्वार को लहलहाते देख उसके हृदय में भी आनन्द भाव लहलहाने लगे, क्योंकि अब उसे लहलहाते ज्वार के खेतों में नायक से मिलने की पूरी सुविधा उपलब्ध हो जायगी। मतिराम ने इस गँवयीं परकीया नायिका के सूक्ष्म मानसिक भावों का अद्भुत चित्रण किया है—

> बरषा रितु बीतन लगी, प्रतिदिन सरद उदोति।
> लहलह जोति जुआर की, अरु गँवारि की होति ॥१०॥

प्रथानुसार अपने नायिका-भेद चित्रण में उन्होंने इसी प्रकार और भी मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं। 'मूलतः वे गृहस्थी के कवि हैं। मध्यकाल की अनुरागवती गृह-वधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है, वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया।'[1]

शास्त्र सिद्ध कवियों की कविता का आनन्द वही उठा सकता है जिसने छन्द, व्याकरण और अलंकार शास्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान कर लिया है। इस प्रकार की कविता को स्वाभाविक कविता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। 'यह तो माली निर्मित उस क्यारी की तरह है जिसके पौधे कैंची से कतर कर ठीक किये रहते हैं और जो खास तरह की रुचि से विवश होकर सजाई जाती है। ग्राम गीत तो प्रकृत का

1. हिन्दी साहित्य— डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३३५।

वह उद्यान है जो जंगलों में, पहाड़ों पर, नदी-तटों पर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। वह अकृत्रिम है। सिद्ध कवियों की कविता किसी बँगले का वह फूल है जिसका सर्वस्व माली है। पर ग्रामगीत वह फूल है, झरने जिसको पानी पिलाते हैं, मेघ जिसे नहलाते हैं, सूर्य जिसको आँखें खोलता है, मन्द-मन्द समीर जिसे झूले झुलाता है, चन्द्रमा जिसका मुँह चूमता है और ओस जिस पर गुलाबजल छिड़कती है। उसकी समता बँगले का फूल नहीं कर सकता।''[1] कवि अपने हृदय के प्रभावों को व्यक्त करने के लिये जब व्याकुल हो जाता है और वे जब अपने आप वाणी की सहायता से बाहर आने लगते हैं तो स्वाभाविक कविता की सृष्टि होती है। प्रेमी के अभाव में गँवारि प्रेमिका यौवनागम के कारण अपने आस पास पाये जानेवाले उद्दीपक वातावरण से अभिभूत हो जब अपनी मार्मिक वेदना को स्वर देती है तो प्रकृत के जड़ पेड़-पौधे भी उसकी लपेट में आ जाते हैं—

"औचक आइ जोबनवा मारेसि बान।
महुवा रोवै टाढ़ आम बौरान॥"

ऐसी मर्म भरी वाणी कतरब्योंत करने वाले सिद्ध हस्त शास्त्रीय सीमाओं में बद्ध शृंगारिक कवियों को भला कब नसीब हो सकती है। मतिराम की काव्य प्रतिभा ने इसे पकड़ा था और उनकी काव्य कला का पराग पाकर प्रकृति कुसुमों के समान ग्रामीणों के हृदयहारी भावों की सुगंध ही बढ़ी है, उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पायी है। 'मतिराम' की गँवारिन अपने सहेट-स्थल को नष्ट होता देखकर अत्यन्त करुण एवं मर्मभरी वाणी में जिस प्रकार निडर गँवार राही को ऊँख तोड़ने से रोकती है, उसे देखकर कवि की स्वाभाविक उक्तियों तथा सरस प्रसंगों की उद्भावना करने की शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। गाँवों में ही पाये जानेवाले अरहर और ऊँख के खेत प्रेमी और प्रेमिकाओं को छिप कर मिलने के लिये अधिक उपयुक्त माने जाते हैं, जिसका संकेत मतिराम की कविता में मिल जाता है—

'निडर बटोही बाट में, ऊखनि लेत उखारि।
अरे गरीब गँवार तैं, काहे करत उजारि॥' मतिराम सतसई

इसके अतिरिक्त देहातों में यह अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि मार्ग में जाते हुये राही पास में पाये जानेवाले ऊँख के खेतों से अपने-पराये का किसी प्रकार का ध्यान किये बिना ही ऊँख तोड़ लेते हैं, जिसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण कवि ने उपरोक्त दोहे में किया है। उजारि शब्द की व्यंजना से कवि ने धन-हानि तथा सहेटस्थल के नष्ट हो जाने आदि एक से अधिक भावों की सृष्टि की है।

शृंगारवर्णन—संयोग शृंगार

मतिराम के काव्य की मूल वृत्ति शृंगार है, जिसमें उन्होंने संयोग और वियोग काल में पायी जानेवाली नायक-नायिकाओं की विभिन्न मनोदशाओं का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं

---

१. हमारा ग्राम साहित्य— पं० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० सं०, पृ० २९।

स्वाभाविक चित्रण किया है। 'रसराज' नायिका-भेद पर लिखा इनका अनुपम श्रृंगार-रस प्रधान ग्रन्थ है। नायक-नायिका को ही इन्होंने श्रृंगार का आलम्बन माना है। यों तो इन्होंने श्रृंगार के लिये स्वकीया, परकीया और सामान्या नायिका को समान रूप से वर्णन के लिये लिया है, किन्तु संयोग श्रृंगार के क्षेत्र में मर्यादावादी होने के कारण स्वकीया नायिका का चित्रण औरों की अपेक्षा अधिक रस लेकर किया है—

'प्यार पगी पगरी पिय की, घर भीतर आपने सीस सँवारी;
ऐतें मैं आँगन तैं उठि कै, तहँ आय गयो 'मतिराम' बिहारी।
देखि उतारन लागि पिया पिय, सोहनि सौं बहुरयो न उतारी;
नैन नवाय लजाय रही, उर लाय लई मुसकाय पियारी ॥३५१॥' —रसराज

इसके अतिरिक्त 'ललितललाम' तथा सतसई के दोहों में भी संयोग श्रृंगार के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं। समय के प्रभाव में आकर 'विपरीत रति' आदि अश्लील श्रृंगारिक कवितायें भी इन्होंने लिखी हैं, परन्तु प्रायः ये कवितायें स्वकीया नायिका को लक्ष्य करके ही लिखी गयी हैं। परकीया और सामान्या का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है, उनके अभिसारिका-भेदों का सुन्दर चित्रण किया है, किन्तु सामान्या के भेदोपभेदों का वर्णन न करने से जान पड़ता है कि उस प्रकार के वर्णन में उनकी रुचि नहीं थी, बल्कि समयानुसार उनका वर्णन आवश्यक समझ कर ही किया है।

विप्रलम्भ या वियोग श्रृंगार

वियोग श्रृंगार के इन्होंने तीन भेद माने हैं और जिसके अनुसार पूर्वानुराग, मान और प्रवास तीनों भेदों के सुन्दर उदाहरण उनकी कविताओं में आये हैं। जहाँ कहीं भी परकीया नायिका के वियोग का चित्रण इन्हें करना अभीष्ट रहा है, भरसक उन्होंने सामाजिक मर्यादा का पालन किया है। इनकी ऊढ़ा परकीया सामाजिक मर्यादाओं से इतनी त्रस्त है कि मन ही मन मसोसती रहती है, किन्तु उसे तोड़ने का प्रयत्न नहीं करती, बल्कि अगले जन्म में प्रिय को प्राप्त करने के लिये तप करने के लिये उत्सुक जान पड़ती है—

'क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै, मोहन को तन पानिप पीजे;
नेकु निहारे कलंक लगै इहि, गाँव बसे कहो कैसे के जीजे।
होत रहे मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै;
ह्वै बनमाल हिये लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै ॥६०॥' —रसराज

प्रकृति के उद्दीपन भावों का वैसा ही वर्णन किया है जिस प्रकार के वर्णन परम्परा में प्रचलन पा चुके थे, किन्तु वर्णन की स्वाभाविकता उनकी अपनी है। संयोगकाल की सभी आनन्द प्रदान करने वाली वस्तुएँ वियोग के दिनों में कष्टकर हो जाती हैं, जिससे उनके आगमन की सूचना पाकर 'मतिराम' की नायिका का विरह और भी तीव्र हो उठता है, जिसके मन में उठे भावों का चित्रण मतिराम ने अत्यन्त अनूठे ढंग से किया है—

'धुरवानि की धावनि मानों अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी;
नभ मंडल ह्वै छिति मंडल छ्वै, छनदा की छटा छहरान लगी।

'मतिराम' समीर लगै लतिका, विरही वनिता थहरान लगी;
परदेश मैं पीव संदेश न पायो, पयोद घटा घहरान लगी ॥३९६॥' —रसराज

उपरोक्त छन्द में शब्दयोजना, अनुप्रासिक वर्णन तथा सजीव वातावरण की सृष्टि करते हुए विरहिणी नायिका की मनोदशाओं का अद्भुत चित्र कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत किया है।

प्रेमवर्णन में विदेशी मेल

प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। 'प्रेम या रति में रूप भेद भी है। अनेक सम्बन्धों से उसके रूप हो जाते हैं। पति और पत्नी के बीच दांपत्य-रति, माता या गुरुजन के एवं पुत्र या संतति के बीच वात्सल्य-रति होती है। मतिराम के शृंगार प्रधान कवि होने के नाते उनकी कविताओं में प्रेम व्यंजक भावों को स्थान मिलना अत्यन्त स्वाभाविक है। अन्य कवियों की भाँति राधा-कृष्ण प्रेम की चर्चा का प्रसंग इन्होंने भी उठाया है और गीतों के सम्राट् कविवर सूर के भ्रमरगीतों से प्रभावित भी जान पड़ते हैं, अन्तर इतना ही है कि संप्रदायविशेष का आग्रह न होने के कारण इनकी कविताओं में वह तानाजनी नहीं आ पाई है जो 'सूर' की कविताओं में भक्ति और ज्ञान को लेकर की गई है। भाव कथन के लिए इन्होंने नायक को समान रूप से प्यार करने वाली नयिकाओं को ही लिया है—

'जाके अंग-अंग की निकाई निरखत आली,
वारने अनंग की निकाई कीजियतु है,
कवि मतिराम जाकी चाह ब्रजनारिन को
देह अंसुवान के प्रवाह भीजियतु है।
जाके बिनु देखे न परत कल तुमहूँ को,
जाके बैन सुनत सुधा-सी पीजियतु है
ऐसे सुकुमार प्रिय नन्द के कुमार को यों,
फूलन के माला की मारु दीजियतु है ॥'

मतिराम के समय तक मुसल्मानों के पैर भारत में पूर्णतः जम गये थे। जिनके साथ उनका साहित्य और संस्कृति भी आ गई थी। राम-रहीम को एक सूत्र में बाँधने के लिये प्रेम की पुकार मचने लग गई थी, जिसका प्रतिपादन पूर्ण भावुकता के साथ किया जाने लगा था। विदेशी लोग सगुण को स्वीकार नहीं करते थे। अतः निर्गुण भावना का जोर सूफियों के माध्यम से जो बढ़ रहा था, उसकी ओर हिन्दी के कवि भी खूब झुके, जिससे इनकी कविताओं पर भी फारसी शायरी का प्रभाव पड़ा। मतिराम की कविताओं पर भी इसका प्रभाव लक्षित होता है। कलेजा चाक कर देने तथा फारसी शायरी के ढंग पर उसके टुकड़े करने वाली

'हन्यो मोहिं उहिं नैन सों, नैननि कियो अचेत।
काढ़ि बहुरि विष आपनो, ज्यों विषधर हर लेत ॥ २१ ॥' मतिराम सतसई
'भलो एक मन ही गयो, सज्जनता को नेम।
दृगनि मारि घायल कियो, तासों बाँधत प्रेम ॥ ९९ ॥' मतिराम सतसई

बातें इनकी कविताओं में भी पाई जाती हैं। काव्य में स्वाभाविक चित्रण को महत्व देने वाले कवि मतिराम को फारसी कविता के प्रभाव के कारण ही 'फूले किंसुक जाल' लोहू के समान दिखलाई पड़ते हैं—

'जहाँ तहाँ रितुराज में, फूले किंसुक जाल।
मानहुँ मान मतंग के, अंकुश लोहू लाल ॥ ९६ ॥' मतिराम सतसई

इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय प्रेम पद्धति पर स्वस्थ प्रेम का चित्रण अधिक किया है। इतना तो समसामयिक प्रभाव दिखलाने के लिए उद्धृत कर देना आवश्यक-सा हो गया है।

प्रकृति वर्णन

मानव से पूर्व प्रकृति के वर्तमान रहने की सम्भावना है। वह सदा से उसके साथ रही है और मानव अपनी इच्छा, सुविधा और आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में करता रहा है। रीतिकाल के कवियों ने प्रकृति में रमणीयता तो नहीं देखी है, किन्तु उसे रमणीयता लाने अथवा उत्पन्न करने वाले उपादान के रूप में अवश्य ग्रहण किया है। इन्होंने प्रकृति का आलम्बन रूप नहीं, बल्कि उसका उद्दीपन रूप ही ग्रहण किया है। इनकी प्रकृति नायक नायिका के मन की स्थिति के अनुकूल उनके सुख में सुखी और दुख में दुखी दिखलाई देती है। मतिराम का प्रकृति विषयक दृष्टिकोण बहुत व्यापक रहा है। उन्होंने इसके कोमल प्रभावों को ही कविता में स्थान दिया है, जो संयोगकाल में नायक नायिकाओं के आनन्द को बढ़ाती है तथा वियोगकाल में उसकी स्मृति दिला कर अत्यंत दुखी बनाती है। जहाँ कहीं उसके विनाशकारी प्रभाव से सहेट स्थल आदि के मिट जाने पर प्रेमीजनों को कष्ट पहुँचा है, वहाँ प्रकृति बन्धनमुक्त होकर आती जान पड़ती है और कवि अनजाने उसके आलम्बन रूप का सुन्दर चित्र उतारता जान पड़ता है। रसराज में नायिका-भेद के अन्तर्गत प्रकृति के अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं के प्रभावों का सुन्दर वर्णन आया है—

'आई ऋतु पावस अकास आठों दिसन में,
सोहत स्वरूप जल धरन की भीर को;
'मतिराम' सुकवि कदम्बन की बास जुत,
सरस बढ़ावै रस परस समीर को।
भौन ते निकसि वृषभानु की कुमारि देख्यो,
ता समै सहेट को निकुंज गिर्‍यौ तीर को।
नागरि के नैननि तें नीर को प्रवाह बढ़्यौ,
निरखि प्रवाह बढ़्यौ जमुना के नीर को ॥८६॥' —रसराज

भाषा प्रयोग एवं काव्य कौशल

मतिराम मूलतः रससिद्ध कवि हैं, जिसके वर्णन के लिये रीतिकालीन प्रचलित प्रमुख छन्दों का उन्होंने बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया है। सवैया उनका प्रमुख एवं अत्यन्त

प्रिय छन्द रहा है, जिसमें उनकी प्रौढ़तम शृंगारी कविताएँ लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में कवित्त और दोहे भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। 'छन्द का भाव और रस से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। छन्दविशेष में भाव अथवा रसविशेष अधिक प्रभावोत्पादक हो जाता है, जैसे संस्कृत वृत्तों में मंदाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी और मालिनी में शृंगार, शान्त और करुण रस अधिक मनोहर लगते हैं। इसी प्रकार भुजंगप्रयात, वंशस्थ और शार्दूल विक्रीड़ित में वीर, रौद्र और भयानक रस विशेष प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। हिन्दी छन्दों में सवैया और बरवै में शृंगार, करुण और शान्त; छप्पय में वीर, रौद्र, तथा भयानक; नाराच में वीर, तथा घनाक्षरी; दोहा, चौपाई और सोरठा में प्रायः सभी रस उद्दीप्त होते हैं।'[1] मतिराम ने अपनी रचनाओं में इस ओर विशेष ध्यान दिया है। शृंगार के सरस वर्णनों तथा वियोग जनित पीड़ा से उद्भूत करुण रस के चित्रण के लिये उन्होंने तदनुकूल छन्द सवैये को ही चुना है, जिसमें अपने प्रौढ़तम ग्रन्थ रसराज की रचना की है। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में जहाँ कहीं उन्हें वीर-दर्पपूर्ण उक्तियाँ कहनी पड़ी हैं, उन्होंने ललितललाम में सुन्दर छप्पय तथा घनाक्षरियाँ लिखी हैं। चौपाई छन्द के उदाहरण तो मतिराम की कविताओं में नहीं मिलते, परन्तु उनके दोहों में अनेक मानवीय मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

ललितललाम में वर्णित अलंकारों से मतिराम के आचार्यत्व का पूर्ण परिचय तो मिल ही जाता है, किन्तु उनकी कविताओं में अलंकारों का प्रयोग जिस स्वाभाविकता के साथ किया गया है, उससे उनके काव्यकौशल का भी पूर्ण परिचय मिल जाता है। 'साधारण कविजन अलंकारों को लाने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, तो भी उनकी कविताओं में एकाध अलंकार कठिनाई से आ पाते हैं। उधर उत्कृष्ट कविजन साधारण वर्णन करते चले जाते हैं, परन्तु वे ऐसे शब्द और भाव लाते हैं कि उनमें आपसे आप अलंकार आदि सम्बन्धी उत्तमताएँ बहुतायत से आ जाती हैं।'[2] मतिराम ने कहीं भी काव्य की स्वाभाविकता नष्ट करके बलात अलंकारों को लाने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु वे अपने आप कवि प्रतिभा के आग्रह से खिंचकर चले आये हैं। जिन छन्दों की रचना कवि ने अलंकारों का उदाहरण देने के लिये ही की है, उनकी तो बात ही दूसरी है, किन्तु जिन छन्दों की सृष्टि नायिका-भेद के उदाहरण के लिये हुई है, उनमें भी अलंकारों की छटा विराजमान है। प्रमाण के लिये हम उन छन्दों को ले सकते हैं, जो रसराज और ललितललाम दोनों में पाए जाते हैं। महाकवि मतिराम ने अपने आश्रयदाता राव भाऊसिंह के आतङ्क का वर्णन किया है—

'महावीर सत्रु साल नन्द राव भाव सिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय-से;
कहैं 'मतिराम' तेरे तेज-पुँज लिये गुन,
मारुत औ मारतण्ड-मण्डल विलोय-से।

1. आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित, प्र० सं०, पृ० २०९।
2. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० ६१।

उड़त नवन टूटि-फूटि मिटि फाटि जात,
विकल सुखान बैरो दुखिन समोय-से;
तूल-से तिनूका-से तरोवर-से तोयद-से,
तारा-से तिमिर-से तमीपति-से तोय-से ॥२६६॥'—ललितललाम

इस छन्द में कवि को केवल यथासंख्या अलंकार दिखाना था, पर और भी कई अलंकार कवि प्रतिभा से आकृष्ट होकर अपनी दिव्य छटा दिखला रहे हैं। विभावना, प्रतीप, समुच्चय और उपमा की मनोहर झलक मन को मुग्ध कर देती है। ओजगुण और शब्द-चमत्कार का ठाट ही निराला है। हिन्दी साहित्य में इसके समान दूसरा यथासंख्य नहीं मिल सकता।

स्वतन्त्र रूप से नख-शिख वर्णन उपस्थित करके उन्होंने महत्वपूर्ण सौन्दर्य तत्वों का वर्णन किया है। जब ये किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करना चाहते हैं, तो उसके सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि नख-शिख का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न करना पड़े और सारे सौन्दर्य का चित्रण भी उपस्थित हो जाय। वे एक बार अंग दीप्ति पर दृष्टि डाल कर चट-पट आकर्षक नेत्रों के पास पहुँच जाते हैं, किन्तु ठहरते वहाँ भी नहीं और सतर्कता के साथ मुस्कान पर पहुँच कर मुग्ध हो रहते हैं जिससे वे जिस अंग पर दृष्टि डालते हैं, उन्हें सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है—

'कुंदन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई,
आँखनि में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासनि की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई,
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे है नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥' रसराज छंद सं० ६

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि अपने जिन भावों की अभिव्यक्ति अपने काव्य के माध्यम से करना चाहता है, उसके लिए उसे समर्थ भाषा का वरदान प्राप्त है। भाषा के माध्यम से पाठक को कवि के भावों तक पहुँचने में जरा भी देर नहीं लगती और वह बिना रोक-टोक के उसके भावों तक पहुँचकर आनन्द लेने लग जाता है। भाषा का यह वाहक स्वरूप मतिराम के काव्य का प्रमुख गुण है। थोड़े से थोड़े शब्दों में अभीष्ट चित्रण उपस्थित करना मतिराम के बाएँ हाथ का खेल था। कवि के वर्णन में काव्यशास्त्र का सुप्रबन्ध, सुष्ठु योजना और प्रसाद गुण सभी एक साथ उपस्थित हो गए हैं। एक ही छन्द में नायिका के विभिन्न अंगों का अलग अलग वर्णन काव्य की भाषा के प्रवाह में कहीं भी रुकावट नहीं डालते। भाषा की मधुरिमा प्रत्येक वर्णन को मृदु सहलाहट देती रहती है। इसके अतिरिक्त इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि भाषा की सरल स्वाभाविक धारा में ये बीच-बीच में अलंकारों की लड़ियाँ भी पिरोते चलते हैं और कहीं भी गतिरोध उपस्थित होने नहीं पाता। 'कुन्दन को रंग फीको लगै' में प्रतीप, सम्पूर्ण छन्द में स्वभावोक्ति 'को बिन मोल बिकात नहीं' में 'काकु' और 'लोकोक्ति' तथा 'निहारियै नेरे नैननि, निकरै और निकाई' में अनुप्रास-चमत्कार उपस्थित है। ये अलंकार कवि द्वारा इस छंद में सप्रयास नहीं लाये गये जान पड़ते, बल्कि वे अपने आप ही सिद्ध कवि की सहायता के लिए उसकी

कविताओं का श्रृंगार करने चले आये हैं। उत्तम शब्दों को उत्तम ढंग से सजा कर रखने का कवि को कमाल हासिल था।

भाषा भावों का दामन छोड़ कर चलती, मतिराम की कविताओं में कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ सकती। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यन्त स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है। 'केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना में ही प्रयुक्त हैं। रीति ग्रन्थ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छन्द चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है। पर कहीं कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रस स्निग्ध और प्रसाद पूर्ण भाषा रीति का अनुकरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।'[1] अन्य कवियों की भाँति ही उन्होंने भाषा के प्रयोग में कवि स्वातंत्र्यों की शरण ली है। किन्तु भावों के समान ही न तो उनकी भाषा कृत्रिम है और न उनके व्यंजक व्यापार। इनके भाषा की सरलता, सुबोधता तथा स्वाभाविकता के औचित्य में दो मत हो ही नहीं सकते। कवि की प्रवह-मान भाषा में तरो ताजगी के साथ सुकुमारता तथा सुभावनापन सर्वत्र अपनी विलक्षण छटा के साथ विद्यमान है।

काव्य सम्बन्धी सभी स्वाभाविक गुण मतिराम की कविता में प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं। अपनी कविताओं में वे तमाशाई बनकर बाहर से उछल-कूद करते नहीं जान पड़ते, बल्कि उन्हें हम जीवन के रंगमंच पर प्रतिभाशाली नायक की भाँति कार्य करते देखते हैं। भाषा का प्रधान गुण अभिप्रेत भावों को पूर्णतः प्रकाशित करना है। भाषा की पूर्णता पाठकों को झटपट भावों तक पहुँचा देने की क्षमता तथा थोड़े से शब्दों में ठीक मतलब की बातों को प्रकट कर देने की शक्ति सम्बन्धी भाषा के तीनों प्रधान गुण मतिराम की कविता में पाये जाते हैं। मतिराम का आधार फलक (कैनवास) बहुत बड़ा नहीं, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में उन्होंने कमाल की चित्रण पटुता दिखलाई है। 'भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाडंबर प्रकाशन में मतिराम के साथ भाषा के बहुत थोड़े कवियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि 'रसराज' और 'ललित-ललाम' में लक्षण और उदाहरण के बहाने ही कविता लिखी गई है, पर भावों का ऐसा सरस चित्रण दुर्लभ है। मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते हैं।'[2] कविता की भाषा में कुछ विशेषताएँ होती हैं। 'कवि स्वातन्त्र्य से लाभान्वित होकर कवि लोग अपनी भाषा में साधारण गद्य की भाषा से कुछ अलगाव कर लेते हैं। जिन भाषाओं का व्याकरण अधिक जटिल है, उनमें यह अलगाव कम होता है, पर जिन भाषाओं में व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उनमें यह अलगाव अधिक दिखलाई पड़ता है। अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते रहना

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३, पृ० २५२।
२. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३११।

प्रचलित शब्दों का तोड़-मरोड़ लेना, व्याकरण की उतनी परवाह न करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो कवियों की भाषा में पायी जाती हैं। हिन्दी की व्रजभाषा कविता में एवं अंग्रेजी कवियों की भाषा में यह अलगाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।[१]" इसके अतिरिक्त कवि को ऐसे दोषों से बचना चाहिये जो शास्त्रसंमत हों। मतिराम में औरों की भाँति भाषा के प्रयोग में उन कविस्वातन्त्र्यों की शरण ली है जिनसे एक अच्छे कवि को बचना चाहिए। जैसे उन्होंने 'सरसता' को बोध कराने के लिये 'सरसाई' शब्द का प्रयोग किया है। जगह-जगह ऐसे तोड़-मोड़ दिखलाई पड़ते हैं जो कविता के तुक को ठीक करने के लिए ही किए जान पड़ते हैं। ऐसे प्रयोग काव्येतर भाषा में चिन्त्य हैं, किन्तु यहाँ कवि के विशेषाधिकार के नाते क्षम्य हैं।

इनकी भाषा को बिल्कुल निर्दोष नहीं कह सकते। इनकी कविता में कहीं कहीं शब्दों का प्रयोग बेढंगा हुआ है। अन्य भाषा के कई शब्दों का भी ये ठीक व्यवहार नहीं कर सके हैं। पर ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े पाये जाते हैं। 'इन्होंने इलाज, बिरची शब्द का प्रयोग किया है, जो चिन्त्य है। 'इलाज' शब्द अरबी भाषा का है। 'हिन्दी शब्दसागर' में यह पुल्लिंग माना गया है। यद्यपि इसका अर्थ तदबीर भी है, परन्तु मुख्य अर्थ दवा है। 'दीनबन्धु निज नाम की सुलाज की' प्रयोग में 'सु' अक्षर व्यर्थ है। नीचे के प्रथम पद में 'बारिचर के जय काज के लिए' इलाज के बिरचने की सूचना दी गई है, वह छंद में प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं है। छंद में वर्णित भाव की संपूर्णता के लिये यह आवश्यक था कि ग्राह के द्वारा गजराज-ग्रास की बात स्पष्ट-स्पष्ट वर्णित कर दी जाती।[२]"

मुसल्मानों के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी भाषा से जिन विदेशी शब्दों का मेल हो रहा था, उनका प्रभाव मतिराम की कविताओं पर भी पड़ा है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में यथास्थान अरबी के शब्द काफी संख्या में पाए जाते हैं। खलक, दरयाव, बखत, साह, पातसाह, उमराव, भोज दरियाव दीवान, दिवाल, सुल्तान, खुबनि, गरीबी, गनीम, बरगीन, हजीव, तलफत, बकसैया, सुल्तानी, बिलन्द, गरद, गुमान, जहान, बकसिबो, बकसिबो, फतूहै, मजलिस, रोज, चिरावे[३] तथा हरामी, मखतूल और दया दरियाव आदि विदेशी शब्द 'ललितललाम' और 'सतसई' में विद्यमान हैं।[४]

इन सारी बातों के होते हुए भी व्रजभाषा के कवियों में जहाँ तक भाषा सौंदर्य का सम्बन्ध है 'कविवर मतिराम जी से बढ़कर अच्छी भाषा लिखने में कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ। इसके कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं कि सूर, तुलसी, देव, बिहारी और पद्माकर आदि भी कवि भाषा सौंदर्य में मतिराम को पीछे नहीं

१. मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं०, पृ० ७३।
२. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ० ११६।
३. ललितललाम, छंद संख्या ४९, ५२, ६६, २०३, ३१२, ४१, ५२, ५८, ६९, १०२, १०३, १३३, १६३, १६५, २५०, ३०२, ३०८।
४. मतिराम सतसई, छन्द संख्या ४०, १२७, ५२५।

छोड़ पाते। हाँ, यह मानने को हम तैयार हैं कि इनमें से भी कई कवियों की भाषा ऐसी है जिससे मतिराम की भाषा अच्छी नहीं कही जा सकती। भाषा-सौंदर्य में कई कवि उनके बराबर अवश्य हैं, पर उनसे बढ़ कर कोई नहीं।'[1] भाव, भाषा-प्रवाह एवं सरसता का संगम यदि किसी एक ही कवि की कविता में देखना हो तो उसे मतिराम के सवैयों, ललितललाम के कवित्तों तथा सतसई के दोहों में भलीभाँति देखा जा सकता है।

मतिराम की मौलिकता

महाकवि मतिराम की स्थिति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि उनका स्थिति काल किसी महाकवि के उत्पन्न होने के अनुकूल नहीं था। 'सूर' और 'तुलसी' जैसे महाकवि उत्पन्न हो चुके थे तथा 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' जैसे महान साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे, किन्तु इनके समय तक देश की सामाजिक स्थित इस अवस्था को पहुँच चुकी थी कि प्रबन्ध-काव्यों के सहज स्वाभाविक धारा की गति अवरुद्ध हो। जिन दिनों महाकवि मतिराम अपनी रचनाएँ कर रहे थे, 'उन दिनों जन-साधारण की मनोवृत्ति साधारणतया विलासोन्मुखी हो गई थी। धर्म भावना में भी भोग और विलास को स्थान मिल गया था, क्योंकि सेवा-अर्चना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार हो जाने से मठों और गद्दियों ने भोग-विलास के समस्त उपकरण एकत्र कर दिए थे। इनमें केशर की चक्कियाँ चलती थीं तथा इनकी विलास-सामग्रियों से अवध के नवाब को भी ईर्ष्या हो सकती थी। कृष्ण की परकीया भाव से पूजा करने की उपासना-पद्धति में तथा सखी सम्प्रदाय ने परकीया वर्णन, नायिका निरूपण आदि काव्यों को प्रोत्साहित किया और धर्म की छाप लगी होने के कारण जनता ने इन्हें निस्संकोच शिरोधार्य किया। फलतः शृंगार भावना का हिन्दी के ऊपर चेतन और अचेतन दोनों ही रूपों में प्रभाव पड़ा और तत्कालीन कविता खण्डिता, अन्य सम्भोग दुःखिता, परकीया आदि के वर्णनों से भर गई। जन-जीवन का ऐहिक दृष्टिकोण तत्कालीन समाज की नैतिक दशा, रीतिकालीन हिन्दी कविता में भली प्रकार अभिव्यंजित है।'[2] वासना एवं ऐहिक शृंगार जन-जीवन में इतना घुल-मिल गया था कि उसके अभाव में नीति तथा उपदेश आदि जैसे नैतिक वाक्य लोगों की समझ के परे थे। यही कारण है कि कवियों को विवश होकर अपनी बात लोगों तक पहुँचाने के लिये शृंगार का सहारा लेना पड़ा है। कुटिलों के साथ रह कर साधू लोग किस प्रकार नहीं बचते, तब तक लोग नहीं समझ सकते थे जब तक कि यह न कहा जाय कि उसी प्रकार नहीं बच सकते जैसे इशारा तो करते हैं नेत्र और आ बनती है बेचारे उरोजों पर—

1. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णविहारी मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ० ७४।
2. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन, डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, प्र० सं०, पृ० १०९–१०।

'कुटिलन संग रहीम कहि, साधू बचते नाहिं।
ज्यों नैना सैना करें, उरब उमेठे जाहिं॥' —रहीम

ऐसी स्थिति में महाकाव्यों अथवा प्रबन्धकाव्यों की नहीं, बल्कि आवश्यकता थी काव्य के रीति-ग्रन्थों की, जिन पर विचार भी काव्य-रीति के आधार पर ही हो सकता था न कि काव्य के। एक सच्चे भावुक एवं सहृदय कवि के लिये इससे बढ़कर संकटकालीन स्थिति और क्या हो सकती है, जहाँ काव्यकला के उत्कृष्ट स्वरूप को छोड़कर उत्कृष्ट भावों को किसी भी प्रकार की प्राथमिकता मिल ही नहीं सकती हो। साहित्यिक भावों के इस अकाल में यदि कहीं भाव युक्त उत्कृष्ट काव्य का भी दर्शन मिले तो उसे कवि की विशेष शक्ति का ही परिचायक समझना चाहिये। महाकवि मतिराम ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न हृदय भावुक कवि हैं जिनमें रीति के साथ ही साथ उत्कृष्ट काव्य का भी दर्शन मिलता है। जहाँ एक ओर रसराज और ललितललाम में मतिराम के रीतिकालीन काव्यकला के दर्शन मिलते हैं वहीं मतिराम सतसई के अनुपम मार्मिक एवं सरस दोहों एवं 'रसराज' और 'ललितललाम' में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये गये छन्दों में उनकी सहृदय एवं भावुक काव्य-प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

इस काल के कवियों का एकमात्र विषय शृंगार होने के कारण इस विषय का इतना पिष्टपेषण हुआ है कि चमत्कार एवं कलात्मकता को छोड़कर किसी भी कवि में किसी प्रकार की भी नयी उद्भावना देखने में नहीं आती, क्योंकि कविता की धारा में प्रवाह नहीं रह पाया था। जब काव्य-धारा में प्रवाह नहीं रह जाता अथवा उसका प्रवाह धीमा पड़ जाता है तो वह अपने आसपास 'अलंकारों' का सिवार-व्यूह जमा कर लेती है, उसका पथ रुद्ध हो जाता है। इस काल के अधिकांश कवि ऐसे ही हैं जो अपने अभ्यास और उक्ति कथन के द्वारा अपनी अचल सीमा बना लेते हैं जिससे उनकी कविताओं में प्रशंसा के योग्य गुण तो हैं, मगर वे मोड़ घूमना नहीं जानते, आगे बढ़ना नहीं चाहते अथवा नहीं जानते, निरन्तर अपनी अनुकृति स्वयं ही करते रहते हैं और अपने ही किए कामों अथवा रचनाओं से निरन्तर चोरी करते हैं। महाकवि मतिराम को ऐसी प्रतिभा का वरदान मिला था जिससे वे तत्कालीन दरबारी काव्य-परिधि से बाहर झाँक ही नहीं सके, बल्कि स्वच्छन्द विचरण करके अनमोल भावों की काव्य-लड़ियाँ भी पिरो सके हैं।

महाकवि मतिराम के लिए भी शृंगार अधिक प्रिय होने तथा रीति काव्यों की सृष्टि करने के कारण पूर्ववर्ती कवियों के भावों की उपेक्षा करना कठिन रहा है, किन्तु जहाँ कहीं भी वे पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं से प्रभावित हुए हैं वहाँ भी उनकी मौलिकता विद्यमान है और परवर्ती अनेक कवियों की कविताओं पर उनकी मौलिक प्रतिभा का ऋण है जिसे वे अपनी कलात्मकता एवं उक्ति-वैचित्र्य में भी छिपा नहीं पाये हैं।

ऐसा लोक प्रसिद्ध है कि हारिल पक्षी जिस लकड़ी को पकड़ती है, उसे छोड़ना नहीं जानती और यदि उसे कहीं भूमि पर उतरना होता है तो उस लकड़ी को पंजे में दबाये ही उतरती है। यद्यपि साहित्यकारों ने इस प्रसंग की चर्चा अधिक नहीं की है, किन्तु फिर भी कुछ कवियों में मिल ही जाती है। लकड़ी के प्रति हारिल पक्षी का जैसा भाव

होता है वैसा ही भाव किसी वस्तु या प्राणी के प्रति नायक-नायिकाओं में भी दिखाया जा सकता है। महाकवि सूर और मतिराम दोनों ही ने इस लोक प्रसिद्ध लोकोक्ति को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। सूरदास के पूर्ववर्ती होने के कारण यह कहा जा सकता है कि मतिराम ने प्रभाव ग्रहण किया होगा, किन्तु सूरदास जी द्वारा दी गई उपमा को मतिराम ने संगति और नवजीवन दिया है, जिससे वर्णन अधिक प्राणवान हो उठा है इसमें सन्देह नहीं।

'हमारे हरि हारिल की लकरी।

मन क्रम बचन नंद नंदन उर यह दृढ़ करि पकरी,
जागत सोवत स्वप्न दिवस निस कान्ह-कान्ह जकरी।' —सूरदास

× × ×

'आयौ हौ सयानप गयो है अजान मन,
तौ हू उठि मान करिबे की टेक पकरी,
घर-घर मानिनी हैं मानती मनाये ते वै,
तेरी ऐसी रीति और काहू में न जकरी।

कवि 'मतिराम' का रूप घनश्याम लाल,
तेरी नैन कोर ओर चाहैं एक टकरी,
हा–हा कै निहोरे हू न हेरित हरिन नैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी॥' —मतिराम

सूर की नायिका के लिये हरि हारिल की लकड़ी के समान है, किन्तु मतिराम की मानिनी नायिका का हठ हारिल की लकड़ी के समान है। हारिल अपनी लकड़ी का त्याग करती ही नहीं, किन्तु सूर की नायिका से हरि दूर हो गये हैं जिनके अभाव में वह केवल यह भाव व्यक्त करती है कि वह कृष्ण के अभाव में उसी प्रकार नहीं रह सकती जिस प्रकार कि हारिल पक्षी लकड़ी के अभाव में, किन्तु उसके कथन में गम्भीरता इसलिये नहीं है कि वह कृष्ण के अभाव में रह रही है। मतिराम का प्रयोग अधिक समीचीन एवं जीवन्त है। मानिनी नायिका का मान चल ही रहा है, वह अपना हठ उसी प्रकार नहीं छोड़ रही है जैसे हारिल पक्षी अपनी लकड़ी नहीं छोड़ती। इसके अतिरिक्त उपमानों द्वारा भाव साम्य ही दिखाना सम्भव होता है जिससे यदि उपमेय भी एक प्रकार का भाव ही हो तो अधिक संगत होता है। इसे महाकवि मतिराम ने भलीभाँति परखा है और हारिल की लकड़ी की उपमा 'हठ' से ही दी है जो मानिनी नायिका का एक भाव ही है।

जनक नन्दिनी सीताजी के केश-पाश में गुँथी मुक्तायें अपने धवल गुण को त्याग केशों की श्यामता ग्रहण कर लेती हैं जिससे वे मरकत मणियों सी प्रतीत होने लग जाती हैं, किन्तु जब सीता जी उन्हें केशपाशों से निकाल कर अपने हाथों में ले लेती हैं तो पुनः वे अपना पूर्व रूप धारण कर लेती हैं अर्थात् धवल दिखाई पड़ने लग जाती हैं जिसका वर्णन तुलसीदास जी ने किया है—

'केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत,
हाँथ लेत पुनि मुकता करत उदोत।' —तुलसी

मोतियों में जब ऐसी विशेषता है कि जिस किसी वस्तु के सम्पर्क में वे आती हैं, उसी का रंग ग्रहण कर लेती हैं तो क्या वे हाथों में आकर सीता जी के हाथों का रंग नहीं ग्रहण कर सकती ! यदि वे सीता जी के हाथों का रंग ग्रहण कर लेती हैं तो उनका पूर्व रूप कहाँ रह जाता है, इस सम्भावना से महाकवि मतिराम पूर्ण परिचित जान पड़ते हैं—

'मुकुत हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत।' —मतिराम

श्रीकृष्ण के गले में पड़ी मोतियों की माला उनके अंगों की श्यामता ग्रहण कर लेने के कारण मरकत की माला बन जाती है, जिसके पूर्व रूप को प्रकट करने के लिये मतिराम ने उसे हाथों में लेना उपयुक्त नहीं समझा, बल्कि राधिका के मृदु मुस्कानों में उसे डुबो दिया है। मुस्कान का रंग श्वेत माना गया है, इसका संकेत तो इस प्रसंग से लग ही जाता है साथ ही साथ एक ही दोहे में कवि राधा और कृष्ण दोनों ही की स्वाभाविक सुषमा का सफल वर्णन करके पूर्व रूप अलंकार की सुन्दर योजना कर सका है।

महाकवि केशव और मतिराम दोनों ही 'बाला' की मृदु मुस्कान पर रीझे हैं। 'कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इस मन्द हास्य को लेकर दोनों कवियों ने खूब परिभ्रमण किया है। जिस प्रकार केशव दास को 'भोरी गोरी की थोरी-थोरी हाँसी' को देखकर नाना प्रकार के संदेह उठे हैं कि वह मंद हास्य अमुक-अमुक वस्तु तो नहीं है, उसी प्रकार मतिराम के मतिमुकुर पर भी ऐसे ही अनेक संदेहों के मनोरञ्जक प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ते हैं।'[1]

'किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति,
किधौं चारु मुखचन्द्र चन्द्रिका चुराई है;
किधौं मृगलोचनि मरीचिका मरीचि किधौं,
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की दसन घन दामिनी की,
केशव चतुर चित ही की चतुराई है;
एरी गोरी भोरी तोरी थोरी-थोरी हाँसी मेरी,
मोहन की मोहनी कि गिरा की गोराई है।।' —केशव

× × ×

'बानी को बसन कैधौं बात के बिलास डोले,
कैधौं मुखचन्द्र चारु चन्द्रिका प्रकास है;
कवि 'मतिराम' कैधौं काम को सुजस कै,
पराग पुंज प्रफुल्लित सुमन सुबास है।

1. मतिराम ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० ११८।

नाक नथुनी के गज मोतिन की आभा कैधों,
देहवंत प्रकटति हिए को हुलास है;
सीरे करिबे को पिय नैन घनसार कैधों,
बाल के बदन विलसत मृदु हास है ॥' —मतिराम

'केशवदास के गिरा की गोराई' मतिराम के 'बानी के बसन' से भले ही अच्छी हो, किन्तु छन्द के अन्तिम पद में भावों की मार्मिकता कवि प्रतिभा के अनुकूल ही है। 'मतिराम का यह सन्देह उठाना कि यह बाला का मृदु हास्य है, या उसके प्रियतम के युगल नेत्रों को शीतल करने वाला शुभ घनसार-खंड है।' हास्य के सम्बन्ध में घनसार का सन्देह उठाना अत्यन्त संगत है, क्योंकि दोनों का ही रंग श्वेत होता है।

पूर्ववर्ती कवियों में कविवर रहीम की कविताओं का सबसे अधिक प्रभाव महाकवि मतिराम की कविताओं पर पड़ा है। उनके बरवै नायिका-भेद के अनेक उदाहरण तो 'रसराज' में कुछ हेर-फेर के साथ ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं। दोनों कवियों ने मुग्धा अभिसारिका का रस लेकर वर्णन किया है—

'चली लिवाइ नवेलि अहि, सखि सब संग।
जस हुलसत गो गोदवा, मत्त मतंग ॥' —रहीम

× × ×

'चली अली नव लाहि लै, पिय पै साजि सिंगार।
ज्यों मतंग अँड़दार को, लिये जात गड़दार ॥' —मतिराम

निश्चित ही 'अँड़दार मतंग' के लिये 'गँड़दार' की कल्पना मतिराम की मौलिक प्रतिभा का द्योतक है। मुग्धा अभिसारिका सोल्लास अभिसार स्थल पर कभी भी नहीं जा सकती। उसे ले जाना सखियों की चतुरता एवं प्रभाव पर अधिक आश्रित रहता है जिसमें सखियों की इच्छा ही अधिक प्रधान होती है। जिस प्रकार अड़ियल मतंग के लिये महावत के अंकुश की नितान्त आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अभिसार स्थल पर जाने में हिचकने वाली मुग्धा नायिका के लिये महावतरूपी सखियों के प्रभावरूपी अंकुश की अपेक्षा रहती है।

मतिराम के वर्णन में जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि वे पाठक के लिये सन्देह की कहीं भी गुंजाइश नहीं रखते। कार्य-कारण की असंगति अथवा अधूरा वर्णन उनकी रचनाओं में बहुत ही कम मिलता है। एक ही प्रसंग का वर्णन कविवर रहीम और मतिराम दोनों ने किया है, किन्तु मतिराम का वर्णन रहीम से कहीं अधिक पूर्ण है—

'बाहर लै के दियवा, बारन जाय।
सास ननद घर पहुँचत देत बुझाय ॥' —रहीम

'बार-बार वा गेह सों बारि-बारि लै जात।
काहे तें बिन बात ही, बाती आब बुझाति ॥' —मतिराम

मतिराम की नायिका रहीम की नायिका की भाँति मूर्खा नहीं है कि दीपक बुझने का कारण न बता सके, बल्कि वह प्रगल्भा है जिससे सम्भावित प्रश्नों को वह स्वयं अपने से ही कर लेती है।

कृष्ण-काव्य के आलंबन होने के नाते रसखान और मतिराम दोनों रससिद्ध कवियों की कविताओं में कहीं-कहीं भावसाम्य पाया जाता है, किन्तु जिन बातों को रसखान कवि ने स्पष्ट शब्दों में कह दी है, मतिराम ने उसी को ऐसा घुमा-फिरा कर कहा है कि कविता में चमत्कार आ गया है। 'रसखान जी की राय में सारे ब्रजमंडल में कोई भी 'भट्ट' ऐसी नहीं है जिसको कृष्णचन्द्र ने 'लट्टू' न किया हो। अर्थात् सभी पर ब्रजराज का स्पष्ट प्रभाव है पर मतिराम जी ने उन बालाओं को शाबाशी देने के लिये तैयार हैं, जो ब्रजराज को देख चुकने के बाद भी लज्जा को सम्भालती हुई गृह-काज में लगी पाई जायँ। इसका तात्पर्य यह है कि मनमोहन के दर्शन के के बाद ब्रजयुवती का अपने आप में रहना असंभव है।''[1] स्पष्ट कह देने से व्यंजना में कहना अधिक काव्यात्मक होता है जो मतिराम में रसखान से अधिक विद्यमान है—

'कौन ठगोरी भरी हरि आज बजाई है बाँसुरिया रस-भीनी,
तान सुनी जिनहीं जितहीं तिनहीं तिन लाज बिदा कर दीनी।
घूमें खरी-खरी नन्द के द्वार नवीनी कहा अरु बाल प्रवीनी,
या ब्रजमंडल मैं रसखान सु कौन भट्ट जु लट्टू नहिं कीनी।' —रसखान

'आनन चन्द निहारि-निहारि नहीं तनु औ धन जीवन वारैं,
चारु चितौनि चुभी मतिराम हिए मति को गहि ताहि निकारैं।
क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसारैं।
ते धनि जे ब्रजराज लखैं गृह-काज करै अरु लाज सम्भारैं॥' —मतिराम

मतिराम के अनेक सरस एवं स्वाभाविक दोहों को बिहारी ने अपनी कलात्मकता के माध्यम से कहना चाहा है जिसकी चर्चा हम पूर्व ही कर आये हैं। जहाँ तक भूषण के प्रभावित होने का प्रश्न है उसका भी स्पष्टीकरण पूर्व प्रसंगों में ही हो चुका है। परवर्ती कवियों में महाकवि देव और पद्माकर दो ऐसे महाकवि रहे हैं जो अनेक दृष्टियों से महाकवि मतिराम के निकट दिखाई पड़ते हैं। रात्रिकाल में छत पर सोये पति के पास रति-कामना से जाती हुई लज्जाशीला नायिका का दोनों ही कवियों ने वर्णन किया है। मतिराम की नायिका अपने पूर्ण यौवन में शृंगार किए हुए जब सीढ़ियों पर चढ़ने लगती है तो किंकिणी बज उठती है जिससे यह अनुमान करके कि घर के श्रेष्ठ लोग यह जान जायेंगे कि वह रति-कामना से छत पर पति के पास गई थी, नूपुरों के रणित न होने देने के लिए जीभ को दांतों में दबाकर चलती है। जीभ दबाने से लज्जा का भाव तो स्पष्ट हो ही जाता है, साथ ही साथ यह भी पता लग जाता है कि जीभ दबाकर चलने से संपूर्ण शरीर में एक प्रकार की सावधानी आ जाती है जिससे नूपुर नहीं बजते। यह अलंकृत पद महाकवि देव

१. मतिराम ग्रन्थावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, द्वि० सं०, पृ० १७१।

को तो इतना पसन्द आया है कि भाव की कौन कहै, उन्होंने छन्द का अन्तिक पद हो ज्यों का त्यों उठाकर अपनी कविता में रख लिया है—

'सहज सुबासयुत देह की दुगुनि दुति,
दामिनि दमक दीप केसरि कनक ते;
मतिराम सुकवि सुमुखि सुकुमारि अंग,
सोहत सिंगार चारु जोबन बनक ते।
सोइबे को सेज चली प्रान पति प्यारे पास,
जगत जुन्हाई जोति हँसनि तनक ते;
चढ़त अटारी गुरु लोगनि का लाज प्यारी,
रसना दसन दाबे रसना झनक ते। —मतिराम

× × ×

'नेवर के बजत कलेवर कंपत देव,
देवरु जगै न लगा सोवत तनक ते;
ननद नछोछी त्योरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसी बिषु बगरावैगो भनक ते।
देखिए कठिन साथ गहौ जू न हठि हाथ,
कैसे कहौं जादु नाथ आए हो बनक ते;
बसना हमारे रँग रसना बजत चौंकि,
रसना दसन दाबे रसना झनक ते॥' —देव

मतिराम की नायिका स्वयं पति के पास जाना चाहती है अथवा जाती है, किन्तु देव का नायक स्वयं नायिका के पास जाता है और नायिका 'रसना' शब्द से चौंकती है। देव में चमत्कार अधिक है, किन्तु मतिराम की सी स्वाभाविकता उनमें कहाँ।

शुक्ला अभिसारिका चाँदनी रात में धवल वस्त्र धारण करके अभिसार के लिए जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि शुक्लाभिसारिकाओं की वेश-भूषा इस प्रकार की होती है कि वह चन्द्र-ज्योत्सना में छिप जाय। इसके लिए ही वह नाना प्रकार के कृत्रिम उपादानों की सहायता लेती है। मतिराम ने शुक्लाभिसारिका का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है जिसका प्रभाव आचार्य भिखारीदास तथा पद्माकर पर समान रूप से पड़ा है।

'अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीरफेन कैसी आभा उफनाति है;
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरन,
कुसुम-कलित केस सोभा सरसाति है।
कवि मतिराम प्रानप्यारे को मिलन चली,
करिकै मनोरथनि मृदु मुसकाति है;

होति न लखाई निसिचन्द की उज्यारी मुख,
चंद की उज्यारी तन छाहौं छपि जाति है।' —मतिराम

× × ×

'किंसुक के फूलन के फूलन विभूषित कै,
बाँधि लीनी बलया विगत कीन्हीं बजनी;
ता पर सँवाऱ्यो सेत अंबर को डंबर,
सिधारी स्याम सन्निधि निहारी काहू न जनी।

छीर के तरंग की प्रभा को गहि लीन्ही तिय,
कीन्हीं छीर-सिंधु छिति कातिक की रजनी;
आनन-प्रभा तन छाँह हूँ छपाए जात,
भौंरनि की भीर सँग लाए जात सजनी।' —दास

× × ×

'जुवति जुन्हाई सों न कछु और भेद अवरेखि।
तिय आगम पिय जानिगो चटक चाँदनी पेखि॥' —पद्माकर

दास जी के उपादान कुछ स्वभाव-विपरीत हो गये हैं। उन्होंने किंसुक का प्रयोग कार्तिक मास की शरद् निशा में कराया है जब कि वह वसन्त में फूलता है। पद्मिनी नायिकाओं के पीछे भ्रमरों का उड़ना सर्वथा स्वाभाविक है, पर रात्रि में उड़ना काल विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त भ्रमरों के उड़ने से नायिका का अभिसार खंडित हो सकता है, क्योंकि वह अपने को छिपाने में असमर्थ पा रही है। मतिराम जी का वर्णन अत्यंत स्पष्ट एवं स्वाभाविक है। उनकी नायिका की श्वेत आभा में चन्द्रमा स्वयं छिप जाता है। इसी भाव को पद्माकर ने भी उपरोक्त दोहे में कहना चाहा है, अन्तर इतना ही है, कि उनकी नायिका अपनी श्वेत आभा से चाँदनी को और चटकीली ही बना पाती है। इस प्रकार पद्माकर की नायिका चाँदनी में ही अंतर्भुक्त हो जाती है।

मतिराम और पद्माकर दोनों ने ही कृष्ण के प्रति गोपियों की विह्वलता का वर्णन किया है। मतिराम के ही छन्द का भावापहरण पद्माकर की कविता में हुआ है किन्तु नवीनता लाने को कौन कहे, अनुप्रास के चक्कर में पड़ने के कारण मतिराम की सहज स्वाभाविकता भी उसमें नहीं रह पाई—

'निसि दिन स्रौनन पियूष-सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर-ग्राम को;
तरनि-तनूजा-तीर बन-कुंज-वीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखियत रूप छबि-धाम को।
कवि 'मतिराम' होत हाँतो ना हिये तैं नेक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को;

ऊधो तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करें जो बियोग होय स्याम को।' —मतिराम

× × ×

'प्राणन के प्यारे तनु-ताप के हरन हारे,
नंद के दुलारे ब्रज वारे उमहत हैं;
कहै 'पद्माकर' उरूझे उर अन्तर यों,
अन्तर चहेहू ते न अन्तर चहत हैं।
नैनन बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं, रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं;
ऊधो; वै गोविन्द कोई और मथुरा मैं, यहाँ
मेरे तो गोविन्द मोहिं मोहिं में रहत हैं।' —पद्माकर

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने तथा परवर्ती कवियों पर अपना अतुल प्रभाव डालने में मतिराम की काव्य-प्रतिभा एवं मौलिकता का विशेष हाथ है।

उपसंहार

प्रस्तुत विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर लेने से स्पष्ट हो गया कि कविता में अलंकरण की प्रवृत्ति समाजगत होती है, जिसका सम्बन्ध उसके बाह्य पक्षों से ही नहीं, बल्कि मूलतः उसके आंतरिक पक्षों से ही होता है। अलंकरण की प्रवृत्ति एक प्रकार के विशिष्ट समाज में होती है जो काव्यकला को प्रभावित करता रहता है। मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता को अलंकरण के क्षेत्र में संस्कृत साहित्य का दाय भी मिला था और सौभाग्य से उसे अपने रचना काल में मनोनुकूल सामन्ती समाज भी मिल गया। संस्कृत साहित्य में अलंकरण की प्रवृत्ति का उदय क्षत्रिय संस्कृति के उदय अथवा राजन्य संस्कृति के विकास के साथ ही साथ हुआ था, जिसने चित्र, मूर्ति, संगीत तथा काव्य आदि विविध कलाओं को समान रूप से प्रभावित किया था।

आदिकवि वाल्मीकि तथा कालिदास की स्वाभाविक अलंकृत काव्य-परम्परा को जब पूर्ण रूपेण राजाश्रय प्राप्त हो गया तब उनमें अलंकृत भावना का चरम विकास हुआ। भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष की रचनाओं को प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है। प्रभूत मात्रा में अलंकृत काव्यों की सृष्टि हो जाने पर यह नितांत आवश्यक था कि उन्हें किसी न किसी प्रकार से शास्त्रीय रूप दिया जाता और विद्वानों द्वारा वैसा किया भी गया। प्राप्त अलंकृत काव्यों को दृष्टि में रखते हुए लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिसने आगे आने वाले कवि-समाज के लिये मार्ग-निर्देशन का कार्य किया। इस भावना की बढ़ती हुई प्रगति ने काव्य-रूपों को भी प्रभावित किया जिससे महाकाव्यों अथवा प्रबन्ध काव्यों का स्थान धीरे-धीरे चमत्कार एवं अलंकार प्रयोग के अनुकूल साहित्य-रूप खंड काव्य अथवा मुक्तक काव्यों ने ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। कविताओं के अतिरिक्त नाटक के गीतों तथा गद्य में लिखी जाने वाली आख्यायिकाओं तक पर भी इस अलंकृत काव्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ साहित्य एवं उसके माध्यम भाषा में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। धीरे-धीरे संस्कृत का स्थान जन भाषाओं ने लेना आरम्भ कर दिया, किन्तु संस्कृत साहित्य की समृद्धि को एक भी आगे आने वाली भाषा चुनौती देने मे समर्थ न हो सकी, भले ही वह साधारण बोलचाल की भाषा न रह पायी थी और हम देखते हैं कि १७ वीं शताब्दी के आसपास तक पंडितराज जगन्नाथ ऐसा विद्वान् संस्कृत में 'रस गंगाधर' जैसा उत्कृष्ट शास्त्र ग्रन्थ लिखने का मोह नहीं छोड़ सका। ऐसी भी बात नहीं थी कि उससे उन्हें सम्मान न मिला हो। उस रचना ने तो उन्हें ऐसा सम्मान दिलाया कि 'शाहजहाँ' ऐसे मुसल्मान बादशाह ने आदर से बुलाकर पंडितराज की पदवी से विभूषित भी किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य का सम्पर्क किसी न किसी रूप में भारतीय जनता से हिन्दी के मध्यकालीन कविता काल तक बना रहा, जिससे हिन्दी कवियों को उससे सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ, किन्तु विलक्षण बात यह रही कि संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों ने काव्यग्रन्थों की अपेक्षा हिन्दी कविता को अधिक प्रभावित किया है। इसका मूल कारण यही है कि संस्कृत काव्यकाल की परिस्थितियों और हिन्दी काव्यकाल की परिस्थितियों में स्पष्ट अन्तर आ गया था। संस्कृत काव्यों की रचना-भूमि राजपूती भारतीय राजाओं के दरबार थे और हिन्दी कविता की रचनाभूमि विशेषकर मुसलमानी विदेशी बादशाहों अथवा उनसे प्रभावित सामन्तों के दरबार थे। यही कारण है कि अनुवादों एवं भावानुवादों के माध्यम से जितनी सामग्रियाँ आ सकीं उनमें शास्त्र ग्रन्थों की मात्रा अधिक थी, क्योंकि हिन्दी कवि संस्कृत से परिचित थे और संस्कृत की प्रभूत सामग्री रहते हुए हिन्दी में मौलिक काव्य शास्त्र लिखने का श्रम नहीं उठाना चाहते थे। किन्तु रचनाओं के लिये आवश्यक था कि वे समसामयिक हों, जिससे मध्यकालीन विलासी समाज की पूर्ण अभिव्यक्ति मध्यकालीन हिन्दी के शृंगारी मुक्तकों में हुई है।

मध्यकालीन हिन्दी कविता के प्रथम आह्वान में संस्कृत काव्यों का भी प्रभाव लक्षित होता है जिसमें विद्यापति, सूर, तुलसी एवं केशव की रचनाएँ हुई हैं और उस काल में अपेक्षाकृत प्रबन्ध काव्यों की भी रचनाएँ अधिक हो सकी हैं पर केशव के बाद की रचनाओं में मुक्तकों का एकच्छत्र राज-सा ही हो गया, जिनमें फुटकल नीति अथवा उपदेशपरक कविताओं को छोड़कर शृंगारिक कविताओं की ही भरमार थी; जिनके माध्यम से राधाकृष्ण का नाम लेकर नायिकाओं की भाव-भंगियों तथा नायकों के साथ उनकी छुकाछिपी का ही वर्णन किया जाता रहा। मीरा तथा रसखान आदि जैसे एकाध कवि भले ही मिल जायँ जिन्होंने कि तन्मयता के साथ भक्तिपरक कविताएँ लिखी हों। गद्य का तो नितान्त अभाव सा हो हो गया। शृंगारी मुक्तकों पर भी जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है संस्कृत की ऐहिकतापरक कविताओं का ही प्रभाव है, किन्तु वर्णन शैली एवं वाग्विदग्धता पर पूर्णतः उर्दू एवं फारसी साहित्य का ही प्रभाव रहा है। स्वाभाविकता इस क्षेत्र के कवियों में बहुत कम पाई जाती है। मतिराम ऐसे एकाध कवि भले मिल जायँ जो रीति ग्रन्थों की रचना करने के साथ-साथ अपनी स्वाभाविकता को भी अक्षुण्ण रख सके हों।

इस काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी है, किन्तु अपने सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है जिससे उनके सम्बन्ध में जानने के लिये दरबारी तथ्यों का ही सहारा रह जाता है। लक्षण ग्रन्थों की भरमार हो गई तथा मुक्तक संग्रह भी शतक अथवा सतसई के नाम से अनेक लिखे गये। मध्यकालीन हिन्दी कविताओं की समस्त प्रवृत्तियों का समन्वित रूप मतिराम की रचनाओं में मिलते हुए भी जो उनकी अपनी विशिष्टता स्वाभाविकता के रूप में अक्षुण्ण है, उनकी कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। मतिराम के जीवन-काल तथा रचना-काल के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये भी अनेक समकालीन कवियों की रचनाओं तथा दरबारी तथ्यों तक भटकना पड़ा है। मध्यकालीन कवियों में मतिराम का स्थान स्पष्ट करने के लिये समस्त मध्यकालीन कवियों

की विशिष्ट रचनाओं को सम्मुख तो रखना ही पड़ा है, इसके अतिरिक्त उस काल की प्रवृत्ति को पूर्णतः समझने के लिये संस्कृत साहित्य से छन कर आई समस्त शास्त्रीय प्रवृत्तियों का भी संक्षेप में उल्लेख करना पड़ा है। मतिराम लक्षणकार (नायिका-भेद तथा अलंकार वर्णन), सतसईकार तथा फुटकल छन्दकार सभी रूप में हमारे सामने आते हैं जिससे मध्य-कालीन कविता के इन विविध रूपों की तुलनात्मक व्याख्या करनी पड़ी है, साथ ही साथ नायिका-भेद तथा अलंकार-शास्त्र आदि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा करनी पड़ी है।

अन्त में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी किस प्रकार मतिराम अपनी मौलिकता का परिचय देने में सफल हो सके हैं तथा जिन परवर्ती कवियों ने मतिराम की कविताओं का भाव ग्रहण किया है, वे किस प्रकार मतिराम की प्रतिभा पकड़ पाने में असमर्थ रह गये हैं।

परिशिष्ट

❀ परिशिष्ट ❀

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत दोहों की संख्या पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित मतिराम ग्रन्थावली के अनुसार ही है। मतिराम सतसई में एक दोहा दो बार लिखा मिलता है जो क्रम से संख्या ४०७ और ६२१ पर लिखा गया है। यह भूल समान रूप से प्राप्त मतिराम सतसई की सभी प्रतियों में रह गयी है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। मैंने इस दोहे को एक बार ही लिखा है, जिससे आशीर्वाद के दो दोहों को छोड़ कर सतसई की संख्या घट कर ७०० ही रह गई है। सतसई का दोहा न० ५१० अधूरा ही मिलता है जिसे मैंने ज्यों का त्यों रहने दिया है। 'रसराज' और 'ललितललाम' में उद्धृत दोहों के सामने ग्रन्थ का नाम और उनमें जिस उदाहरण के लिये वे लिखे गये हैं, स्पष्टतः लिख दिया गया है जिसकी अनिवार्यता के लिये ही ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में मतिराम सतसई को सम्पादित करना पड़ा है। रसराज के लिये (र०) और ललितललाम के लिये (ल०) ही लिखा गया है।

मतिराम सतसई

वंदना

मो मन तम-तोमहि हरौ राधा को मुख-चंद।
बढ़े जाहि लखि सिंधु लौं नँद-नंदन आनंद ॥ १ ॥
गुंज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंजबिहारी बिहरियै मेरेई मन-कुंज ॥ २ ॥
रतिनायक सायक सुमन सब जग जीतनवार।
कुवलय दल सुकुमार तन, मन कुमार जय मार ॥ ३ ॥
राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह ॥ ४ ॥

सुंदरी वर्णन

नागरि-नैन-कमान-सर करत न ऐसी पीर।
जैसें करत गँवारि के दृग-धनुहीं के तीर ॥ ५ ॥
तन रोचित रोचन लहै, रंचन कंचन गोतु।
पिया पिया बासो दिया, छिया छिया जग होतु ॥ ६ ॥
सुत को सुनो पुरान यों, लोगनि कह्यो निहोरि।
चाहि-चाहि जुत नाह मुख मुसिक्यानो मुख मोरि ॥ ७ ॥
कंत चौक सीमंत की बैठी गाँठि जुराइ।
पेखि परौसी कौं, पिया घूँघुट मैं मुसिक्याइ ॥ ८ ॥ देखो रसराज उ०परकीया

गुरुजन दूजे ब्याह कों, प्रति दिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखे बहू, आपुन बाँझ कहाइ॥ ९॥
बरषा रितु बीतन लगी, प्रति दिन सरद उदोति।
लहलह जोति जुवार की अरु गँवारि की होति॥ १०॥
नए बिरह-अँगवानि को छिन-छिन होत उदोत।
अँखियनि लग्यो अपार वह तन-पानिप को सोत॥ ११॥
नवल नेह में दुहुनि की लखी अपूरब बात।
ज्यों सूखति सब देह है, त्यों पानिप अधिकात॥ १२॥ देखो र० तथा ललित०
कत सजनी है अनमनी, अँसुवा भरति ससंक।
बड़े भाग नँदलाल सों, झूँठहु लगत कलंक॥ १३॥

देखो रसराज उ० शिक्षा तथा ललितललाम उ० लेस।

अवगुन बरनि उराहनो ज्यों-ज्यों ग्वालिनि देहि।
त्यों-त्यों हरि तन हेरि हँसि हरषति महरिहि येहि॥ १४॥
लगनि लगे लोचन लखे जासों मोहन लाल।
करि सनेह ता बाल सों सिखै सकल ब्रज लाल॥ १५॥
तेरी औरे भाँति की दीपसिखा-सी देह।
ज्यों-ज्यों दीपति जगमगै, त्यों-त्यों बादत नेह॥ १६॥
पानिप मैं घर मीन को कहत सकल संसार।
दृग-मीननि को देखियत पानिप पारावार॥ १७॥
देखें बानिक आजु की, बारों कोटि अनंग।
भलो चल्यो मिलि साँवरे अंग रंग पट रंग॥ १८॥ ल० उ० परिकरांकुर।
अबहीं सब तुम हेरती हँसि-हँसि बातनि पागि।
मेरे चितवत नेकहीं ब्रज में लागति आगि॥ १९॥
पगी प्रेम नँदलाल के, भरन आपु जल जाइ।
घरी-घरी घर के तरे घरनि देति ढरकाइ॥ २०॥
लपटानो अति प्रेम सों दै उर उरज उतंग।
घरी एक लगि छुटे हूँ, रही लगो सो अंग॥ २१॥ देखो रस० उ० प्रौढ़ा।
नींद, भूख अरु प्यास तजि करतो हो तन राख।
जलसाई बिन पूजिहैं क्यों मन के अभिलाख॥ २२॥
जावक सों रागो पगनि हरित नगन अँगुरीन।
जावक सों रागो पगनि, मनु कीनो परबीन॥ २३॥
प्रानपियारो पग पर्‌यो, तू न लखत यहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर, तौ रचितै उरजु कठोर॥ २४॥

देखो रसराज उ० बिब्बोक-हाव तथा ललितललाम उ० द्वि० सम।

लचकौहीं-सो लंक उर, उचकौहीं-सो ऐन।
बिहसौहे-से बदन मैं लसत नचौहैं नैन॥ २५॥

ज्यों-ज्यों परसे लाल तन, त्यों-त्यों राखति गोइ।
नवल वधू लाजन ललित इंदुवधू सो होइ ॥ २६ ॥ रस० उ० नवोढ़ा।
नवल वधू के संग में अहितो बात हिताति।
ताती साँसनि के लगे छाती अति सियराति ॥ २७ ॥
सूखति है वह सुंदरो कनक-वेलि अभिराम।
वाकी तपनि मिटै, जु रस बरसो घन घनश्याम ॥ २८ ॥
नंदलाल कहिये कहा लह्यो अपूरब हार।
गुन बिहीन किंसुकनि को तिन मधि मुकुट सुधार ॥ २९ ॥
नैन बिसारे बान सों चलो बटाउइ मारि।
बचन सुधारस सींचिकै वाहि जोव दै नारि ॥ ३० ॥
हन्यो मोहि उहि नैन सों, नैननि कियो अचेत।
काढ़ि बहुरि विष आपनो ज्यों विषधर हर लेत ॥ ३१ ॥
तेरी मुख समता करी साहस करि निरसंक।
धूरि परी अरविंद मुख, चंदहि लग्यो कलंक ॥ ३२ ॥
खेलत मार सिकार है डोरे पास समेत।
नैन मृगन सों बाँधि कै नैन मृगन गहि लेत ॥ ३३ ॥
मृगपति जित्यो सुलंक सों, मृगलच्छन मृदु हास।
मृग मद जित्यो सुनैन सों, मृगमद जित्यो सुवास ॥ ३४ ॥
छपै छपाए अब नहीं, मैं पायो लखि अंक।
नाहिंन जु पै कलंक तौ कैसे बदन ससंक ॥ ३५ ॥
चौंसठि कला बिलासजुत बदन कलानिधि पेखि।
दुतिया की देखें कला को दुति याको देखि ॥ ३६ ॥
पावै ऐपन आपनो, कहै कुरंटक कौन।
सोनो सोनजुही लहै ललित देह दुति सोन ॥ ३७ ॥
तामें अनमिष नैनता किए लाल बस ऐन।
अनमिष नैन सुने न ए निरखत अनमिष नैन ॥ ३८ ॥
नारि नैन के नीर को नीरधि बढ़े अपार।
जारे जौन बियोग की बड़वानल को झार ॥ ३९ ॥ रसराज।
जातरूप रूपहि लखति बाँधत प्रभु मन ऐन।
निपट निहारे निलज ए लोनि हमारो नैन ॥ ४० ॥
रोस न कर जौ तजि चल्यो जानि अँगार गँवार।
छितिपालनि को माल में तैहीं लाल सिंगार ॥ ४१ ॥
कहा भयो मतिराम हिय, जो पहिरी नँदलाल।
लाल मोल पावै नहीं लाल गुंज को माल ॥ ४२ ॥
गुन औगुन को तनकऊ प्रभु नहिं करत बिचार।
केवक कुसुमन आदरत हर सिर धरत कपार ॥ ४३ ॥ल० उ० अर्थांतरन्यास।

भाल लाल बेंदी दिए उठे प्रात अलसात।
लोनी लाजनि गड़ि गई, लखे लोग मुसकात ॥ ४४ ॥
जो तैं पहिरे सुंदरो, सो दुति अधिक उदोतु।
तेरे सुबरन रूप तें रूपा सुबरन होतु ॥ ४५ ॥
भजे अँध्यारो रैनि मैं भयो मनोरथ काज।
पूरे पूरब पून्य तें पर्‍यो परावन आज ॥ ४६ ॥
निज बल के परिमान तुम तारे पतित बिसाल।
कहा भयो जु न हौं तरतु, तुम न खिस्याहु गुपाल ॥ ४७ ॥
कर धरि काँधे कंत के चलें लटपटी चाल।
थकित करति पथिकनि सबनि थकित पंथ में बाल ॥ ४८ ॥
नेकु न थाकत पंथ में, चलें जु कोस हजार।
चंचल लोइनि-हयनि पर भए जात असवार ॥ ४९ ॥
ललित नाक नथुनी बनो चुनो रही ललचाय।
गजमुकतनि के बिच पर्‍यो, कहो कहाँ मन जाइ ॥ ५० ॥
झूठे हो ब्रज में लग्यो मोहिं कलंक गुपाल।
सपने हूँ कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल ॥ ५१ ॥रस० उ० मोट्टइत-हाव।
चंद-किरनि लगि बाल तन उठे अंग अति जागि।
परसत कर दिनकर किरनि, ज्यों दरपन में आगि ॥ ५२ ॥रस उ०प्रौढ़ा-प्रोषित०।
दसा सुने निज बाग की लाल मानिहो झूठ।
पावस-रितु हूँ में लखें ठाढ़े ठाढ़े ठूठ ॥ ५३ ॥
तरनि-किरनि झलमलित मुख, लालो ललित कपोल।
प्यास लगावति दृगनि में प्यासो बाल अमोल ॥ ५४ ॥
लाल तिहारे संग में खेले खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नैन हो करनि कपूर लगाइ ॥ ५५ ॥रस० उ० अज्ञातयौवना।
खेलत चोरमिहीचनी परे प्रेम पहिचानि।
जानो प्रगटत परस तें तिय लोचन पिय पानि ॥ ५६ ॥
खेलत खेल सखीनि में उतै धूरि अवगाहि।
पलक न लागत एक पल इतै नाह मुख चाहि ॥ ५७ ॥
निडर बटोही बाट में ऊखनि लेत उखारि।
अरे गरीब गँवार तें काहे करत उजारि ॥ ५८ ॥
मेरे सिर कैसो लगै, यों कहि बाँधी पाग।
सुंदरि रति बिपरीति में प्रगट कियो अनुराग ॥ ५९ ॥रस० उ० लीला-हाव।
नहिं सुहाइ परगोत है गोत आपनो पाइ।
बिदा करी कुल-कानि को नैननि नैन बसाइ ॥ ६० ॥
ग्रीषम हूँ रितु में भरो दुहूँ कूल पैराव।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गांव ॥ ६१ ॥

हियो हिए सों मिलि चल्यो, नैन चले मिलि नैन।
इतै - उतै मारो फिरै, लाज कहूँ ठहरै न ॥ ६२ ॥
बसिवे को निज सरवरनि सुर जाको ललचाहिं।
सो मराल बक-ताल में पैठन पावत नाहिं ॥ ६३ ॥
अद्भुत या धन को तिमिर, मो पै कह्यो न जाइ।
ज्यों-ज्यों मनिगन जगमगत, त्यों-त्यों अति अधिकाइ ॥ ६४ ॥
कहा दवागिनि के पिएँ कहा धरें गिरि धीर।
बिरहानल में बरत जो बूड़त लोचन नीर ॥ ६५ ॥ल० उ० पंचम प्रतीप।
सतरौहों भौंहनि नहीं दुरै दुराए नेह।
होति नाम नँदलाल की दीपमाल सी देह ॥ ६६ ॥रस० उ० लक्षिता० ल०चं०
सूखी सुता पटेल की सूखी ऊखनि पेखि।
अब फूली-फूली फिरै फूली अरहर देखि ॥ ६७ ॥
चपल चित्त बेधो निरखि, याही डरनि दुराति।
नैन बान वै देखि कै लाज नहीं ठहराति ॥ ६८ ॥
भलो एक मन हीं गह्यो सज्जनता को नेम।
दृगनि मारि घायल कियो, तासों बाँधत प्रेम ॥ ६९ ॥
कोटि-कोटि मतिराम कहि जतन करो सब कोइ।
फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहूँ होइ ॥ ७० ॥
पानिपयूख पयोधि में नेक नहीं ठहराइ।
नैन मीन ए पलक में मन जहाज गिलि जाइ ॥ ७१ ॥
पानिप पूर पयोधि में रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ ॥ ७२ ॥
कंटक काढ़त लाल की चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि ॥ ७३ ॥
सुबरन बरन सुबास जुत, सरस - दलनि सुकुमार।
ऐसे चंपक कों तजै, तै ही भौंर गँवार ॥ ७४ ॥ल० उ० प्रस्तुतांकुर।
देखे हूँ बिन देखि हूँ लगी रहै अति आस।
कैसे हूँ न बुझाति है, ज्यों सपने की प्यास ॥ ७५ ॥
सखिन दियो उपदेस जो, नहिं कैसेहुँ ठहरात।
नवल नेह चित चीकने ढरकि तोय लौं जात ॥ ७६ ॥
सौंहनि करि पाँइनि परयो तेरे रिसैं उदोति।
नाह नेह तोमें रुख्यो, तू कत रूखी होति ॥ ७७ ॥
भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहि बढ्यो लोचन लाज सरोज ॥ ७८ ॥
लई जु पीर जनाइ के करि मिलाप की आस।
मन उदास अजहूँ रहै, ऊँची लही उसास ॥ ७९ ॥

नैन मिली मन हूँ मिली, बातनि मिलो बनाइ।
क्यों न मिलावति देह सों नेह-रहचटो लाइ॥ ८०॥
लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सो छुट्यो सनेह।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिबैं देह॥ ८१॥
दुरजन वे निंदित रहैं, गुरुजन गारी देत।
सहियत बोल कुबोल ए, लाल तिहारे हेत॥ ८२॥
लगे लूत के जाल ए, लखो लसत इहि भौन।
जानि कुहू-रजनो मनो कियो नखत-गन गौन॥ ८३॥
मेरे तन के रोम ए, मेरे नहीं निदान।
उठि आदर अगमन करैं, करौं कौन विधि मान॥ ८४॥रस० उ० म० नायिका।
अनमिख लोचन बाल के, यातें नंदकुमार।
गई मीच परसत पजरि बिरहानल की झार॥ ८५॥रस० उ० जड़ता।
जलद निकासो रैनि दिन, रहै नैन झरि लागि।
बादति जाति बियोग की विद्युत की-सी आगि॥ ८६॥
मौर नूत नूतन रहे, देखि धरैं क्यों धीर।
मनो मनोज महीप के तीरनि भरे तुनीर॥ ८७॥
दिपै देह दीपति गयौ दीप बयारि बुझाइ।
अंचल ओट किए तऊ चली नवेली जाइ॥ ८८॥
ऐसे बोलो बोल बलि, जैसे याहि सुहात।
बेलि नवेली कनक की झुकति तनक ही बात॥ ८९॥
सारी लटकति पाट की, बिलसति फुँदी लिलार।
मनो रूप-मंदिर बँधे सुंदर बंदनवार॥ ९०॥
पति आयो परदेस तें, हिय हुलसी अति बाम।
टूक-टूक कंचुक कियौ करि कमनैती काम॥ ९१॥रस०उ० आगतपतिका।
लाल तिहारे नैन सर अचिरज करत अचूक।
बिन कंचुक छेदैं करैं छाती छेद छटूक॥ ९२॥
पिय के दरपन मैं निरखि प्रतिबिंबित निज रूप।
बाल लाल मुख लखि भई रिस भरि भौंह अनूप॥ ९३॥
और बाल कहियै कहा, सुनियै नंदकुमार।
बिरह आँच साँचे भए याके अंक अँगार॥ ९४॥
ललित लाइ की लटप-सी चली जाति जहँ नारि।
बिरह-अगिनि की झार तहँ जारि जात झौंकारि॥ ९५॥
जहाँ तहाँ रितुराज मैं फूले किंशुक-जाल।
मानहु मान मतंग के अंकुश-लोहू लाल॥ ९६॥
बितैं सिसिर रितुरजनि के मधुर प्रताप सुबैन।
जाग्यो मैन महीप सुनि पिक बंदिनि के बैन॥ ९७॥

होत दसगुनो अंकु है दिएँ एक ज्यों बिंदु।
दिएँ दिठोना यों बढ़ो आनन आभा इंदु॥ ९८॥
तूँ सोने को सटक है, रही और गुन पागि।
बिन लागे पीरहि करै, रहै पीर उर लागि॥ ९९॥
मान जनावति सबनि कौं, मन न मान को ठाट।
बाल मनावन कौं लखै लाल तिहारी बाट॥ १००॥ रसराज उ० लघुमान।
नखतावलि नख, इंदु मुख, तनु दुति दीप अनूप।
होति निसा नँदलाल मन लखे तिहारो रूप॥ १०१॥
इतै-उतै सचकित चितै चलै डुलावति बाँह।
डीठि बचाइ सखीन की छिन इक निरखति छाँह॥ १०२॥
साँझ समै वा छैल की छलनि कही नहिं जाइ।
बिन डर बन डरपाइ कै लियो मोहि उर लाइ॥ १०३॥ र० उ० क्रिया-चतुर ना०
राति अँध्यारो झझकि झुकि झूँठे ही भय भागि।
ललित बाल मन मालती, रहो लाज उर लागि॥ १०४॥
हम सों तुम सों लाल इत नैननि ही को नेह।
उत प्यारी के दृगनि के सलिल सींचियत देह॥ १०५॥ र० उ० प० खंडिता।
जैतवार यह मार सों अकस करो जिन चेत।
भामिनि भौंह कमान के गोसा ही गहि लेत॥ १०६॥
सुधा मधुर तेरो अधर, सुन्दर सुमन सुगंध।
पीव जीव को बंध यह, बंध जीव को बंध॥ १०७॥ र० उ० प्रौढ़ा स्वा०
पग जराइ की गूजरी, नथुनी मुकुत सुढार।
घने घेर को घाँघरो, घूँघरवारे बार॥ १०८॥
चंदन तिलक लिलार में ऐसी मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगै मनो दीप की ज्योति॥ १०९॥
मन तें नैननि कौं चली, नैननि ते मन काज।
है दीपक की छाँह लौं बीच बिलानी लाज॥ ११०॥
पीन पयोधर-भार यह धरै छीन कटि ऐन।
छोटे मुख में लसत हैं बड़े-बड़े ए नैन॥ १११॥
तेरे मुख की मधुरई जो चाखो चख चाहि।
लगत जलज जंबीर-सो चंद चूक-सो ताहि॥ ११२॥
तेरो मुख छबि लखि लखै होत चंद ता तूल।
कंद खाइ कै चूसिए ज्यों रूसे को फूल॥ ११३॥
निज नीचे कौं निरखि नित ऊँचे होत उरोज।
यातें मुख के होत हैं नीचे नैन-सरोज॥ ११४॥
ज्यों-ज्यों ऊँचे होत हैं उरज बाल के ऐन।
सब सौतिन के होत हैं त्यों-त्यों नीचे नैन॥ ११५॥

जब-जब चढ़त अटानि दिन चंदमुखी यह बाम।
तब-तब घर-घर धरत हैं दीप बारि सब गाम॥ ११६॥
छवत परस्पर हेर कें राधा नंदकिसोर।
सबमें वेई होत हैं चोर-मिहचनी चोर॥ ११७॥रस० उ० संयोग०।
खंजन कमल चकोर अलि जिते मीन मृग ऐन।
क्यों न बड़ाई को लहैं तरुनि तिहारे नैन॥ ११८॥
अँसुवा बरुनी ह्वै चलत जल चादर के रूप।
अमल कपोलनि को झलक झलकति दीप अनूप॥ ११९॥
कुच तें श्रम जलधार चलि मिलो रुमावलि रंग।
मनो मेरु के तरहटी भयो सितासित संग॥ १२०॥रस० उ० मध्यमा०।
सरदागम पिय-आगमन, जगी जोति मुख इंदु।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरबिंदु॥ १२१॥
मो मन सुक लौं उड़ि गयौ, अब क्यों हूँ न पत्याइ।
बसि मोहन बनमाल में रह्यो बनाउ बनाइ॥ १२२॥रस० उ० अभिलाष।
बेंदी ललित मसूर की लसति सलोने भाल।
मनो इंदु के अंक में इंदु-कामिनी लाल॥ १२३॥
फिरि-फिरि आवत द्वार तें झूठे झुकि अलसाति।
लेति आगि तितनो बहू, जो बीचहीं बुझाति॥ १२४॥
अमल कपोलनि मैं अरुन झलकनि पीक अनूप।
उठी मनो रबि-किरन सों आगि लपट के रूप॥ १२५॥
बार-बार वा गेह सों बारि-बारि लै जाति।
काहे तें बिन बात ही बाती आजु बुझाति॥ १२६॥
नीठि-नीठि आगें परै, पैगु परयौ जनु फंद।
को न होति गति मंद है लखि तेरी गति मंद॥ १२७॥
नैन जोरि मुख मोरि हँसि नैसुक नेह जनाइ।
आगि लेन आई, हियें मेरे गई लगाइ॥ १२८॥रस० उ० उपपति।
सुबरन बेलि तमाल सों घन सों दामिनि देह।
तूँ राजति घनस्याम सों राधे सरस सनेह॥ १२९॥
है साँचो कैधौं भयो मेरोई मति-भंग।
आजु बदलि काहे गयो बदलि बसन तन रंग॥ १३०॥
सुरत अंत मुख अमित है भोर भए निसि जागि।
उर सोई लागी अज्यों, जो उर सोई लागि॥ १३१॥
दूनी मुख में छबि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करति रसोई नारि॥ १३२॥
जब तें मिलि बरुनीनि सों अच्छिन की छबि अच्छ।
जनु अवनीप अनंग के तरल तुरंग सपच्छ॥ १३३॥

लसत बूँद अँसुवानि के बरुनिनि छोर उदार।
दृग तुरंग झूलनि मनो, झलकत मुकत सुढार॥ १३४॥
मानहु मैं बिन भूषननि धरति अधिक छवि अंग।
नैन तरंगनि तें भए तरल तुरंग सुरंग॥ १३५॥
ज्यों-ज्यों छबि अधिकाति है नवल बाल मुख-इंदु।
त्यों-त्यों मुरझत सौति को अमल बदन अरबिंदु॥ १३६॥
अंजन जुत अँसुवानि को धार धसति जुग नैन।
मनो डोर मखतूल के बाँधे खंजन नैन॥ १३७॥
बिंदु लसत अँसुवानि के लाल भए दृग कोर।
देखें बिन पिय चंद-मुख चिनगी चुगत चकोर॥ १३८॥
सपने मैं लालन चलत लखि रोई अकुलाइ।
जागत हूँ पिय हिय लगो, हिलको तऊ न जाइ॥ १३९॥
पिय-आगम सुनि बाल तन बाढ़े हरख बिलास।
प्रथम बूँद बारिद उठैं, ज्यों बसुमती सुबास॥ १४०॥ १० उ० आगतपतिका।
याके मन में जानियत, कोऊ लग्यो सभाग।
कहत गान बिन अरथ को प्रगट अरथ अनुराग॥ १४१॥
छाप तरौना-नखनि की सोभत लगी कपोल।
मनो मदन की मोहनी मूँगा माल अमोल॥ १४२॥
मोकों तुम क्यों कहति हौ लै गुपाल को नाँउँ।
रिस मिस नेह गोबिंद को कहति फिरैं सब गाँउँ॥ १४३॥
नर नारी सब जपत हैं घर-घर हरि को नाँव।
मेरे मुख धोखें कढ़त, परत गाज ब्रज गाँव॥ १४४॥
पगनि परे पिय पीठ पर परे नैन जल टूटि।
सींची मनो सनेह-रस, गयो मान मन छूटि॥ १४५॥
पगनि पर्‌यो लखि प्रानपति, दियो मुगध-तिय रोइ।
कज्जल छल मन मलिनता त्याए अँसुवा धोइ॥ १४६॥
इंदु चपल उर बाल को कठिन मान मैं होत।
देखे बिन कैसें द्रवै तो मुख इंदु उदोत॥ १४७॥
भौंह बीच तिल तनक-सै सोहत सुखमा संचि।
दियौ डिठौना रीझि सों, मानहुँ बिरचि बिरंचि॥ १४८॥
चलत लाल के मैं कियो सजनी हियो पखान।
कहा करों दरकत नहीं अरें बियोग कृसान॥ १४९॥
चढ़ी रहै प्रतिदिन अटा, सखि सनेह सुख छोरि।
लोचन पियत पियूष हैं, प्रेषि प्रान पिय पौरि॥ १५०॥
कहा छपावति मुगध-तिय, बोलि चातुरी बोल।
कहैं देत अनुराग की कोरवि कलित कपोल॥ १५१॥

बरसाइति बर को चहूँ, बहु बिधि पूजि बिसेखि।
पूरत है मनकाम कों काम तरोवर लेखि॥ १५२॥
सहज बात बूझत कछुक बिहसि नवाई ग्रीव।
तरुन हिये तरुनी दई नई नेह की नीव॥ १५३॥
करति मनोरथ बहु बहू दृगनि अनंद उदोत।
उठत सीतलायत सखी, सीतल हीतल होत॥ १५४॥
दशा हीन राधा भई, सुनिए नंदकिशोर।
दीपसिखा लौं देखिगत बारि बयारि झकोर॥ १५५॥
निसि-दिन निंदति नंद है, छिन-छिन सासु रिसाति।
प्रथम भए सुत को बहू अंकहि लेति लजाति॥ १५६॥
कुसुम खेत को खेद सब कहत तिहारो रूप।
ऊँची लेत उसास तन, श्रम-जल-कलित अनूप॥ १५७॥
बाँचत कुसुम कुसुंभ के रहे लागि अभिराम।
कंटक छत छतियाँ छपै, क्यों न छपावति बाम॥ १५८॥
जानति हों वा खेत सों आई बीन कुसुंभ।
कलित कंटकनि कायकुल, कुसुम कलित कुच कुंभ॥ १५९॥
जानति खेत कुसुंभ के तेरी प्रीति अमोल।
चुभत करनि कंटकनि तौ, कत कंटकित कपोल॥ १६०॥
अब तेरो बसिबो इहाँ नाहिंन उचित मराल।
सकल सूखि पानिप गयो, भयो पंकमय ताल॥ १६१॥
तिय पग पिय अँगुरी परसि भो उर आनँद-खानि।
कह्यो सु परि पिय पीठि पर सुधा-सीत अँसुवानि॥ १६२॥
बिछुरत रोवत दुहुनि को सखि यह बात लखै न।
दुख अँसुवा पिय नैन मैं सुख अँसुवा तिय नैन॥ १६३॥रसराज उ० मुदिता।
पग परिबो मुरि बैठिबो, यहै तिहारे काज।
तुम्हैं मनावन की नई, इहै मान को लाज॥ १६४॥
परसत हो याको भई तन कदंब की माल।
रह्यो कहा परि पगनि मैं क्यों न अंक भरि लाल॥ १६५॥
नील नलिन दल सेज मैं परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी मैं मनो तनक कनक की रेह॥ १६६॥
मुख नीचे ऊँचे लसैं तरुनि उरज उर माँह।
मनो मुदित मन कोक जुग पाइ कोक-नद छाँह॥ १६७॥
पिय-अपराध अनेक निज आँखिनि हूँ लखि पाइ।
तिय इकंत हूँ कंत सों मानो करति लजाइ॥ १६८॥रस० उ० उत्तमा०।
तो रखु रात्यो रैनि-दिन सुख-समुद्र के सोत।
याही तें सौतीनि के वे अनलखु लख होत॥ १६९॥

निसि नियराति निहारियति इनको मुख अरविंदु।
सखी एक यह देखियत तेरोई मुख इंदु ॥ १७० ॥रस० उ० मध्या०
उजियारी मुख ईंदु की परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगध-तिय पुनि-पुनि चंदन जानि ॥ १७१ ॥ल० उ० भ्रांति
दुबराई गिरि जातु है, कंकन कामिनि बाँह।
उपदेस न ठहरात ज्यों दुरजन के उर माँह ॥ १७२ ॥
मन दै सुनिए लाल यह तनक तरुनि की बात।
अँसुवा उड़गन गिरत हैं, होन चहत उतपात ॥ १७३ ॥ देखो रसराज
कहति आपु ही बैन हैं ऊख पियूष रसाल।
कित बोलति कोकिल अली, पुनि-पुनि बूझति बात ॥ १७४ ॥
जिनमैं निस-दिन बसतु है तुम घन सुन्दर नाह।
क्यों न चलै तिय दृग तितें बहुल बाह परवाह ॥ १७५ ॥
जलद स्याम निज नाम यह करत कहा इत आपु।
जा उर नेक बसो, करो ताही के तन तापु ॥ १७६ ॥
दिस-दिस बिगसित मालती निसि नियराति निहारि।
ऐसे अतनु-अराम मैं भ्रम-भ्रम भौंर निवारि ॥ १७७ ॥
नारि-नैन को नीर अंस तरुनी तीर उतंग।
बढ़त सरित परवार के गिरत एक ही संग ॥ १७८ ॥
बात सखिनि की सोख तें मान न जानति ठानि।
पिय बिन आगमन भौन मैं बैठी भौंहनि तानि ॥ १७९ ॥र० उ० मु० खंडिता
परिकर पंकज के किएँ नैननि राज बिलास।
मैन मित्र, मंत्री मिरग, खंजन किए खवास ॥ १८० ॥
लाल जनायो मैं तुम्हें लागन चहत कलंक।
चंद्र-मुखी वह चंद सों अब चितवत निरसंक ॥ १८१ ॥
बड़े हमारे दृग कहौ, तुम कहि सकौ सुमैं न।
पिय-नैननि भीतर सदा बसत तिहारे नैन ॥ १८२ ॥
आभा तरिवन लाल की परी कपोलनि आनि।
कहा छपावति चतुर तिय कंत दंतछत जानि ॥ १८३ ॥ल०उ० भ्रां० रस०उ०प०
गहि कोमलता सरसता सोनो होइ सुगंधु।
तबहूँ कबहूँ होइ सखि, तेरे तन को बंधु ॥ १८४ ॥
दुख दीने हूँ सुजन जन छोड़त निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि मैं, करत सुबासित केस ॥ १८५ ॥
तू राखी करि लाल है निज उर मैं बनमाल।
तैं राख्यो करि लाल है कंठमाल कौ लाल ॥ १८६ ॥ देखो रसराज
जगै जोन्ह की जोति यों छपै जलद की छाँह।
मनो छीरनिधि की उठै लहरि छहरि छिति माँह ॥ १८७ ॥

अभिनव जोबन जोति सों जगमग होत बिलास।
तिय के तन पानिप बढ़े, पिय के नैननि प्यास॥ १८८॥ र० उ० मु०, ल० उ० तु०
बासन को पानिप घट्यो तन पानिप की आस।
मिटी पथिक को बदन तें, लगी दृगनि मैं प्यास॥ १८९॥
दिनकर-तनया स्याम जल द्वै घट भरे बनाइ।
ताके भर गरुए भए हरएँ धारति पाइ॥ १९०॥
चलत सुन्यो परदेस कों, हियरो रह्यो न ठौर।
लै मालिनि मीतिहिं दियो नव रसाल को मौर॥ १९१॥ रस० उ० पर० प्र० प्रे०
प्यो राख्यो परदेस तें करामात अधिकाइ।
कनक कलस पानिप भरे, सगुन उरोज दिखाइ॥ १९२॥ ल० उ० विशेषोक्ति
सुन्यो माइके तें बहू, आयो बाभन कंत।
कुसल पूछिबे के मिसनि लीनो बोल इकंत॥ १९३॥ रस० उ० पर० आ०
श्रम-जल-कन झलकन लगे अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल॥ १९४॥
गौने की चरचा चलैं, दिएँ तहाँ चित बाल।
अधमूँदी अँखियानि सों गूँदी गूँदति माल॥ १९५॥
सखी तिहारे नेह के होत घरहि घर घेर।
पीतम तन पानिप परे, फैलि रह्यो चहुँ फेर॥ १९६॥
तूँ न करति मन भाँवती, रति बिपरीत बिचार।
है है सुने सुरत मैं बिछियनि को छनकार॥ १९७॥
कहति साँच हूँ भाँवती मेरे चित अति प्रीति।
किएँ बिना विपरीति रति हिए न होति प्रतीति॥ १९८॥
दानवीर-रस के सखी, तेरे नैन-निकेत।
दान समें मन-दान है, हँसि उछाह कहि देत॥ १९९॥
रोस किए कैसो करै सखी तिहारे नैन।
सहज मधुर मुसिक्यानि मैं हनत मानसनि ऐन॥ २००॥
चंचलता तो चखनि की कही न जाइ बनाइ।
जिन्हैं चाहि चंचल महा चितौ अचल ह्वै जाइ॥ २०१॥
तेरे अंगनि लाल छबि मुख मयंक सुख माहिं।
त्यों चकोर लखि लाल के क्यों न बाल ललचाहिं॥ २०२॥
नंदलाल के रूप पर रीझि परो एक बारि।
अधमूँदी अँखियनि दई मूँदी प्रीति उघारि॥ २०३॥ रस० उ० प्रत्यक्ष०
कोंपनि तें किसलय जबै होहिं कलिन तें फौल।
तबै चलाई चलन की चरचा नायक गौल॥ २०४॥ रस० उ० प्रौ० प्र० लं०
कामिनि दामिनि दमक-सी, बरनि कौन पै आइ।
डीठि नहीं ठहराइये, डीठिन हो ठहराइ॥ २०५॥

रास्यौ दिन जागति रहै, अगिनि लगनि की मोहिं।
मो हिय में तू बसतु है, आँच न पहुँचति तोहिं ॥ २०६ ॥
चलन लगी अँखिया चपल, चलन लगी लखि छाँह।
तन जोबन आवन लग्यो मन भावन मन माँह ॥ २०७ ॥
बिन देखें दुख के चलें, देखें सुख के जाहिं।
कहो लाल इन दृगनि के अँसुवा क्यों ठहराहिं ॥ २०८ ॥
बरसाइति में सखिनि हठि साजे अंग सिंगार।
पछिले कंचन आभरन लगनि अगिन की झार ॥ २०९ ॥ रसराज उ० अश्रु
डारि तिहारे नेह में अगिनि लगनि को मैन।
तलफति याके मान सें लाल सलोने नैन ॥ २१० ॥
कौन बसत है कौन मैं, यों कछु कही परै न।
पिय नैननि तिय नैन हैं, तिय नैननि पिय नैन ॥ २११ ॥
लाल बाल को उर कठिन, उरजनि निपट कठोर।
ताहि छेदि तीछन गई तेरी ईछन कोर ॥ २१२ ॥
बाल निहाल भई लखै ललित लाल मुख इंदु।
मनु पियूष बरषा भई, नैननि झलके बिंदु ॥ २१३ ॥र०उ० वै०, ल०उ० गु०
तिय हिय लो पहुँचे कही सीखि सखिनि की बात।
बिरह आँच जरि जात है श्रौन समीपहिं जात ॥ २१४ ॥
भुज फुलेल लावत सखी कर चलाइ मुसिक्याइ।
गाढ़ें गह्यो उरोज तिय बिहँसी भौंह चढ़ाइ ॥ २१५ ॥रस० उ० परिहास
इंद्रजाल कंदर्प को कहै कहा मतिराम।
आगि लपट बरषा करै, ताप धरै, घनस्याम ॥ २१६ ॥देखो ललितललाम
दुहूँ अटारिनि मैं सखी, लखी अपूरब बात।
उतै इंदु मुरझातु है, इतै कंज कुम्हिलात ॥ २१७ ॥
जोवन मैं अँखिया सखी, परो लाज के जेल।
लरिकाई के सौंरियत चोरमिहचनी खेल ॥ २१८ ॥ ललितललाम उ० असं०
राधिक के दृग खेल मैं मूँदे नंदकुमार।
करनि लगी दृग कोर सौं, भई छेद वर पार ॥ २१९ ॥
मैं मूँदति हौं खेल में तेरे लोचन बाल।
मेरे कर अति प्यार सों चूमत हैं नँदलाल ॥ २२० ॥
सुरभि लोभ जुत अलिनि मैं सहत अधर को रंग।
मनो तरनि-तनया मिली बानी गंग-तरंग ॥ २२१ ॥
सेत बसन मैं यों लगै उघरत गोरे गात।
घरे आगि ऊपर लगो ज्यों बिभूति अवदात ॥ २२२ ॥
रूप जाल नँदलाल के परि करि बहुरि छुटै न।
खंजरीट मृग मीन-से ब्रजबनितनि के नैन ॥ २२३ ॥ल० उ० मालोपमा

जाके सील समान है, साँचे होत सुमित्र।
नेही चंचल चखनि कों चाह्यो चंचल चित्त ॥ २२४ ॥
खिन में प्रफुलित होत हैं, खिन में मुकुलित होत।
इंदीवर अरबिंद से चल मुख इंदु उदोत ॥ २२५ ॥
ग्रीषम हूँ रवि तपत हूँ रहे जलद जनु झूमि।
तपी दृगनि सीतल करै गाँउ निकट की भूमि ॥ २२६ ॥
नैन निवासी सों चल्यो मन परदेस अनेह।
लखति आजु अनभाँवती सपने नैननि गेह ॥ २२७ ॥
आजुहि चल्यो बिदेस कों तजि, सनेह चितचोर।
लखति भरे घर भाँवतो, जमी घास चहुँ ओर ॥ २२८ ॥
परी दूबरी सेज में सखी निहारहि नीठि।
परसति नहीं डराति-सी, धरिबे के उर डीठि ॥ २२९ ॥
लखति एकटक साँवरी मूरति को मुख इंदु।
रीझ भार अँखिया थकी, झलके श्रम-जल-बिंदु ॥ २३० ॥रस० और ललित०
चलो लाल वह बाग में, लखो अपूरब केलि।
आलवाल घन समय को ग्रीषम रितु की वेलि ॥ २३१ ॥ल० उ० रूप०
कहा कहों वाकी दसा, निठुर कही नहिं जाइ।
अंग अँगारनि को मिटै, रंग आँच अधिकाइ ॥ २३२ ॥
बड़वानल से जे लगे, अलिनि करत उपचार।
मिलत लगे घनस्याम उर ते अँग ज्यों घनसार ॥ २३३ ॥
गई छबीली छूटि वह छल सों नेह जनाइ।
कहो कौन के लै छला, आए लाल छलाइ ॥ २३४ ॥
पियराई तन में परी, पानिप रह्यो न देह।
राख्यो नंदकुँवार ने करि कुँवार को . मेह ॥ २३५ ॥
बाँधी दृग डोरानि सों, घेरो बरुनि समाज।
गई तऊ नैनानि तें निकसि नटी-सी लाज ॥ २३६ ॥
लोक-लाज कुलकानि सों गरब करो जिन बीर।
ऐन मैन ब्रजराज के नैन मैन के तीर ॥ २३७ ॥
क्यों न फिरै सब जगत में करत दिगबिजै मार।
जाके दृग सावंत सर कुवलय जीतनवार ॥ २३८ ॥ ल० उ० परिकर
नेह छुटे हूँ रावरो, यातें जीवति बाल।
चलत सहज हूँ गलिनि में तमहिं बिलोकति लाल ॥ २३९ ॥
केलि-भौन के देहरी करी बाल छबि नौल।
काम कलित हिय को लहै, लाज ललित दृग कौल ॥ २४० ॥ रसराज उ० मध्या
निति उठि ऐसें रूप सों आवत हो ब्रजराज।
सो तुम सों पिय रिस करै, वाके हिय न लाज ॥ २४१ ॥

तुम सों कीजै मान क्यों ब्रजनायक मन रंज।
बात कहत यों बाल के भरि आए दृग कंज ॥ २४२ ॥ र० उ० म० ध०
ढीली बाहनि सों मिली, बोली कछू न बोल।
सुन्दरि मान जनाइयौ लियौ प्रानपति मोल ॥ २४३ ॥ र० उ० प्रौ० धीरा
आवत उठि आदर कियो, बोले बोल रसाल।
बाँह गहत नँदलाल के भए बाल दृग लाल ॥ २४४ ॥ र० प्रौ० धीराधीरा
बेनी गूँदत एक की नंदलाल चित लोल।
चूमत प्यारी बाल के बिहसत गोल कपोल ॥ २४५ ॥ र० उ० ज्येष्ठा कनिष्ठा०
मनभावन सों ब्याह की सुनी सलोनी बात।
अँगिया में न उरोज अरु आनँद उर न समात ॥ २४६ ॥ ल० उ० प्रहर्षण
लखि जैहैं ब्रज गाँव की सबै चतुर हैं बाल।
छतिया नख छतदोह जिन छैल-छबीले लाल ॥ २४७ ॥
भलो न केतक रूख यह सजनी गेह अराम।
बसन फटैं कंटक लगैं निसि-दिन आठो जाम ॥ २४८ ॥ रस० उ० सुरतगुप्ता
जुपे द्वार में बसत तौ पथिक जाइ जिन सोइ।
मेरो घर सूनो इहाँ, चोरनि को डर होइ ॥ २४९ ॥
ग्रीषम रितु में देखि के बन में लगी दँवारि।
बड़ो अपूरब बात है, मन में जरति गँवारि ॥ २५० ॥ र० उ० नष्ट० अनु०
जरद भई तिय हरद रँग, बाढ़े दरद अतूल।
लागे बीतन संग ही कुसुम-फूल, हिय-सूल ॥ २५१ ॥
छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की बाल।
मुरझानी हिय साल धरि फूल-माल-सी हाल ॥ २५२ ॥ रस० उ० अनुसयना
लसति गूजरी ऊजरी, बिलसति लाल इजार।
हिए हजारनि के हरे बैठी बाल बजार ॥ २५३ ॥ रस० उ० गणिका
कहत तिहारो रूप सखि, यह पैंडे को खेद।
ऊँचो लेत उसास है, कलित सकल तन स्वेद ॥ २५४ ॥रस० उ० अ०अन्यसंभोग
लै आवति हौं सेज इत तेरो प्रीति गुपाल।
बात कहो अंकहि भरौ, दुख न दीजिए लाल ॥ २५५ ॥ रस० उ० वि०
कैसे ल्याऊँ हौं इहाँ, है जित नंदकिसोर।
दिन हूँ में मुखचंद को लखि ललचात चकोर ॥ २५६ ॥ रस० उ० रूपग०
औरनि के पाइनि दियो नाइनि जावक लाल।
प्रान पियारी रावरी, पेखति तुम्हैं गुपाल ॥ २५७ ॥ रस० उ० प्रेम०
पिय वियोग तिय दृग जलधि जल तरंग अधिकाइ।
बरुनि मूल बेला परसि बहुरों बहुरि बिलाइ ॥ २५८ ॥रस० उ० मुग्धा प्रोषि०
धन के हेत बिलासिनो रहै सवारे बेस।
जो तिय के हिय में बसै, सो पिय बसे बिदेस ॥ २५९ ॥ रस० उ० गणिका०

कोऊ करो अनेक यह तजौ न टेक गुपाल।
निसि औरनि के पग परो, दिन औरनि के लाल ॥ २६० ॥ रस० उ० मध्या०
कंत कहा सौंहनि करो, जानि परयो अब नेह।
दैन कह्यो, सो बिन दिए जान न पैहौ गेह ॥ २६१ ॥ रस० उ० गणिका०
आई गौने काल्हि है, सोख्यो कहा सयान।
अबहो तें रूसन लगी, अबहीं तें पछितान ॥ २६२ ॥ रस० उ० मुग्धा कल०
जोरत सुनि सजनी बिपति, तोरत तपत समाज।
नेह कियो बिन काज पुनि तेज कियो बिन काज ॥ २६३ ॥ रस० उ० परकीया०
लख्यो न कंत सहेट में, लखत नखत को राइ।
अमल कमल सो बाल को बदन गयो कुम्हिलाइ ॥ २६४ ॥रस० उ० मुग्धा विप्र०
तिय कौं मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन मैन।
सजल जलद लखि कै भए सजल जलद-से नैन ॥ २६५ ॥रस० उ० मध्या विप्र०
बिहँसि केलि-मंदिर गई लख्यो न जिय को नाथ।
नैन करनि तें जल बलय गिरे एक ही साथ ॥ २६६ ॥रस० उ० प्रौढ़ा विप्र०
साहस करि कुंजनि गई, लख्यो न नंदकिसोर।
दीपसिखा-सी थरहरी लगें बयारि झकोर ॥ २६७ ॥रस० उ० परकीया विप्र०
कत न कंत आयो सखी, लाजनि बूझि सकै न।
नवल बाल पलिका परी, पलक न लागत नैन ॥ २६८ ॥ रस० उ० मुग्धाउत्क०
पीव न आयो नींद कौं, मूँदे लोचन बाल।
पलक उघारे पलक में आयो होइ न लाल ॥ २६९ ॥ रस० उ० प्रौढ़ा०।
कंत बाट लखि गेह को कुंज देहली आइ।
ऐहैं पीव बिचारियो, नारि फेरि फिरि जाइ ॥ २७० ॥ रस० उ० प० उ०
लखत बाट पिय को तिया अँगरानी अँग मोरि।
पौढ़ि रही पलिका, मनो हारी मदन मरोरि ॥ २७१ ॥
डीठि बचाइ सखीनि की केलि-भौन में जाइ।
पौढ़ि परै पलिका पलक, पलक अंग अधिकाइ ॥ २७२ ॥ रस० उ० मु० वासक०
सब सिंगार सुन्दरि सजैं बैठी सेज बिछाइ।
भयो द्रौपदी को बसन, बासर नहिंन बिहाइ ॥ २७३ ॥ रस० उ० प्रौ०वासक०
मनभावन के मिलन के करै मनोरथ नारि।
धरै पौन के सामुहैं दिया भौन को बारि ॥ २७४ ॥ रस० उ० प० वासक०
पिय मिलाप के हेत तिय सजे उछाह सिंगार।
हग कमलनि के द्वार में बाँधे बंदनवार ॥ २७५ ॥ रस० उ० वासक०
अली चली नवलाहि लै पिय पै साजि सिंगार।
ज्यों मतंग अँड़दार कों लिएँ जात गँड़दार ॥ २७६ ॥ रस० उ० मु० अभि०
जोबन मद गज मंद गति चली बाल पति-गेह।
पगनि लाज आँदू परो, चढ़यो महावत नेह ॥ २७७ ॥ रस० उ० म० अभि०

सजि सिंगार सेजहि चली बाल प्रानपति प्रान।
चढ़त अटारी की सिढ़ी भई कोस परिमान ॥ २७८ ॥ रस० उ० प्रौ० अभि०
स्याम बसन में स्याम निसि, दुरै न तिय की देह।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि भौंर भीर पिय गेह ॥ २७९ ॥ र०उ०प०कृ०तथाल०उ०प्र०
मलिन करो छबि जोन्ह की, तन छबि सों बल जाँउ।
क्यों जैहै पिय पै सखी, लखि जैहै सब गाँउ ॥ २८० ॥ रस० उ० प० शुक्ला०
जेठ मास की दुपहरी, चली बाल पिय-भौन।
आगि लपट तीखन लुवैं भए मलय के पौन ॥ २८१ ॥ रस० उ० दिवाभि०
नागरि सकल सिंगार करि चली प्रानपिय पास।
बाढ़ि चली बिहसनि मनो सोभा सहज सुबास ॥ २८२ ॥ रस० उ० गणिका०
क्यों सहिहै सुकुमारि वह पहिलो बिरह गुपाल।
जब बाके चित हित भयो, चलन लगे तब लाल ॥ २८३ ॥ रस० उ०मु० प्रवत्स्य०
अबहीं तो मिलि माहि सखि, चलत आजु ब्रजराज।
अँसुवनि राखति रोकि तिय, जियहि निकासति लाज ॥ २८४ ॥
फूली नागरि कमलिनी, उड़ि गए मित्र मलिंद।
आयो मित्र बिदेस तें, भयो सु दिन आनंद ॥ २८५ ॥ रस०उ० ग० आगत०
भरी भाँवरैं साँवरे, रास रसिक रस जान।
तिनहीं में मनु भँवतु है है बौंडर को पान ॥ २८६ ॥रस० उ० नायक
चलत पीय परदेस कों, बरजि सकों नहिं तोहिं।
लै ऐसौ आभरन जौ, जीवत पैहौ मोहिं ॥ २८७ ॥रस० उ० गणिका प्र०
सजनी मेरो मन परयो मनमोहन के अंग।
फटपटात छूटत न ज्यों पंजर परयो पतंग ॥ २८८ ॥
जा दिन ते गौनो भयो, आई बाल रसाल।
ता दिन तें बिरहिनि भई सर मोतिन की माल ॥ २८९ ॥रस० उ० पति०
सपने हूँ मनभाँवतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन हू में सखी, रही मान को साध ॥ २९० ॥रस० उ० अनु०
दच्छिन नाइक एक तुम नंदलाल ब्रजचंद।
फुलए ब्रज बनितानि के दृग इंदीवर वृंद ॥ २९१ ॥रस० उ० दक्षिण०
निलज नैन कुलटानि के आइ बसे ब्रजराज।
हिए बिहारे तें सकल मारि निकारी लाज ॥ २९२ ॥रस० उ० धृष्ट०
पियत रहो अधरानि को रसु अति मधुर अमोल।
तातें मीठे कढ़त हैं लाल बदन के बोल ॥ २९३ ॥रस० उ० शठ०
लोचन पानिप ढिग सजी, लट बंसी परबीन।
मो मन बारबिलासिनी फासु लियो मनु मीन ॥ २९४ ॥रस० उ० वैशिक०
यामैं कौन सयान है मोहनलाल सुजान।
आपु करत अपराध हो, आपुहि पुनि अभिमान ॥ २९५ ॥रस० उ० मानी०

पिय मिलाप को सुख सखी, कह्यो न जाइ अनूप।
सौतुक तौ सपनो भयो सपनो सौतुक रूप ॥ २९६ ॥रस० उ० स्वप्नदर्शन
चित्रहु में सखि जाहि लखि होत अनंत अनंद।
नैन कुवलयन सों कहूँ सो लखिवौ ब्रजचंद ॥ २९७ ॥रस० उ० चित्रदर्शन
वाको मन लीने लला, बोलो बोल रसाल।
झुकति तनक वह बात में कनक वेलि वह बाल ॥ २९८ ॥
सखो सलोनी देह में सजे सिंगार अनेक।
कजरारी अँखियानि में भूल्यो काजर एक ॥ २९९ ॥रस० उ० मंडन
सरद चाँदनी में प्रकट होत न तिय के अंग।
सुनत मंजु मंजीर अब सखो न छोड़ति संग ॥ ३०० ॥ल० उ० उन्मीलित
सखी सरस रस केलि में आपुनि यों सुधि जाति।
कंत संग हेमंत की छिन-सी राति सिराति ॥ ३०१ ॥
लाल तिहारे बिरह तें माह मास की राति।
करि कपूर को कोच सो सखो समोपहि जाति ॥ ३०२ ॥
कहा जनावति चातुरी, कहा चढ़ावति भौंह।
अधनिकरे अखरानि सों सोहैं कीजै सौंह ॥ ३०३ ॥रस० उ० स्वर-भंग
लाल तिहारें नेक हौं, नैन तिहारें तीर।
वाके कंचुक कलित कुच काँपत जोध अधीर ॥ ३०४ ॥
बाल रही इकटक निरखि, लाल बदन अरबिंदु।
सियराई अँखियन परो, पियराई मुख इंदु ॥ ३०५ ॥ रसराज
पिय समीप को सुख सखी, कहैं देत ये बैन।
अबल अङ्ग निरबल बचन, नवल मुनोंदे नैन ॥ ३०६ ॥
खाटे फल आगें धरें सखी आनि मुसिक्याइ।
पिय समीप, प्यारी पिया, रही सकुचि सिर नाइ ॥ ३०७ ॥
पिय आयो परदेश तें बहुतै द्योस बिताइ।
सखी उठाई पास तें मूँठे ही जमुहाइ ॥ ३०८ ॥ रसराज उ० जृंभा
पासे गर्भवती तिया सिथिल हाथ ढरकाइ।
हसत लाल लोचन लखें, लोचन रही नवाइ ॥ ३०९ ॥
ध्यान करत नँदलाल कौ नए नेह में बाम।
तनु बूड़त रँग पीत मैं, मन बूड़त रँग स्याम ॥ ३१० ॥
पिय आयो परदेस तें हिय में आयो प्रान।
मिलत बिरहिनी कै भयो छिन जनु जुग परिमान ॥ ३११ ॥
कहा भयो मेरी हितू, हो तुम सखी अनेक।
सपने मिलवत नाथ कै नींद आपनो एक ॥ ३१२ ॥
कंप प्रसेद बढ़े-चढ़े भौंह मनो भव-चाप।
अपने पिय सों जानियत, सपने करति मिलाप ॥ ३१३ ॥

प्यारी की मुसिक्यानि-सी सरद-जोन्ह तूँ है न।
वह नैननि सीतल करै, तूँ कत जारति नैन ॥ ३१४ ॥
अली चली कहु कौन पै, बड़े कौन के भाग।
उलट्यो कंचुक कुचन पर कहैं देत अनुराग ॥ ३१५ ॥ र० उ० विभ्रम-हाव
सकुचि न रहियै साँवरे, सुनि गरबीले बोल।
चढ़ति भौंह बिकसत नयन, विहसत गोल कपोल ॥ ३१६ ॥ र० उ० किल० हाव
मन भाँवन की भाँवती भेंटति रस उतकंठ।
बाँही छुटै न कंठ तें, नाँहीं छुटै न कंठ ॥ ३१७ ॥ रसराज।
बिरी अधर, अंजन नयन, मिहिदी पग अरु पानि।
तन कंचन के आभरन नीठि परति पहिचानि ॥ ३१८ ॥ रसराज उ० ललित-हाव तथा ललितललाम उ० अनुगुन
कहा काज कुलकानि सौं, लोक-लाज किन जाइ।
कुंजबिहारी कुंज में, कहूँ मिलै मुसिकाइ ॥ ३१९ ॥ रासराज उ० चिंता
लखी अपूरब बाल मैं, वाकी दसा बनाइ।
हियरैं है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराइ ॥ ३२० ॥ ल० उ० विशेष
सरद-चंद की चाँदिनी, जारि डार किन मोहि।
या मुख की मुसिक्यानि-सी क्यों हूँ कहौं न तोहि ॥ ३२१ ॥ र० उ० गुण-कथन
मोहिं रसाल की मंजरी, क्यों न करी करतार।
सुन्दर स्रौन समीप जौ, राखै नन्द-कुमार ॥ ३२२ ॥
बिकल लाल को बाल हूँ क्यों न बिलोकति आनि।
बोलि कोकिलनि सों कहै, बोल तिहारे जानि ॥ ३२३ ॥ रसराज उ० प्रला०।
सुरस ओज सों साह सुत सिवा सूर सिरदार।
सरद-चन्द आतप कियो सुचि आतप इक बार ॥ ३२४ ॥
पिसुन बचन सज्जन चितै सकै न फोरि न फारि।
कहा करै लगि तोय में तुपक तीर तरवारि ॥ ३२५ ॥ ललि० उ० प्रति०
निहचैं नखत निहारियत नथुनो मुकत प्रकास।
कैसें करि पावै कहौ, नीचन नाक-निवास ॥ ३२६ ॥
खेत निहारो धान को, यों बूझति मुसिक्याइ।
यहौ हमारे पिय कहौ सघन ज्वारि दरसाइ ॥ ३२७ ॥ रसराज उ० वचन
राखै भरि दुपहर सखी सघन छाँह में गोइ।
कहै घाम की कार कौ, ज्वार खेत जुन होइ ॥ ३२८ ॥
भौंह कमान कटाछ सर, समर-भूमि बिचलै न।
लाज तजे हूँ दुहुँनि के सजल सुभट-से नैन ॥ ३२९ ॥ ललि० उ० पूर्णोपमा
अरुन बसन निकरी पहरि पावस में छबिखानि।
इंद्र गोप-सी गोपिका, गोप इंदु लखि आनि ॥ ३३० ॥

अति सुढार अति हीं बड़े पानिप भरे अनूप।
नाक मुकत नैनानि सों होड़ परो यह रूप॥ ३३१॥
कियो और को सब कछू मान आपनो लेइ।
क्यों न लहै संताप जौ, भार आप सिर देई॥ ३३२॥
लोने तो अँखियानि उन, औ मुसिक्यानि रसाल।
तुहूँ लाल लोचननि की लेहि लालसा बाल॥ ३३३॥
सखी तिहारे दृगनि की मधुर मंद मुसिक्यानि।
बसति रहै निसि द्योस हूँ अब उनकी अँखियानि॥ ३३४॥ ललि० उ० पर्याय।
रूप सदन मिलि तन वसन रदन रुचिर रुचि होति।
दामिनि मैं बिधु बिंब जनु, बिधु मैं दामिनि जोति॥ ३३५॥
मो जीवन तूँ कहतु है, ब्रज जीवन तूँ पीउ।
जुपै जीय बिन जियत, तौ धिग जीवन यह जीउ॥ ३३६॥
प्रान निवासी तोहि तजि कब को कियो उजार।
तू अजहू लों बसतु है, प्रान कहा सुबिचार॥ ३३७॥
तुरत डीठि लगि जाइगी, हौं बिलखी अति आनि।
अनखन दैकै कीजिये अनखन भरि अँखियानि॥ ३३८॥
विषमय किधौं पियूषमय तेरी मृदु मुसिक्यानि।
यहै मूरछित करति है, यहै जिवावति आनि॥ ३३९॥
निज पग सेवक समुझि करि करि उर तें रिस दूरि।
तेरी मृदु मुसिक्यानि है मेरी जीवन मूरि॥ ३४०॥
लाल अमोलक लालची, करत कोटि मनुहारि।
मंदिर आवत इंदिरा दै न किवार गँवारि॥ ३४१॥
तरु है रह्यो करार को, अब करि कहा करार।
उर धरि नंदकुमार कौ, चरन कमल सुकुमार॥ ३४२॥
अरुन बरन बरनिन परै, अमल अधर दल माँझ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं फूलो साँझ॥ ३४३॥ ल० उ० संदेह
बाल बदन प्रतिबिंब बिधु बिंब रह्यो तिहिं संग।
त्यौ रहत अब रैनि-दिन, तपन तपावत अंग॥ ३४४॥ ल० उ० हेतु अप०
प्रगट दरप कंदरप कौ तेरो अंग अनूप।
सुतौ लियौ नँदनंद जित सुंदर स्याम सरूप॥ ३४५॥ ल० उ० पर्यायोक्ति
रोमावली कृपान सों मारयो सिवहि मनोज।
ताके भए स्वरूप द्वै सोहत बाल उरोज॥ ३४६॥
कुंद न पावत रदन रुचि, कुंदन अंग प्रकाश।
चंद न पावत बदन छबि, चंदन अंग सुवास॥ ३४७॥
रूप रासि बह लच्छ की तुला चढ़ी वह बाल।
तऊ न पावति रावरो मिलन अमोलिक लाल॥ ३४८॥

ललित मंद कल हंस गति, मधुरमंद मुसिक्याति।
चली सारदा बिसद रुचि सरद चाँदनी राति॥ ३४९॥
मैं जानो ही मिलन तें मिटिहै तन संताप।
अब सजनी दूनो चढ़यो हतक मनोजहिं दाप॥ ३५०॥
साँच मदनजित आजु तुम रंजन रसिक रसाल।
अनल ज्वाल दृग देखियत, लाल-लाल रुचि भाल॥ ३५१॥
पाइनि प्रेम जनाइ जिन परिये नंदकुमार।
अनल लाल पग लगति है जावक लीक लिलार॥ ३५२॥
रोस-भरी अँखियानि लखि लोगनि में अनखाइ।
हँसिय कंत लपटाइ कै एक रूप ह्वै जाइ॥ ३५३॥
प्रीति द्वैज द्विजराज की कला कलप करि चित्र।
जगत लोकवंदित उदित, बढ़त मित्र जो मित्र॥ ३५४॥
अँखियनि उमँग अनंग की, छुवत अंग अनखाइ।
प्रीतम तन तावति तरुनि लाइ लगनि को लाइ॥ ३५५॥
दिन-दिन दुगुन बढ़ै न क्यों लगनि-अगिनि की झार।
उनै-उनै दृग दुहुनि के बरसत नेह अपार॥ ३५६॥
लिखत बाल नख भूमि तन लखत लाल मुसिक्यानि।
लाज छुटी निसी जानियति लाज भरी अँखियानि॥ ३५७॥
चंचलनिसि उद बसि रहौ करनि प्रात बसि राज।
अरबिंदनि पै इंदिरा सुंदर नैननि लाज॥ ३५८॥ ल० उ० दीपक
घटत-बढ़त बढ़ि जाइ पुनि, घटत-घटत घटि जाइ।
नाह रावरे नेह-बिधु मंडल जितौ बनाइ॥ ३५९॥
तलफत पाइनि जीव कों कौन जियावत आनि।
जो न होति उन दृगनि में सुधा मधुर मुसिकानि॥ ३६०॥
सोइ संग सुख, जागि दुख, लहि समुझौ निरधार।
छीन पुन्य सुरलोक तें लेत अवनि अवतार॥ ३६१॥ ललि० उ० स्मरण
तनु आगें को चलतु है, मन वाही मग लीन।
सलिल सोत में ज्यों चपल चलत चढ़ाऊ मीन॥ ३६२॥
प्रतिबिंबित तो बिंब में भूतल भयो कलंक।
निज निरमलता दोष यह, मन मैं मानि मयंक॥ ३६३॥ ललि० उ० लेस
तिहिं पुरान नव द्वै पढ़े, जिहिं जानी यह बात।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान है जात॥ ३६४॥
सपने में सपनौ समुझि होत दूरि ज्यों संक।
संक छोड़ि संसार को रहो जानि निरसंक॥ ३६५॥
तिय हिय आनँद बढ़त हूँ, पर न प्रानपिय पेखि।
बिन देखत को दुख परै, दीन दृगनि में देखि॥ ३६६॥

लिखति अवनितल चरन से बिहसत बिमल कपोल।
अधनिकरे मुख इंदु तें अमृत-बिंदु ते बोल॥ ३६७॥
उमगी उर आनंद की लहरि छहरि दृग राह।
बूड़ी लाज-जहाज लों नेह-नीर-निधि माह॥ ३६८॥
हौं मन मोहन के लखति, हौं न आपुनी बाउ।
करत नैन नँदलाल के हँसत हेरि उर गाउ॥ ३६९॥
बसत रहत मतिराम निसि, द्यौस काम अभिराम।
इंदीवर छबि दृगनि मैं इंदीवर छबि स्याम॥ ३७०॥
ज्वलित ज्वाल-सी जोन्ह इह डारति अङ्ग उलीचि।
भई पियूष मरीचि को मोकों मरिचि मरीचि॥ ३७१॥
लोक प्रसून पराग तें लखत पिंजरनि भृंग।
भए चँबेली के बिरह पीत रंग सब अङ्ग॥ ३७२॥
मानत लाज लगाम नहिं, नेक न गहत मरोर।
होत तोहि लखि बाल के दृग तुरंग मुँहजोर॥ ३७३॥ ललि० उ० ०० वि०
सघन स्याम कादंबिनी राख्यो रोकि अकास।
अति संकट पावत नहीं जिय हिय मैं अवकास॥ ३७४॥
हियें बसत, मुख हसत हौ; हमको करत निहाल।
घट-घटब्यापी ब्रह्म तुम प्रगट भए नँदलाल॥ ३७५॥
बरनत साँच असंग कै, तुमकों बेद गुपाल।
हिए हमारे, बसत हो, पीर न पावत लाल॥ ३७६॥
चढ़े [illegible] पहार ए, उर उनके अठिलाहिं।
तो तन नित लालो चढ़ै, ललित लाल पियराहिं॥ ३७७॥
कुच कठोर पाषान तें, क्यों न करैं उर पीर।
बड़े नरम जग नैन कत, होत बिषम बिष-तीर॥ ३७८॥
सखी तिहारी साँच यह दीपसिखो-सी देह।
दिन दीपति पियराति है, अधिक राति रति नेह॥ ३७९॥
दरपन में निज रूप लखि नैननि मोद उमंग।
पिय मुख पिय बसकरन कों बढ़्यो गरब को रंग॥ ३८०॥
निज पाइनि बलि आइ कै तो घर बाइनि देह।
जाति बाल निज गेह कें उर उछाह दृग सेह॥ ३८१॥
तो तन सुबरन बरन है, कुटिल स्याम मन माँह।
सखि सनेह कैसें रहे, छुवन न पैयत छाँह॥ ३८२॥
तिय हिय मैं पिय इंदु मुख निसि-दिन करत प्रकास।
सीखी सखिनि की छाँह लों नेक न पावति बास॥ ३८३॥
नैक ओट करि गिरि धरौ लसत सकंप गुबिंद।
ब्रज बोरत अब इंद्र लौं यह तेरो मुख-इंदु॥ ३८४॥

करवर पर गिरिवर धरै ललित लाल लउचाइ।
जाके चितवन चखनि कुच, सो सकुचित मुसिक्याइ ॥ ३८५ ॥
हारे बरषत बारि अरु तन दीपति अभिराम।
निदरे सब घनस्याम तूँ भाँति-भाँति घनस्याम ॥ ३८६ ॥
छाती कुच कुंकुमनि को छाप करि जिहिं बाल।
ताको डर मन में नहीं, मिलत मोहिं नँदलाल ॥ ३८७ ॥
नैन-मीन वह बाल के लाज-जाल परि आनि।
पियत रहत तो बदन को सुधा मधुर मुसिक्यानि ॥ ३८८ ॥
मेरे दृग वारिद वृथा बरसत बारि प्रवाह।
उठत न अंकुर नेह को तो उर ऊसर माँह ॥ ३८९ ॥ ललि० उ० अवज्ञा
राधा चरन सरोज नख इंद्र किए ब्रजचन्द।
मोर मुकुट चंद्रकनि तूँ चख चकोर आनंद ॥ ३९० ॥
सुखद साधुजन को सदा गजमुख दानि उदार।
सेवनीय सब जगत को जग मा बाप कुमार ॥ ३९१ ॥ ललित० मंगलाचरण
मदरव मत्त मिलिंद गन गान मुदित गननाथ।
सुमिरत कवि मतिराम के सिद्धि-रिद्धि-निधि हाथ ॥ ३९२ ॥ ललित० उ० वंदना
अङ्ग ललित सित रंग पट, अङ्गराग अवतंस।
हंसबाहिनी कीजियै बाहन मेरो हंस ॥ ३९३ ॥
नृप नैन कमलनि वृथा चितवत बासर चाहि।
हृदय कमल में हेरि लै कमलमुखी कमलाहि ॥ ३९४ ॥
ब्रज ठकुराइनि राधिका, ठाकुर किए प्रकास।
ते मन मोहन हरि भए अब दासी के दास ॥ ३९५ ॥
पियत अधर यों देति है कर कमलनि की मारु।
लगति स्वादु के सिंधु में मिरचि किरच लौं चारु ॥ ३९६ ॥
पियत अधर तू देति है कर कमलनि की मारु।
होत पंच अँगुरी लगें सबल पंचसर मारु ॥ ३९७ ॥
करति केलि अति प्रेम सों पगे प्रेम मद नैन।
अंबर में चंचल लसैं खंजरीट से नैन ॥ ३९८ ॥
प्राननाथ परदेस कों चलियै सखो बिचारि।
स्याम नैन-घन बाल के बरसन लागे बारि ॥ ३९९ ॥
सरद-चाँदनी में बिकच बिमल मालती कुंज।
जगत जोतिमय मैन के मनो सुजस के पुंज ॥ ४०० ॥
कोमल कमलनि सों कहैं तिन्हें न नेक सयान।
होत पार लागत हिएँ नैन मैन के बान ॥ ४०१ ॥ ललि० उ० परजस्ता०
ओठ लखिबे को अरयो मुख सुबास रस रत्त।
स्याम रूप नँदलाल अति, नहिं अलि अलि रनमत्त ॥ ४०२ ॥ ललित० उ० छेका०

मूढ़ इंदु-अरबिंदु में कहत सुधा मधु बास।
तो मुख मंजुल अधर में तिनको प्रगट प्रकास ॥ ४०३ ॥ ललित० उ० सापह्न०
औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देत हैं, सकै न बैन बखानि ॥ ४०४ ॥ ललित० भेदकातिश०
जो निसि-दिन सेवन करै, अरु जो करै विरोध।
तिन्हैं परमपद देत प्रभु, कहो कौन यह बोध ॥ ४०५ ॥ ललित० तुल्य यो०
लखो लाल तुमकों लखै ए बिलास सरसात।
बिहसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसिक्यात ॥ ४०६ ॥ ललित० उ० शब्दा०
पगी प्रेम नँदलाल के, हमैं न भावत जोग।
मधुप राजपद पाइ कै भीख न माँगत लोग ॥ ४०७ ॥ ललित० उ० दृष्टांत
मधुप त्रिभंगी हम तजी, प्रगट परम करि प्रीति।
प्रगट करी सब जगत में कटु कुटिलनि की रीति ॥ ४०८ ॥ ललित० उ० निदर्शना
हरिमुख लखि लोचन सखी, सुख में करति विनोद।
प्रगट करत कुवलयनि कौ चंद्रोदय तें मोद ॥ ४०९ ॥
विषयनि तें निरबेदबर, ध्यान जोग व्रत नेम।
बिफल जानियों ए बिना प्रभु पग पंकज प्रेम ॥ ४१० ॥ ललि० उ० वियोक्ति
देखत दीपति दीप की देत प्रान अरु देह।
राजत एक पतंग में बिना कपट को नेह ॥ ४११ ॥ ललित० उ० विनोक्ति
ललित राग रंजित हियो नायक जीति बिसाल।
बाल तिहारे कुचनि बिच लसत अमोलिक लाल ॥ ४१२ ॥ ललित० उ० श्लेष
कहा भयो जग में बिदित, भए उदित छबि लाल।
तो ओठनि की रुचिर रुचि पावत नहीं प्रबाल ॥ ४१३ ॥ ललित० उ० श्लेष
प्रगट कुटिलता जो करी हम पर स्याम सरोस।
मधुप जोग बिख उगिलियै, कछु न तिहारो दोस ॥ ४१४ ॥ ललित० उ० व्याज०
हसत बाल के बदन में यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली फूल ॥ ४१५ ॥ ललि० उ० च० वि०
भयो सिंधु ते बिधु सुकबि बरनत सुमति बिचार।
उपज्यौ तो मुख इंदु तें प्रेम-पयोधि अपार ॥ ४१६ ॥ ललि० उ० छठी वि०
पियत रहत पिय नैन यह तेरी मृदु मुसिक्यानि।
तऊ न होत मयंक-मुखि, तनक प्यास की हानि ॥ ४१७ ॥ ललि० उ० विशेषोक्ति
पिय नैननि के राग कौं भूषन सजे बनाइ।
निरखि तिहारी छबि सुतौ, सौति दृगनि सरसाइ ॥ ४१८ ॥ ललि० उ० द्वि० अ०
उदै भयो है जलद तू जग कौ जीवन-दान।
मेरो जीवन हरतु है कौन बैर मन मान ॥ ४१९ ॥ ललि० उ० अ०
बिरह आँच मन उड़ि सखी घन सुंदर तन जाइ।
दुगुन दाह बाढ़े तहाँ आपुहि जात बिलाइ ॥ ४२० ॥ ललि० उ० तृ० वि०

जिनमैं अतुल बिलोकियै पानिप पारावार।
उमड़ि चलत नित दृगनि भरि तो मुख रूप अपार॥ ४२१॥ ललि० उ० अधिक
मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जिन भार तें निपट पातरो लंक॥ ४२२॥ ललि० उ० अल्प
जुपै सखी, ब्रज गाँव मैं घर-घर सहज चवाउ।
तौ हरि-मुख लखि देति किन नैननि चकोरनि चाउ॥ ४२३॥ ल० उ० द्वि० व्या०
कनक-बेलि मैं कोकनद, तामैं स्याम सरोज।
तिनमैं मृदु मुसिक्यानि है, तामैं मुदित मनोज॥ ४२४॥ ललि०त उ० माला०
मो मन मेरी बुद्धि लै करि हरि कौं अनुकूल।
लै त्रिलोक की साहिबो दै धतूर को फूल॥ ४२५॥ ललित० उ० परि०
फिरि-फिरि आवति जाति चलि अँगरानि मुसिक्याति।
बाल लाल कौ ललित मुख लखि लजाति ललचाति॥ ४२६॥ ललि० उ० का० दी०
तो मुख छवि सौं हारि जग भयो कलंक समेत।
सरस इंदु अरविंदमुखि, अरविंदनि दुख देत॥ ४२७॥ ललि० उ० प्रत्यनीक
मधुप मोह मोहन तज्यो यह स्यामनि की रीति।
करो आपनो काज को, तुम्हैं जाति सी प्रीति॥ ४२८॥ ललि० उ० विक०
गंग नीर सिधु रुचि झलक, कहु मुसिक्यानि उदोति।
कनक-भौन के दीप लौं जगमगाति तन-जोति॥ ४२९॥ ललि० उ० प्रौढ़ोक्ति
खल बचनन की मधुरई चाखि साँप निज स्रौन।
रोम-रोम पुलकित भए, कहत मोद गहि मौन॥ ४३०॥ ललित० उ० मिथ्या०
मेरी सिख सीखे न सखि, मोसौं चढ़ै रिसाइ।
सोयो चाहति नींद भरि अंग अँगार बिछाइ॥ ४३१॥ ललित० उ० ललित
हरि की सुधि कौं राधिका चली अकेली भौन।
हँसत बीच ही मिलि गए बरबस के सुख कौन॥ ४३२॥ ललित० उ० प्रहर्षण
मंत्रिनि के बस जो नृपति, सो न लहतु सुख साज।
मनहिं बाँधि दृग देत दृग मन कुमार को राज॥ ४३३॥ ललित० उ० उल्लास
दधि छिनाइ मोहन लियो सखो सघन बन ठौर।
बड़ो लाभ मन में गनौं, जोन कियो कछु और॥ ४३४॥ ललित० उ० उल्लास
कहा भयो तजि जात है मलिन मधुप दुख मानि।
सुबरन बरन सुबास जुत चंपक लहै न हानि॥ ४३५॥ ललित० उ० अवज्ञा
देह दीप दीपति दिपै बदन चंद की ज्योति।
दामिनि दुति मुसिक्यानि मृदु सुख की खानि उदोति॥ ४३६॥ ललित० उ० मुद्रा
मुकत-हार हरि के हियें मरकत मनिमय होति।
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसक्यानि उदोति॥ ४३७॥ ललित० उ० पूर्वरूप
बदन चंद की चाँदनी, देह दीप की जोति।
राति बितैं हूँ लाल वह भौन राति-सी होति॥ ४३८॥ ललित० उ० पूर्वरूप

लाल चित्र अनुराग सों रँगति नित्त सब अंग।
तऊ न छाड़त साँवरो, रूप साँवरो रंग ॥ ४३९ ॥ ललित० उ० अत०
आई फूलनि लैन कों, चली बाग में लाल।
मृदु बोलनि सों जानिहौ मृदु बेलिन में बाल ॥ ४४० ॥ ललित० उ० विशेषक
ग्वालिनि देउ बताइ हौं, मोहिं कछू तुम देहु।
बंसीबट की छाँह में लाल जाइ लखि लेहु ॥ ४४१ ॥ ललित० गूढ़ोत्तर
सरद चंद की चाँदिनी को कहिए प्रतिकूल।
सरद चन्द की चाँदिनी कोक हिए प्रतिकूल ॥ ४४२ ॥ ललित० उ० चित्र
को हरि बाहन, जलधि सुत को, को ज्ञान जहाज।
तहाँ चतुर उत्तर दियो एक बचन द्विजराज ॥ ४४३ ॥
भोर भए आए भवन स्याम-बसन जुत स्याम।
हँसि अँबर केसरि रँग्यो आगे राख्यो बाम ॥ ४४४ ॥
यों न प्यार बिसराइयै, लियो मोहिं तू मोल।
मुख बिलोकि नँदलाल को, कहै सखी सों बोल ॥ ४४५ ॥ ललित० उ० गूढ़ोक्ति
लखत लाल मुख पाइहौ, बरनि सकै नहिं बैन।
लसत बदन सतपत्र सौ, सहसपत्र से नैन ॥ ४४६ ॥
उड़ि गुलाल पिय करनि तें लगत पिया मुख-चंद।
मनो कोकनद रजनिकर करत रजनिकर मंद ॥ ४४७ ॥
सेत बसन की चाँदनी परत गुलाल सुरंग।
मानो सुर-सरिता मिलति सरसुति तरल तरंग ॥ ४४८ ॥
सित अंबर जुत तियनि में उड़ि-उड़ि परत गुलाल।
पुंडरीक पटलनि मनो बिलसत आतप बाल ॥ ४४९ ॥
स्याम रूप अभिराम अति सकल बिमल गुन धाम।
तुम निसि-दिन मतिराम की मति बिसरौ मतिराम ॥ ४५० ॥
प्रेम लग्यो अंगार है, सीता मन बिन ज्ञान।
देत अँगूठी राम की मानिक भो हनुमान ॥ ४५१ ॥
रहे और ही रूप है, बिषम बिरह दुख सानि।
डीठि परे हूँ परसपर, नीठि परै पहिचानि ॥ ४५२ ॥
मोहि को किन मार तू, बिरह बिपति में गाड़ि।
जलज-मुखी कों जलद जिन तड़ित चाबुकनि ताड़ि ॥ ४५३ ॥
अजहूँ प्रगटित होत है पुलक पटलता माँह।
जौन अङ्ग छिद है कढ़त, छुही छैल की छाँह ॥ ४५४ ॥
सिरिस कुसुम सम बाल के कुम्हिलाने सब गात।
करत प्रात अलसात अति सौति हियनि उतपात ॥ ४५५ ॥
प्रतिपालत सेवक सकल पलन दलमलत डाँटि।
संकर तुम सब साँकरे सबल साँकरें काटि ॥ ४५६ ॥

सेवक सेवा के सुनें, सेवा देव अनेक।
दीनबंधु हरि जगत है, दीनबंधु हर एक ॥ ४५७ ॥
सघन तिमिर में तरुनि की जगमगाति तन जोति।
प्रेम हेम, पावस कुहू निसा कसौटी होति ॥ ४५८ ॥
रूपक वैस मदिरा मदन, मदन मदरि से नैन।
प्रेम छके पिय छबि छके, हटके नैक रहैं न ॥ ४५९ ॥
पिय मुख रुचि चारो चुगैं करत परस्पर चैन।
मदन मदर से बाल के बदन मदरि से नैन ॥ ४६० ॥
मदन इंदु अरबिंदु सों सुधा मधुर मधु बैन।
मेरे होत चकोर-से, चंचरीक-से नैन ॥ ४६१ ॥
बरनत भौंह कमान जुत, बरनत बैन बनै न।
सरल-सरल सत मदन के तरल-तरलतर बैन ॥ ४६२ ॥
तेरी मूरति जुत लिखी निज सूरति लखि बाल।
धनि मानति मनभाँवती निज तनु तें नँदलाल ॥ ४६३ ॥
तची न तो औगुननि सों, रची न तो अनुराग।
ब्रज में देहु बताइ कै ऐसी तिया सभाग ॥ ४६४ ॥
बिहसि बढ़ायो लाल तुम तिय हिय में अनुराग।
बिफल क्यों न दुख देत ज्यों आप लगायो बाग ॥ ४६५ ॥
निसा समैं अरविंद रुचि, द्यौस इंदु की ज्योति।
बाल-बदन छबि तो बिरह, लाल कहा धौं होति ॥ ४६६ ॥
चली सहेटनि कुंज कों धरि सित भूषन चीर।
जोन्ह बीच अंबुजमुखी भई कंबु को छीर ॥ ४६७ ॥
मेरे मन तो बसति है, नैन कियो अपराध।
तुम्हें दोस को देतु है, है यह काम असाध ॥ ४६८ ॥
जमुना तट वा कुंज में तुम जु दई ही माल।
निकसति जीवहि बाँधि कै तासों राखति बाल ॥ ४६९ ॥ ललि० उ० उप० उ०
जिन चलाइये चलन की चरचा स्याम सुजान।
हौं देखित हौं वाहि यहिं, बात सुनत बिन प्रान ॥ ४७० ॥ ललित० उ० भाविक
नैननि को आनंद है जिय को जीवनि जानि।
प्रगट दरप कंदरप को तेरी मृदु मुसिक्यानि ॥ ४७१ ॥ ललित० उ० हेतु
कहा करों, परबस भई लखि मुख रूप रसाल।
बेची मैं नँदलाल है, लीनी मैं नँदलाल ॥ ४७२ ॥
निठुराई नहिं निठुर पै, कहति साँच कित बात।
लगे कंटकित कुचनि में, भए कंटकित गात ॥ ४७३ ॥
कहा भयो सो तू भट्ट, गुन गनमय सब देह।
जोबनवारी तो सकल, जो बनवारी नेह ॥ ४७४ ॥

मुकत माल मंडित लसै बाल उरोज उतंग।
नखत पाँति सोभित मनो बिधि सुमेरु के शृंग ॥ ४७५ ॥
दीप-ज्योति के जाल-से जगमगाति अति अंग।
मानस मानस के चपल उड़ि-उड़ि परैं पतंग ॥ ४७६ ॥
निंदति अति अभिराम तौ, इंदीबरनि अनूप।
झलकति तो अँखियानि मैं अति घनस्याम स्वरूप ॥ ४७७ ॥
लसत सुरत श्रम सलिल कन, ललित बाल नँदलाल।
फली मनो मुकता फलनि कंचन बेलि तमाल ॥ ४७८ ॥
बिहसत नील दुकूल में लसत बदन अरबिंदु।
झलकत जमुना रूप में, मानो पूरन इंदु ॥ ४७९ ॥
जरतारी सारी ढके नैन लसति मतिराम।
मनो कनक पंजर परे खंजरीट अभिराम ॥ ४८० ॥
कान्हकरत-छत देत यों सोहत बाल उरोज।
सरसरोज सों संभु कौ मारत मनो मनोज ॥ ४८१ ॥
स्याम नैन प्रतिबिंब जुत तिय के उरज उतंग।
मनो मनोज सरोज सर, लगे ईस के अङ्ग ॥ ४८२ ॥
रचे बिरंचि बनाइ कै तेरे ईस उरोज।
तिनके पूजन कौं किए हरि के हाथ सरोज ॥ ४८३ ॥
बदन इंदु तेरो अली, दृग अरबिंदु अनूप।
तिनमें निसि-बासर सदा बसत इंदिरा रूप ॥ ४८४ ॥
तो मुख मंजुल हास मृदु, मदन मोद कौ मूर।
पिय नैननि सीतल करत है कपूर को चूर ॥ ४८५ ॥
तेरे आनँद चंद कौ मधुर मंद मृदु हास।
मेरो जानि मनोज कौ कीरति पुंज प्रकास ॥ ४८६ ॥
रची बिरंचि बनाइ तूँ सुबरनमय बर बाल।
बढ़े जोति जौ तो मिलै इंदु नील रुचि लाल ॥ ४८७ ॥
बिमल बाम के बदन मैं राजत ओठ रसाल।
मनो सरद बिधु बिंब में लसत बिंबफल लाल ॥ ४८८ ॥
लसत मुकुत रुचि लाल की मेरे ओठनि सेइ।
अति अदभुत यह बात पुनि, लाल मुकुत रुचि लेइ ॥ ४८९ ॥
अली तिहारे अधर में सुधा भोग की साज।
द्विजराजनि जुत न्योतिए, लाल बदन दुजराज ॥ ४९० ॥
दुहुँ दिसि जघन नितंब कुच, खैंचत है निधि सार।
छीजै क्यों न मयंक-मुखि, ललित लंक सुकुमार ॥ ४९१ ॥
क्यों न लहै सुख भोग कौं ललित बाल के साथ।
नीवो नीवीं मदन की परो नाह के हाथ ॥ ४९२ ॥

कर सरोज सों गहि रही, पिय कर गहत उरोज।
लाल प्रबल मन में भई, मन में सबल मनोज ॥ ४९३ ॥
बैठि रहै, रोवै, हँसै, आतुर उतरि उताल।
प्रथम सुरति बिपरीत की रीति न जानति बाल ॥ ४९४ ॥
थकी सुरत बिपरीत में, लियो बिजन कर बाल।
लोचन रही छपाइ कै, लख्यो हसत मुख लाल ॥ ४९५ ॥
भोर होत पिय कौ लख्यो, छोड़्यो चहत समीप।
बिधु-मुख लोचन कमल से तनु दीपति तनु दीप ॥ ४९६ ॥
परै न धुनि सुनि सखिन कौं, लाजनि होति अधोर।
कर कमलनि सों गहि रहै सुरत मुखर मंजीर ॥ ४९७ ॥
बाल सुरत रस रीति में गही लाज अरु मैन।
करनि बिरल अँगुरीनि करि मूँदति नायक नैन ॥ ४९८ ॥
लाज मैन दुहुँ बिच परी सुरत समैं मुसिक्याइ।
कमल चलावै करनि गहि दीप समीप बचाइ ॥ ४९९ ॥
रति बिपरीति प्रस्वेदकन पिय कौं सींचति बाम।
मनो प्रौढ़ पुन्नाग के मुकुलनि पूजति काम ॥ ५०० ॥
राजत अरुन सरोज हैं, मानहु रँगे कुसुंभ।
जोबन मद गज कुंभ के सातकुंभ से कुंभ ॥ ५०१ ॥
ऊँची स्वासनि सौंपियै, सुरत अन्त मुसिक्याइ।
पुनि पीतम के मैन की दीनी आगि जगाइ ॥ ५०२ ॥
मनो मैन के निधि कलस तेरे तरुनि उरोज।
चाहत जे तिय पै इन्हें बातनि हनत मनोज ॥ ५०३ ॥
पल्लव पग, कर अधर हैं फल उरोज नख फूल।
भौंर भोर बर बार हैं, बाल बेलि के तूल ॥ ५०४ ॥
नख-गाँसी, सर-आँगुरी, कर-पग चारु तुनीर।
दसों दिसनि जिन बरनि ते, पचर पंचसर बीर ॥ ५०५ ॥
ब्याल जाल बिज्जुलि छटा घटा धूम अनुहार।
बिरहिनि जारनि को मनो लाई मदन दँवारि ॥ ५०६ ॥
बलय पीठि तरवनि भुजनि, उर कुच-कुंकुम-छाप।
जिते जाहु मनभाँवते, जिते बिकाने आप ॥ ५०७ ॥ रस० उ० म० अघी०
इन झूठी सौंहनि किये नहिं ह्वैहौ अकलंक।
कियो अधर-अंजन-प्रभा बदन-चंद सकलंक ॥ ५०८ ॥
बैठो आनन कमल के अरुन अधर-दल आइ।
काटन चाहत भौंवते, दीजो भौंर उड़ाइ ॥ ५०९ ॥
चित्रन इत-उत चटपटे, कहत लटपटे बात।
× × × × ॥ ५१० ॥

जावक दीयो पगनि में जुवती जाति सिगार।
पुरुष प्रान प्रिय जानियत, मंडन करयो लिलार ॥ ५११ ॥
भली लगै मन भाँवते, करो आभरन आप।
काम निसेनी-सी बनो यह बेनी की छाप ॥ ५१२ ॥
जनो उड़ावत हौ नहीं, पीर न होत सभाग।
ठौर-ठौर या भौंर के दसें अधर दल दाग ॥ ५१३ ॥
झीने झगा बिलोकियत नख छत छबि धर नाह।
भले बिराजत ए नए, चंद्रहार हिए माह ॥ ५१४ ॥
ललित तिहारे गुननि सों अति सनेह सरसाइ।
काम ओज वाके हिए दोनो दीप जगाइ ॥ ५१५ ॥
अतनु तेज तलफै सुतनु, तनु जीवन ज्यों मीन।
नंदलाल वह है रहो चंदकला सम छीन ॥ ५१६ ॥
कहा कहों वाकी दसा, सुनो साँवरे बात।
देखे बिन कैसे जियै, देखत दृग न अघात ॥ ५१७ ॥
धरै कौन विधि धीर वह, सुनो धीर बलबीर।
काम तीर की भीर भरि हियरो भरयो तुनीर ॥ ५१८ ॥
वाके हिय के हनन कों भयो पंचसर बीर।
लाल तुम्हैं बसकरन कों रहे न तरकस तीर ॥ ५१९ ॥
बचन कहत आवत न बनि, चलो लखौ बलि आपु।
प्रबल अनंग प्रताप सों अंग-अंग संतापु ॥ ५२० ॥
सखिन करति उपचार अति, परति बिपति उत रोज।
झुरसत ओज मनोज के परसि उरोज सरोज ॥ ५२१ ॥
जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात।
पापर होत पुरैनि के चंदन-पंकिल पात ॥ ५२२ ॥
घन-सुंदर तो छबि घटा, घनै रही मन छाइ।
लाज चंचला लौं चमकि चंचल जाति बिलाइ ॥ ५२३ ॥
सुंदरि नगर अनंग कौ तेरो अंग अनूप।
सोभित सुबरन बरन में उरज गुरज के रूप ॥ ५२४ ॥
तुम लाइक हम हैं कहाँ, तुम हम तें कमनीय।
मो मन तो तन में बसौ बसति पाइ रमनीय ॥ ५२५ ॥
रंध्रजाल मग है कढ़त तिय तन दीपति पुंज।
झिझिया को सो घट भयौ दिन ही में बन कुंज ॥ ५२६ ॥ रस० उ० नायिका
सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सरस सबाद।
कढ़ी अधर की माधुरी मुरली है करि नाद ॥ ५२७ ॥
अब फिरि आवत है नहीं मो तन जीवन हीन।
तो तन पानिप रूप में, मो मन रूप बिलीन ॥ ५२८ ॥

भई देवता-भाव वह, हौं तुमकों बलि जाउँ।
वाही को सुख रूप मन, वाही को सुख नाउँ॥ ५२९॥ रस० उ० मध्यम-मान
कहै चोर के चोर सो, बातै भौंह चढ़ाइ।
लखें परस्पर गोपिका आपुस मैं मुसिक्याइ॥ ५३०॥
बिसर जात सब दुख सखो मन में आनत जाहि।
अवलोकन पैयत नहीं, अवलोकनि सो ताहि॥ ५३१॥
करियै संग सलोनि के कहौ कौन बिधि सैल।
अलि रोकत मग बास मैं छैल गाउँ मैं गैल॥ ५३२॥
सिला सघन घनस्याम उर तिय कुच सैल कठोर।
मुकुत हार दुरि जात हैं परिरंभन के जोर॥ ५३३॥
लगी रहै हरि हिय हहै करि ईरखा बिसाल।
परिरंभन मैं बल्लभी भली दली बनमाल॥ ५३४॥
अधम अजामिल आदि जे हाँ तिनको हौं राउ।
मोहू पर कीजै मया कान्ह दया-दरियाउ॥ ५३५॥
लसति दान की ज्योति यों बाल बदन मुसिक्यात।
अमल किंजल्क झलक ज्यों कमल प्रफुलित प्रात॥ ५३६॥
मिलि बिसरे हो आपुकौ सुमिरत सुधि न सँभार।
किंकिन कौ उर हार करि करिहौ कहा बिहार॥ ५३७॥
अधर रंग बेसरि मुकत मानिक बानिक लेत।
हँसत बदन दीपति बहुरि होति हीर छबि सेत॥ ५३८॥
अनमिष नैन कहै न कछु, समुझै सुने न कान।
निरखे मोर पखानि के भई पखान समान॥ ५३९॥ रस० उ० जड़ता
चढे जगत दुख दैन कों तो कठोर कुच कुंभ।
निसिचर कुंभ-निकुंभ ज्यों दानव सुंभ निसुंभ॥ ५४०॥
प्रतिबिंबित निज रूप लखि पिय के नैनन माँहि।
मुख चुंबन को प्रेम सों गह्यो कंठ दुहुँ बाँहि॥ ५४१॥
सकल कला कमनीय पिय मिलन मोद अधिकात।
बिलसतिमालतिमुकुलनिसि, निसिमुखमृदुमुसिक्यात॥ ५४२॥
दरकत नहीं बियोग में लगे घनक घन घोर।
तेरे उरजनि मिलि भयौ मेरो हियो कठोर॥ ५४३॥
हरि रानिनि में राधिका, जुवतिन बानी एक।
बर सुहाग अनुराग कौ कीनो बिमल बिबेक॥ ५४४॥
राधा की बेनी लखी, जो हरि गूँदी आप।
चित सुख सागर कों भयो बड़वानल संताप॥ ५४५॥
लसति लाल रुचि वदनि के अमल कपोलन पीक।
रुचि-रुचि परसत मुकुर में मनो अनल की लीक॥ ५४६॥

बाल लाल मुख सौति को, सुन्यो नाम परकास ।
बरषे बादर सैन पर चढ़यो हंस सम हास ॥ ५४७ ॥
कहा रहे निहचिंत ह्वै, लखौ लाल चलि आप ।
प्रलय अनिल सम स्वास हैं, प्रलय अनल सम ताप ॥ ५४८ ॥
चाहत फल तेरो मिलन निसि-बासर वह बाल ।
कुच सिव पूजति, नैन-जल बुंद मुकतमय माल ॥ ५४९ ॥
तरुनि अरुनि एड़ीनि के किरन समूह उदोति ।
बेनो मंडन मुकत के पुंज गुंज दुति होति ॥ ५५० ॥ रस० उ० नायिका
लाल बदन लखि बाल के कुचनि कंप रुचि होति ।
चपल होत चकवा मनो चाहि चंद की जोति ॥ ५५१ ॥ रस० उ० कप
गयो महाउर छूटि यह, रह्यो सहज इक अंग ।
फिरि-फिरि झाँवति है कहा रुचिर चरन के अंग ॥ ५५२ ॥
लसत कोकनद करनि में यों मिहदी के दाग ।
ओस बिंदु परि कै मिट्यो मनो पल्लवनि राग ॥ ५५३ ॥
सुनि इत दै मन मानिनी बिन अपराध रिसानि ।
नेह जनावन कों महा दीप जोति उर आनि ॥ ५५४ ॥ रस० उ० मानवती
सुनि मानिनि अपराध बिन, कहा तजत दृग बारि ।
निसि बासर यह मानियै, हारै राग पखारि ॥ ५५५ ॥
बैठ्यो ओज जगाइ कै मन सिंहासन मारु ।
मनो छपाकर छत्र छबि किरनै चाँवरु चारु ॥ ५५६ ॥
हसनि जोन्ह तेरी लखै, सुनियै नंदकिसोर ।
वाके नैननि होत हैं कुवलय किधौं चकोर ॥ ५५७ ॥
मंडित मृदु मुसक्यानि दुति देखत हरत कलेस ।
ललित लाल तेरो बदन तिय लोचन तारेस ॥ ५५८ ॥
रह्यो हारि बिपरीति में, पिय नैननि मैं आइ ।
चंदमुखी सींचति मनो सुधा-कलस-कुच नाइ ॥ ५५९ ॥
सखी सबै सिंगार सुभ, सजि सुन्दरि के अङ्ग ।
केलि भौन पहुँचाइ कै फिरी लाज के रंग ॥ ५६० ॥
नीबी खोलनि कों गही पिय अनुराग निखोटि ।
हरष नयन जलमय बसन, कियो लाज निज ओटि ॥ ५६१ ॥
आँसु छपा के हरष के सजनी भौंह चढ़ाइ ।
कुच कंचुक रोमंच को क्यों न दुरायो जाइ ॥ ५६२ ॥
है छपाइ भूषननि सों आप गात छपाइ ।
भए चीन्ह उत छपारत, ए नहिं जात छपाइ ॥ ५६३ ॥
रहत नहीं मो जीव यह, चलत तिहारे संग ।
याकों नीकै राखियो पिय बसाई निज अङ्ग ॥ ५६४ ॥

डीठि रूप श्रुति बचन, तनु परस सुखद दिन-राति ।
जीभ अधर-रस, नासिका मुख-सुवास न अघाति ॥ ५६५ ॥
परसत तिय के करनि ते चल्यो पिघिल नवनीत ।
चलनहार परदेस कों कियो न पुनि मन मीत ॥ ५६६ ॥
कहा भयो जो सुरत मैं फूले रूख बिसाल ।
कलकंठी सुख लहति है, प्रफुलित पाइ रसाल ॥ ५६७ ॥
कलकंठी तो नाम हौ, रही मैन सब काल ।
पाइ प्रसाद रसाल कौ बोलन लगी रसाल ॥ ५६८ ॥
भौंर भाँवरें भरत हैं, कोकिल-कुल मँडरात ।
या रसाल की मंजरी सौरभ सुभ सरसात ॥ ५६९ ॥
कासों जाति बखानि है आँब-कली रस चित्त ।
बिसरायौ जिहिं जाति तें चंचरीक कौ चित्त ॥ ५७० ॥
लीनो रस कोकिल कुलनि आँब-कली को झारि ।
तासों मन मान्यो मधुप, सुमना सुमन बिसारि ॥ ५७१ ॥
बहु नायक सों बावरी, मधुर बचन मुख बोलि ।
उतरि जाइगौ रूप-मद कटुक बचन मुख बोलि ॥ ५७२ ॥
कियौ कंत चित चलन कों, तिय हिय भयौ बिषाद ।
बोल्यो चरनायुध सुतौ भयो नखायुध नाद ॥ ५७३ ॥
फूल कपोल मधूक के अधर बिंब फल रत्त ।
रस चाखत पिय बुद्धि बन, क्यों न होय उनमत्त ॥ ५७४ ॥
निरखि तरनि कर निकर कौ, अरु बरनत आलोक ।
होत प्रफुलित सोक तजि सकल कोकनद कोक ॥ ५७५ ॥
पिया अलोकनि मैं निरखि पीक अरुन बर जोति ।
तन दीपति दिन दीप सब, सब सौतिन ही होति ॥ ५७६ ॥
बसन हरयो पिय सुरत मैं, तिय तन जोति समीप ।
केलि-भौन मैं राति [illegible] भए द्यौस के दीप ॥ ५७७ ॥
अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नेक निसंक ।
चपला चपलाई तजी, चंदा तजो कलंक ॥ ५७८ ॥
पिय मुख पंकज मैं परे तिय-दृग-मधुप उड़ाइ ।
अरुन भए रस पान बस राग पराग लगाइ ॥ ५७९ ॥
आनँद आसुन सों रहैं लोचन पूरि रसाल ।
दीनो मानो लाल कौं जल अंजुलि बर बाल ॥ ५८० ॥
बिरह अनल कुमुदिनि हिएँ डारयो जोन्ह बुझाइ ।
कुमुदिनि तें मनो धूम रुचि अलि-कुल चले उड़ाइ ॥ ५८१ ॥
रति बिलास सुक सारिकनि, कहै गुरुनि मैं प्रात ।
लाज ललित गुन गौरि के दुरे गात मैं गात ॥ ५८२ ॥

परी बाल मुख-चंद में बिरह राह की छाँह।
कै दृग दान छुड़ाइयै, सुकृत हेतु करि नाँह ॥ ५८३ ॥
अति अवदात महा मिही कसी उरोज उतंग।
केसरि रंग रँगी लगै अँगिया अंगनि संग ॥ ५८४ ॥
फूले नहीं पलास ए, बन में लगी दँवारि।
साँच कहति सजनीनि तौ, सकै न नैननि जारि ॥ ५८५ ॥
चढ़त भौंर ऊपर लसै पल्लव-लाल रसाल।
मनो सधूम मनोज को ओज-अनल की ज्वाल ॥ ५८६ ॥
बिकच अरुन मेचक बरन, गुंजा बीज समान।
किंसुक मनो मनोज के कालकूट जुत बान ॥ ५८७ ॥
प्रथम कामिजन मननि कों रँगत सुरभि रितु राग।
करत अलंकृत पल्लवनि, पुनि पीछे बन बाग ॥ ५८८ ॥ रस० उ० उद्दीपन
देखि परे नहि दूबरी, सुनिएँ स्याम सुजान।
जानि परे परजंक में अङ्ग आँच अनुमान ॥ ५८९ ॥ रस० उ० व्याधि
सपने हूँ चितवत नहीं और ओर बर बाल।
तू अपने अनुराग के रँग्यो रंग में लाल ॥ ५९० ॥
कहा होति अति हीं निठुर, तू न बिलोकति बाम।
तो सिंगार रस रंग में अङ्ग रँगे निज स्याम ॥ ५९१ ॥
दिसि-दिसि तुम्हैं बिलोकि वह बाल तजति अति सोक।
तो प्रतिबिंबित सहित सब भयो मुकुर नृप लोक ॥ ५९२ ॥
कीनो अति अनुराग सों पीतम आधे रूप।
मनो लिए गुन गौरि तें गुन गौरितें अनूप ॥ ५९३ ॥
जे अंगनि पिय संग में बरखत हुते पियूष।
ते बीछू के डंक-से भए मयंक मयूष ॥ ५९४ ॥ रसराज उ० उद्वेग
जाहि चाहि उहिम कियो, गने न निसि मग-लाभ।
कंत बिकान्यो अनत सो, रह्यो अजस को लाभ ॥ ५९५ ॥
मनमोहन तो सकत क्यों, यों अपराधनि ठानि।
जो न मनावत हेतु यह होति मधुर मुसिक्यानि ॥ ५९६ ॥
पियहि उठावनि पगति तें, क्यों न कौन यह ज्ञान।
दुख सागर में बूड़िहै बाँधि गरे गुरु मान ॥ ५९७ ॥ रसराज उ० मान
जो सजनी गुनगननि बस अति सनेह रस मानि।
भयो दास तब सो लखै, अब उदास अँखियानि ॥ ५९८ ॥
सुनि सजनी वह साँवरो, धरि गुंजनि के हार।
राखतु है हिय आपुनो तो सनेह घनसार ॥ ५९९ ॥
अलि यह अनल अनंग को अङ्ग-अङ्ग अधिकात।
क्यों धौं चंचल प्रान ए पारद लौंन उड़ात ॥ ६०० ॥

कहा लियौ गुरु मान कौ, अति ताती है नेम।
पारद सो उड़ि जाइगो अलि चंचल यह प्रेम ॥ ६०१ ॥ रस० उ० अ० ना०
जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ॥ ६०२ ॥ रस० (उ० स्वकीया)
लसत चारु तारनि सहित, तिय लोचन कमनीय।
चढ़े खंजरीटनि मनो, चंचरीक रमनीय ॥ ६०३ ॥
नींद भार दाबे दृगनि, लसत पीक पर भाग।
कुवलय मुकुलित होत ज्यों, परसि प्रात-रवि-राग ॥ ६०४ ॥
दरपन अमल कपोल मैं, परत पानि प्रतिबिम्ब।
पुनि-पुनि पोंछति पीक भ्रम, देखि आदरस बिम्ब ॥ ६०५ ॥
कलकल कलिका कुल ललक, कोकिल कुल की केलि।
लोलै कला कलोल कै, लाल लाल कंकेलि ॥ ६०६ ॥
जल पूरित घनश्याम रुचि उनई अँखियन आइ।
रही कदम्ब कलीनि की अंग बेलि छबि छाइ ॥ ६०७ ॥
तन दुरबल मनमथ प्रबल, ढिग बसंत पिय दूरि।
अचल विरह चलि-जीव सखि, तनक न सुख दुख भूरि ॥ ६०८ ॥
हर्यो बसन मन भाँवते फिरि किंकिनि गुन तोट।
करै मनो मन भाँवती पुलक पटल-पट ओट ॥ ६०९ ॥
औरनि हू के लसत हैं, अति अनियारे नैन।
मन मानत हेरैं न वे, सो मन लागत पैन ॥ ६१० ॥
है यह गाँव गुलाब बर पुर ठाकुर के गेह।
चलो न आवति बास है, जो देवर की देह ॥ ६११ ॥
पूरित मन की लालसा, जगत जगति गुन साथ।
सुर नर पल्लव अरुन रुचि भोगनाथ के हाथ ॥ ६१२ ॥
कलपद्रुम पल्लव भयो, तूँ अति दानि निदान।
भोगनाथ नर नाथ के हाथ साथ पदि दान ॥ ६१३ ॥
लाल भाल जावक लगे, चठे रसिक सिरताज।
सौति सखी सुन्दर दृगनि रोस हास अरु लाज ॥ ६१४ ॥
लगे निसा अभिसार मैं कंटक तिय के पाइ।
अजों न सरूहै निठुर तुम भये और ही भाइ ॥ ६१५ ॥
मो नैननि नीको लगै, रही लपट यह भाल।
तनक रंगी यह पाग अब लाल करै सब काल ॥ ६१६ ॥
लाल तिहारे चलन की सुनो बाल यह बात।
सरद नदी के सोत लौं प्रति दिन सुखति गात ॥ ६१७ ॥
कियो प्यार मो पर प्रगट, मैं लोनो धरि सीस।
पिय प्यारी के नाम यह दियो मोहि बकसीस ॥ ६१८ ॥

तुरतहि गयो बिलाइ कै हुल्यो परम अभिराम।
नाह रावरे नेह यह, भये गंधरब गाम ॥ ६१९ ॥
हिय अनुराग रँगे लला, वे कछु और अमोल।
ओठनि ही के रंग भए, रँगि रँगि बोलत बोल ॥ ६२० ॥
छोड़ि नेह नँदलाल को, हम नहिं चाहत जोग।
रंग-बाति क्यों लेत हैं रतन पारखी लोग ॥ ६२१ ॥
भोगनाथ नर नाथ के गुन गन बिमल बिसाल।
भिच्छुक सेवत पानि हैं, पग सेवत महिपाल ॥ ६२२ ॥
अद्भुत गावत जगत सब भोगनाथ गुन गाथ।
भूमिपाल सेवत चरन, भिच्छुक सेवत हाथ ॥ ६२३ ॥
एक द्यौस की औधि पिय, अति साहस आरम्भ।
मन सो कहु तरि जात क्यौं भुजनि जलधि को अम्भ ॥ ६२४ ॥
हरद बरन तैं अधिक बढ़ि सरद होत यह मित्र।
सरद जोन्ह मैं मानिनो, दरप न आवत चित्र ॥ ६२५ ॥
जौ वियोग बड़वागि की ज्वाल न नेक जरयो न।
सो सागर अनुराग को सूखत जानि परयो न ॥ ६२६ ॥
ज्यों-ज्यों विषम बियोग की अनल ज्वाल अधिकाइ।
त्यों-त्यों तिय की देह में नेह बढ़त उफिनाइ ॥ ६२७ ॥
बड़वानल पर बढ़ति है विरह ताप तिय अंग।
अति अद्भुत अधिकाति है प्रेम पयोधि तरंग ॥ ६२८ ॥
कहै सबै अनुनय सहित, मधुर बचन चित चाउ।
क्यों राखै अब रोकि सखि, फूट्यो प्रेम तलाउ ॥ ६२९ ॥
अति उतंग उरजनि लसत, चपल मुकत बर हार।
मनो मेरु गिरि शृंग तें गिरत गंग जुगधार ॥ ६३० ॥
सरस बाल को मन लला, पारावार अनूप।
नीरस मानसरोवरो, मारवार के रूप ॥ ६३१ ॥
चढ़त सुन्यो नहिं स्याम मैं और रंग अरु बाल।
अधर राग सों तैं रँगे, अद्भुत तै नँदलाल ॥ ६३२ ॥
एक भए मन दुहुनि के, छुटै न किएँ उपाय।
कहौ सिंधु संभेद को कोऊ न सकत छुड़ाय ॥ ६३३ ॥
हरिन रूप बिरहीन को, जलद जाल बगराइ।
बाँधि-बाँधि बाननि बधत, मार बधक सम आइ ॥ ६३४ ॥
प्रफुली सुमन रसाल के कंध विटप भुज मेलि।
बात निवारी बिरह की, फूल निवारी बेलि ॥ ६३५ ॥
निज स्वरूप प्रभु देत हैं साँच कहत मुनि गोत।
भोगनाथ की रीझिमैं भोगनाथ कवि होत ॥ ६३६ ॥

सरल बान जाने कहा प्रान हरन को बात।
बंक भयंकर धनुष को गुन सिखवत उतपात ॥ ६३७ ॥
कियो भोग सपने रमन परम मुगध मन बाल।
सेतुक देति उराहनो, लई अंक भरि लाल ॥ ६३८ ॥
दियो कान्ह निज कान तें तुम गुलाब को गुच्छ।
गुरूजन में अवतंस करि फिरति लाल करि तुच्छ ॥ ६३९ ॥
सखी सिखावन रावरे, कहो कहा अब होइ।
मोहन तन पानिप गई लाज दृगनि को धोइ ॥ ६४० ॥
लाज गहै नींदहि लहै, निसि-दिन दहैन देह।
सुनौ साँवरे रावरे, तहाँ न दीजै नेह ॥ ६४१ ॥
चढ़ी अटारी बाम वह कियो प्रणाम निखोट।
तरनि करनि तें दृगनि को कर सरोज करि ओट ॥ ६४२ ॥ रस० उ० क्रिया वि०
कढ़त पियूषहु ते मधुर मुख सरसुति के सोत।
भोगनाथ नरनाथ के साथ बसे कवि होत ॥ ६४३ ॥
दिनहू में अति जगमगै बाल बदन बिधु कांति।
लखौ लाल या संधि मैं उदै सैल की भाँति ॥ ६४४ ॥
भोग नाथ मुख-चंद की ओर लखत बरजोर।
करौं कौन विधिमान ए लोचन होत चकोर ॥ ६४५ ॥
अंग करत परिरंभ में सुधा समुद्र विनोद।
सुरत अन्त हू पाइयै, सुरत आदि को मोद ॥ ६४६ ॥
अँसुवनि के परवाह में अति बूड़िबें डराति।
कहा करै नैलानि कों, नींद नहीं नियराति ॥ ६४७ ॥
अनल ज्वाल सी लगति है, बालपने मैं बाल।
जग आरन कों जानियत जोबन मैं जंजाल ॥ ६४८ ॥
पलक-पलक लागे बिना, क्यों करि दृगनि बिनोद।
सोवन देत न सरद मैं बिकच कुमुद आमोद ॥ ६४९ ॥
तेरो सखी सुहाग बर, जानत हैं सब लोक।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन असोक ॥ ६५० ॥
प्रीतम पिया पियाइ कै, मुख मुख सुधा अनूप।
पुलक मुकुल केसर पटल, करि केसरि अनुरूप ॥ ६५१ ॥
पिय के मन मन भाँवती, और भाव नहिं फूल।
कुच परिरंभनसों तरुनि, करि कुरबक तरुतूल ॥ ६५२ ॥
करि चख चारु चितौनि सों, सुमन फलित अनुकूल।
तरुन तिलोकी तिलक कौ, तरुनि तिलक तर तूल ॥ ६५३ ॥
चितवनि कुच परिरंभ मुख, सिद्ध करत हति केलि।
कियो तिलक कर बक जिलित लाल बकुल कंकेलि ॥ ६५४ ॥

होत जगत में सुजन कौ दुरजन रोकन हार।
केतक, कमल, गुलाब के कंटकमय परिहार॥ ६५५॥
कछु न गनति दुरजननि लखि, लेहि दृगनि सुख देति।
निवरि कंटकनि मधुकरो रस गुलाब कौ लेति॥ ६५६॥
फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न।
मनो बुलावति मधुप कौं दै चुटकी की सैन॥ ६५७॥
भ्रमत रहत निस द्यौस हू करी मधुकरी तूल।
कित वह डारो सो हितू कित बकिनव कौ फूल॥ ६५८॥
मिले मोहि अति प्रेम सों सटपटात उठि प्रात।
छाड़ि आपनों भौन तुम भौन कौन के जात॥ ६५९॥
हियो जलायो बालको अनल ओज निज मैन।
तापर तेरे देत दुख लाल सलौने नैन॥ ६६०॥
हरि हिय तें रति रंग में गिरे गुंज गुन-टूटि।
मने स्याम घन तें परे इंद्रगोपिगन छुटि॥ ६६१॥
करति रसोई बाल वह मगन तिहारे ध्यान।
जरति आगि निजु अँगुरी, होत नहीं मन ज्ञान॥ ६६२॥
प्रथम अरध छोटी लगी, पुनि अति लगी बिसाल।
बामन कैसी देह निसि भई बाल को लाल॥ ६६३॥
करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष।
नाह सनेह समुद्र में, बूड़ि जात सब दोष॥ ६६४॥
बिरह तचे तिय-कुचनि लौं अँसुवा सकत न आइ।
गिरि उड़गन ज्यों गगन ते बीचहि जात बिलाइ॥ ६६५॥
स्याम तिहारे बिरह दृग करत सफजल रोज।
मनो बढ़ावत प्रेम सों, सूर सुताहिं सरोज॥ ६६६॥
छाँह बिना ज्यों जेठ-रवि, ज्यों बिन औषधि रोग।
ज्यों बिन पानी प्यास, यों तेरो दुसह वियोग॥ ६६७॥
मो दृग कंजनि को दियो दरपनु मोद निदानु।
भोगनाथ मन भाँवते भए भोर के भानु॥ ६६८॥
भोगनाथ नर नाथ को बदन इन्दु अरविन्दु।
करत कवित्तनि करत बर मधुर सुधा मधु बिन्दु॥ ६६९॥
कमल मुखनि कुबलय दृगनि, कुमुद मधुर मुसक्यानि।
लखौ लाल ऊपर महल कमलाकर सुख दानि॥ ६७०॥
तब लौं नहिं जानति दृगनि, जब लौं नहीं उदोति।
बिहसन छीर मिठास मय मग चंदकी जोति॥ ६७१॥
जब-जब तेरो बाल के चित्त चढ़ै मुसिक्यानि।
अधर कपोल बिलोचननि तब दृग झलकति आनि॥ ६७२॥

बासर में रवि हा तहीं जामे तिरखत भौंह।
सुनो लाल वा प्रेम के परी आइ बिच सौंह॥ ६७३॥
कपट बचन अपराध तें निपट अधिक सुखदानि।
जरे अंग में संकु ज्यों होत बिथा की खानि॥ ६७४॥
लाल तिहारे बिरह नित छीन बाल के अंग।
जानति हों चाहति दियो निज सायुज्य अनंग॥ ६७५॥
बाल अलप जीवन भई गीषम सरित सरूप।
अब रस परिपूरन करौ तुम घनश्याम अनूप॥ ६७६॥
मुख बिधु छिन-छिन यों रहै एक यौस ही माँझ।
पून्यो हुती प्रभात अब होति अमावस साँझ॥ ६७७॥
कहा कहै रूखे बचन, सातिक भाव अपार।
तरुनि छपायो चहति तू, तिनको आट पहार॥ ६७८॥
तेरो मृदु मुसक्यानि लखि सरद जोन्ह सम रंग।
बाढ़त मोद पयोधि के दृगनि तरंग उतंग॥ ६७९॥
अँसुवनि सों छाए रहै लाल बाल के नैन।
तब तें तो दरसन छुट्यो, तब तें कछू लखै न॥ ६८०॥
बाल गहति दसननि लसत लाल अधर बर बिंब।
मनो दसन अरबिंद है सरद इंदु को बिंब॥ ६८१॥
सखि छपाव यह भाव अब चाहत भयो जनाउ।
अँखिया में उर की उमगि रह्यो तनोन तनाउ॥ ६८२॥
अंजन जुत अँसुवा ढरत, लोचन मीन समान।
लसत नील मनि दंड जुत, मनो मनोज निसान॥ ६८३॥
सेतु बिंदु चंदन सहित गिरत नाल ते टूटि।
बिधु उर तें जनु बिधु बधू परति भानु कर छूटि॥ ६८४॥
जाके बर बरजोर यह करत सकल बन ऐनि।
बरछी मनो मनोज की तिरछी चारु चितैनि॥ ६८५॥
डीठि परस्पर दुहुनि की दई बदन जनु चैन।
तिय मुख में पिय नैन हैं, पिय मुख में तिय नैन॥ ६८६॥
दुहूँ ओर मुख दुहुनि के बिधु लौं करत प्रकास।
लाज-अँध्यारी दुहुनि की कहूँ न पावति बास॥ ६८७॥
कौन भाँति कै बरनिये सुन्दरता नँद नन्द।
वाके मुख की भीख लै भयो ज्योति मय चन्द॥ ६८८॥
दिन में सुभग सरोज हैं, निसि में सुन्दर इन्दु।
द्यौस राति हूँ चारु अति वाके बदन गोबिन्द॥ ६८९॥
दियो दरस कीनो भली मोहन नन्दकुमार।
भलो बन्यो मुकतानि को अंग अंग सिंगार॥ ६९०॥

लसत रतन दरपन बिमल तो कपोल बस नारि।
सनमुख रहि जो भाल में लीजै तिलक सँवारि ॥ ६९१ ॥
सुनत सदा गुरु बचन हित, रहत बिबुधगन साथ।
भोगनाथ यह जानियत, सदा भूमि सुर नाथ ॥ ६९२ ॥
सरनागत पालक महा, दान जुद्ध अति धीर।
भोगनाथ नरनाथ यह पग्यो रहत रस बीर ॥ ६९३ ॥
भोगनाथ नरनाथ के लोचन लसत बिसाल।
रहत गरीबो गहि दुहुनि, नीबो गहि बरबाल ॥ ६९४ ॥
जगत जगत दोऊ भुजा जग्य-रूप के रूप।
भोगनाथ नरनाथ की भौंह निहारत रूप ॥ ६९५ ॥
अब लौं सजनी बोलियै ये गरबीले बैन।
जब लगि तुम निरखे नहीं भोगनाथ के नैन ॥ ६९६ ॥
तुरग अरब ऐराक के मनि आभरन अनूप।
भोगनाथ सों भीख लै भए भिखारी भूप ॥ ६९७ ॥
भोगनाथ नरनाथ की रीझ्यो खीझ अनूप।
होत भिखारी भूप है, भूप भिखारी रूप ॥ ६९८ ॥
मुरलीधर गिरिधरन प्रभु, पीतांबर घनस्याम।
बकी बिदारन कंस अरि, चीर हरन अभिराम ॥ ६९९ ॥
पीत झंगुलिया पहिरि कै लाल लकुटिया हाथ।
धूरि भरे खेलत रहे ब्रजबासिन ब्रजनाथ ॥ ७०० ॥

आशीर्वाद और प्रार्थना

तिरछी चितवनि स्याम की लसति राधिका ओर।
भोगनाथ को दीजिये यह मनसुख बरजोर ॥ ७०१ ॥
मेरी मति में राम हैं, कवि मेरे मतिराम।
चित मेरो आराम में, चित मेरे आराम ॥ ७०२ ॥

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ

अमरुक शतक—अमरुक—सं० श्रीऋषीश्वर नाथ भट्ट, संवत् १९७१ वि०

अनर्घराघव, मुरारि

आर्यासप्तशती,—गोवर्धनाचार्य, काव्यमाला सिरीज़, सन् १८९५ ई०

काव्यमीमांसा, राजशेखर—बिहार राष्ट्र भाषा, पटना, प्र० स०

काव्यप्रकाश, मम्मट—सं० डा० सत्यव्रत सिंह, सन् १९५५ ई०

काव्यालंकार, भामह

कविकण्ठाभरण, क्षेमेन्द्र

गीतगोविन्द, जयदेव

काव्यालकार सूत्र, वामन—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० सं०

कामसूत्र, वात्स्यायन—प्र० भा०, प्र० कल्याण बम्बई, सम्वत् १९९१

कादम्बरी, बाणभट्ट

किरातार्जुनीयम्, भारवि—चौखम्बा-संस्कृत सिरीज़, सन् १९५२ ई०

चन्द्रालोक, जयदेव

ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० सं०

नाट्यशास्त्र, भरतमुनि—'काव्यमाला सिरीज़' सन् १९४३ ई०

नैषध चरित, श्रीहर्ष—चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, सन् १९५४ ई०

बाल रामायण, राजशेखर

महावीरचरित, भवभूति

रत्नावली, हर्षवर्धन

रघुवंश, कालिदास—कालिदास ग्रन्थावली, विक्रम परिषद, काशी, प्र० सं०

रामायण, वाल्मीकि

रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ—काव्यमाला सिरीज़, सन् १९३४ ई०

वैराग्य शतक, भर्तृहरि

विक्रमोर्वशी, कालिदास—कालिदास ग्रन्थावली, विक्रम परिषद, काशी, प्र० सं०

प्रसन्न राघव,

साहित्य दर्पण, विश्वनाथ—विमलाटीका, द्वि० सं०

शिशुपाल वध, माघ—चौखम्बा विद्या भवन, सन् १९५५ ई०

शाकुन्तल, कालिदास—कालिदास ग्रन्थावली, विक्रम परिषद, काशी, प्र० सं०

हनुमन्नाटक, हनुमत

हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० सं०

हिन्दी ग्रन्थ

अलंकार रत्न, व्रजरत्नदास—प्र० सं०
आधुनिक हिन्दी
साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्ण लाल—तृ० सं०
आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित—प्र० सं०
कविकीर्ति कलानिधि, नकछेद तिवारी—प्र० सं०
कविवर बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर—प्र० सं०
कुमायूँ का इतिहास, बद्रीदत्त पांडेय—प्र० सं०
कविप्रिया, केशवदास—सं० लाला भगवानदीन, सम्वत् १९८२ वि०
कविकल्पतरु, चिन्तामणि
काव्यनिर्णय, भिखारीदास
कवित्त रत्नाकर, सेनापति
केशव ग्रन्थावली, खण्ड १, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—प्र० सं०
गीतावली, तुलसीदास
चिन्तामणि (भाग १, २) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—प्र० सं०
जहाँगीर का आत्मचरित्र, अनु० व्रजरत्नदास—प्र० सं०
तुलसीदास और उनका युग, डा० राजपति दीक्षित—प्र० सं०
प्राचीन भारत का कला विलास, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
प्राचीन भारत की जनसत्ता और संस्कृति, बेनीप्रसाद वाजपेयी
पद्माभरण, पद्माकर
पद्माकर पंचामृत, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
पृथ्वीराज रासो चन्दवरदायी,
व्रजभाषा साहित्य का
नायिका भेद, प्रभुदयाल मित्तल
बिहारी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
बिहारी की वाग्विभूति, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
बरवै नायिकाभेद, रहीम खानखाना
वीर सतसई, सूर्यमल
बेलिक्रिसन रुक्मिनी री पृथ्वीराज सिंह
भवानी विलास, देव
भाव विलास, देव
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र—प्र० सं०
भारतीय साहित्यशास्त्र, पं० बलदेव उपाध्याय—प्र० खं०, तृ० सं०
भारत का इतिहास (भाग २) सत्यकेतु विद्यालंकार—प्र० सं०
भाषा भूषण, जसवंत सिंह

भारत की चित्रकला, रायकृष्ण दास—प्र० सं०
भूषण, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
भूषण ग्रन्थावली, सं० रामनरेश त्रिपाठी—च० सं०
मतिराम ग्रंथावली, सं० कृष्णबिहारी मिश्र—तृ० सं०
महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह—प्र० सं०
मध्यकालीन भारत, डा० अवधबिहारी पांडेय—प्र० सं०
मिश्रबन्धु विनोद (भाग २) मिश्रबन्धु—द्वि० सं०
रस मंजरी, नंददास
रसिकप्रिया, केशवदास
रहीम रत्नावली, सं० मायाशंकर याज्ञिक—प्र० सं०
रामचन्द्रिका, केशवदास
रीतिकाव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र—प्र० सं०
रोमांटिक साहित्य शास्त्र, डा० देवराज उपाध्याय—प्र० सं०
विज्ञान गीता, केशवदास
विद्यापति पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी—प्र० सं०
शब्द रसायन, देव
शिल्प कथा, नंदलाल बसु—प्र० सं०
शिवसिंह 'सरोज' शिवसिंह सेंगर—प्र० सं०
सतसई सप्तक, सं० श्यामसुन्दरदास
संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर—प्र० सं०
सांस्कृतिक भारत, भगवतशरण उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय—च० संस्करण
साहित्य का मर्म, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
सूर सागर, सं० नंददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० सभा, काशी
सूर और उनका साहित्य, डा० हरिवंशलाल—प्र० सं०
शृंगार निर्णय, भिखारीदास
हमारा ग्राम साहित्य, पं० रामनरेश त्रिपाठी—प्र० सं०
हित तरंगिणी, कृपाराम
हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल—ना० प्र० स० सं० २००३
हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र—प्र० सं०
हिन्दी रीति साहित्य, डा० भगीरथ मिश्र—प्र० सं०
हिन्दी नवरत्न (संक्षिप्त) मिश्रबन्धु—च० सं०, पं० सं०
हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
हिन्दी का प्रथम इतिहास, डा० जार्जग्रियर्सन, अनु डा० किशोरीलाल गुप्त प्र० सं०

हिन्दुई साहित्य का इतिहास, गार्सा द तासी, अनु० डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—प्र० सं०

हिन्दी अलंकार साहित्य, ओमप्रकाश—प्र० सं०

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—द्वि० सं०

अंग्रेजी ग्रन्थ

सम कन्सेप्ट्स आव द अलंकार शास्त्र, वी० राघवन, प्र० सं०

नायक नायिका भेद, डा० राकेश गुप्त, (अप्रकाशित)

हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स, एस० के० डे०, प्र० सं०

इन्ट्रोडक्शन टु साहित्य दर्पण, पी० वी० काणे—प्र० सं०

ल्योर्स आव इंडिया, संतोष कुमार चटर्जी—प्र० सं०

पत्र-पत्रिकाएँ

माधुरी, सं० रूपनारायण पांडेय, जुलाई, १९२४ ई०

सरस्वती, सं० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, जुलाई भाग २१, खंड० २ ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९८०

हिन्दी खोज रिपोर्ट, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९००, १९०१, १९०३, १९०६–१९०९, १९०९–१९११, १९१२, १९१३, १९१४, १९२३, १९२४, १९२५ ।